Samaj Foundation Chennai

गुरुकुल–पत्रिका

1993

G. K. V. Lib Hardwar

Gurukul Kangri Co

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

150796

PAYMENT PROCESSED
Vide Bill No 989 Dated 25/8/98
Anis Book Binder

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुरुकुल-पत्रिका

मासिक शोध पत्रिका

MONTHLY RESEARCH MAGAZINE

१९९३

सम्पादक

डा० जयदेव वेदालंकार

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुरुकुल पत्रिका

मासिक शोध पत्रिका

MONTHLY RESEARCH MAGAZINE

सम्पादक :

डा० जयदेव वेदालंकार

न्यायाचार्य, पी-एच०डी, डी०लिट्०

सीनियर प्रोफेसर—दर्शन विभाग

एवं

अध्यक्ष (डीन) – प्राच्य विद्या संकाय

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार

चैत्र–वैशाख	वर्ष-४४	मार्च १९९३

मूल्य— ५ रुपये मात्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्पादक मण्डल :

मुख्य संरक्षक :	**प्रो० सुभाष विद्यालंकार** कुलपति
संरक्षक :	**प्रो० रामप्रसाद वेदालंकार** आचार्य एवं प्रो-वाइचान्सलर
परामर्शदाता :	**डा० विष्णुदत्त राकेश** प्रोफेसर—हिन्दी विभाग
सह सम्पादक :	**डा० विजयपाल शास्त्री** रीडर एवं अध्यक्ष—दर्शन विभाग
व्यवसाय प्रबन्धक :	**डा० जगदीश विद्यालंकार** पुस्तकालयाध्यक्ष
प्रबन्धक :	**श्री हंसराज जोशी**
मूल्य :	२५ रुपये (वार्षिक)
प्रकाशक :	**डा० भारत भूषण विद्यालंकार** कुलसचिव गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

मुद्रक:— किरण प्रिंटिंग प्रैस, निकट गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी, हरिद्वार ☎ : ४२५६७५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय सूची :-

क्रमांक	विषय का नाम	लेखक का नाम	पृष्ठ संख्या
१.	श्रुति सुधा		
२.	दर्शन दिग्दर्शन	प्रो० भद्रसेन वेद दर्शनाचार्य होशियारपुर	१–७
३.	धर्म का तत्त्व अर्थात् धर्म क्या है	श्री स्वामी वेदमुनि परिव्राजक अध्यक्ष वैदिक संस्थान, नजीबाबाद	८–१७
४.	वैदिककाल में धार्मिक सहिष्णुता	डा० राकेश कुमार शर्मा प्रा०भा० इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय	१८–२६
५.	मैथिलीशरण गुप्त और खड़ी बोली	डा० भगवान् देव पाण्डेय प्रवक्ता हिन्दी विभाग गु० कां० वि० विद्यालय	२७-३१
६.	वैदिक युग में शूद्रों का वेदाध्ययन	डा० कान्ति लाल दवे रीडर स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग सरदार पटेल विश्वविद्यालय गुजरात	३२–३५
७.	गुरु जम्भेश्वर वाणी में व्यक्तिगत नैतिकता	रोहताश कुमार सुचार दर्शन विभाग कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय हरियाणा	३६–४०
८.	तुष्टि मोंक्षबाधिका	डा० विजयपाल शास्त्री रीडर एवं अध्यक्ष दर्शन विभाग गु०कां० विश्वविद्यालय	४१–४४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रुति सुधा

चित्तिमचित्ति चिनवदिव विदवान्पृष्ठेव वीता वृजिना च भवीन्। राये च नः स्वपत्याय देव दितिं च रास्वादितिमुरुष्य ।।

पद पाठ— चितिम्। अचितिम्। चिनवत्। वि। विद्वान्। पृष्ठाऽइंव। वीता वृजिना। च। मतीन्।
राये। च। नः। सुऽअपत्यायं। देव।
दितिम्। च। रास्वं। अदितिम्। उरुष्य।

अन्वय— विद्वान्। वीता वृजिना पृष्ठा इव चित्तिम् अचित्तिम् वि चिनवत्। मर्तान् च। देव। न रामे सु अपत्याय च दितिम् रास्व। अदितिम् च उरुष्म।

शब्दार्थ— पुण्य रुप कर्म, ज्ञान। अचित्तिम् – पाप रुप कर्म, अज्ञान। विचिनवत् पृथक करे। विद्वान् - जानने वाला। पृष्ठा इव - पीठों के समान। वीता - सुन्दर चढ़ने योग्य। वृजिना - दुर्वह न चढ़ने योग्य। मर्तान् - मनुष्यों को। रावे - धन के लिये। न – हमारे। सु अपत्याय - उत्तम सन्तान के लिये। देव - हे दीप्तिमान् अग्ने। दितिम् - दान देने वाले को। रास्व - दो। अदितिम् - दान न देने व ले से। उरुष्म - रक्षा करो।

प्रार्थना— प्राणियो के पापों और पुण्यों को जानने वाला वह अग्नि देवता जिस प्रकार अश्वशाला का रक्षक घोड़ों की सुन्दर चढ़ने योग्य और दुर्वह न चढ़ने योग्य पीठों को पृथक् - पृथक् करे और पुण्य कर्मा तथा पापी मनुष्यों को पृथक् पृथक् करे। दीप्तिमान् अग्ने ! तुम हमारे धन के लिये और उत्तम सन्तान के लिये होओ अर्थात् हमें धन और उत्तम सन्तान प्रदान करो। हमें दान देने वाला मनुष्य दो और दान न देने वाले से हमारी रक्षा करो।

(मण्डल ४ सूक्त- २, मन्त्र-११)

(ऋग्वेद से साभार)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आधुनिक युग और वेद

मानवीय मूल्य अथवा जीवन मूल्यों का तात्पर्य है जीवन के प्रति मौलिक दृष्टिकोण। आज तक मानव शास्त्रियों के लिये जीवन एक पहेली बनी हुआ है। मनुष्य इस संसार में जन्म लेता है और कुछ वर्षों के पश्चात् मृत्यु का ग्रास बन कर चला जाता है।

आज के युग में विभिन्न सम्प्रदाय और विज्ञान के बीच संघर्ष चल रहा है कि जीवन की यथार्थता क्या है? विज्ञान के आविष्कारों ने हमें यह मानने के लिये बाध्य कर दिया है कि जीवव की यथार्थता का दूसरा पहलू भी है। केवल धार्मिक मर्यादायें ही नहीं अपितु जीवन के जीने का दृष्टिकोण आर्थिक और सामाजिक आवश्यकताओं पर भी आधारित है। परिणामतः हमारा आज का जीवन मूल्य बहुत कुछ विज्ञान की देन है। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या विज्ञान अपनी समस्त उपलब्धियों के होते हुये भी हमारे जीवन मूल्य निर्धारित करने में सक्षम है।

यह तो ठीक है कि विज्ञान के प्रभाव और आर्थिक दृष्टिकोण से अपनाये गये जीवन मूल्यों को अपनाने के आलोक मे मानवता ने अपने ऊपर लदे हुये परम्परागत विश्वासों तथा तज्जन्य शिथिलता मृत भार) को उतार फेंका और प्रगति का मार्ग अपनाया। मनुष्य ने जीवन के साधनों को बहुत अधिक अभिवृद्धि कर ली है परन्तु इसके दुष्परिणाम भी कुछ कम नहीं है। इसके द्वारा एक मात्र जैव मूल्यों को ही प्रामाणिक मानने के कारण जीवन के इतर मूल्यों का समाज में धीरे-धीरे लोप सा हो रहा है। सहयोगियों के मध्य पारस्परिक सहयोग और प्रेम के स्थान पर प्रतियोगिता और कटुता बढ़ती जा रही है। हमें किसी न किसी प्रकार से सबसे आगे बढ़ना है इसके लिये हम दूसरों को भ्रमित कर सकते हैं, धक्का दे सकते हैं और फिर उनके ऊपर पैर रखकर शीघ्र प्रगति के लिये छलांग मार सकते हैं। ओलम्पिक दौड़ में तो कुछ पर्यवेक्षक होते हैं जो स्थिरता के साथ सद् और असद् आचरण का विवेक करते हैं परन्तु जीवन की आज की दौड़ में तो जो पर्यवेक्षक है वे भी स्वयं अपनी दौड़ लगा रहे हैं। क्या व्यवसाय क्या सेवायें क्या संस्थायें, क्या फैक्ट्री में कार्यरत यूनियनें क्या राष्ट्रीय व्यवस्थायें, क्या अन्तर्राष्ट्रीय गतिविधियाँ सर्वत्र आपाधापी लगी हुई है। फैक्ट्री की यूनियनों के चुनाव से लेकर राष्ट्रीय अन्तर्राष्ट्रीय चुनावों की मर्यादायें नियम केवल पुरातन उपदेश प्रतीत होने लगे हैं। हाहाकार चीत्कार एक दूसरे को मरवाना/ राजनीति की दौड़ जैव मूल्यों को भी पीछे धकेल कर जीवन का कोई भी मूल्य नहीं होता, न कोई संविधान, न नियम एवं प्रतिबकता कुछ भी तो नहीं रहा सा प्राप्त होता है। केवल सफलता प्राप्त करना ही मूल्य अवशिष्ट सा रहा प्रतीत होता है। इस प्रगति का गन्तव्य क्या है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जब आधुनिक मानव शास्त्री विश्व को विनाश के कगार पर खड़ा हुआ सा पाता है तो उसे जीवनधारा को बदलने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी है। यही कारण है कि जिस समय क्या व्यक्ति क्या राष्ट्र सभी इस धुन में लगे हुये हैं कि जेब कैसे भरी जाय। राष्ट्रों की कूटनीति आज बहुत कुछ इसी के चारों ओर चक्कर काट रही है। हम किस प्रकार समस्त विश्व में अपने माल का विज्ञापन में शोर मचा दें कि सभी लोग हमारा माल खरीदें। हम किन – किन देशों को किन देशों से लड़वा दें कि वे हमसे लड़ाई के अस्त्र – शस्त्र अधिक से अधिक खरीदें।

इस प्रकार के नाना विधि प्रयास हमारी राजनीति तथा अर्थ नीति के ध्रुवीय विन्दु बन गये है। तो भी इस अवस्था में विश्व मंच पर यह विचार उभर कर ऊपर आया है कि आणविक हथियार होड़ से विश्व विनाश के कगार पर जा खड़ा हुआ है हमें आणविक हथियारों को कम करना चाहिये, यह तथ्य इस बात को मानने को विवश करता है कि जैव मूल्यों की अपेक्षा मानवीय मूल्यों का समाज निर्माण में तथा समाज की संरचना में अधिक महत्व है। जैसे राष्ट्र को एक संविधान की आवश्यकता होती है, समाज को सुचारू रूप में चलाने के लिये राज्य नियम बनाते हैं इसी प्रकार मनुष्य एक व्यक्ति से लेकर समाज को समस्त वर्गों अपने ही नियमों से अपने को प्रतिबद्धित करना होगा। आओ विज्ञान के सुख का समुचित उपभोग करने के लिये एवं पूर्ण रूपेण सुखी जीवन के लिये वेदों की ओर भाग चलें और देखे वेद जिसको हम आदि काव्य अथवा ग्रन्थ कहते हैं वे आज भी प्रासगिक हैं अथवा नहीं ? क्या वे आज भी हमसे आधुनिक हैं। वेदों को भारतीय ही नहीं अपितु विश्व साहित्य का प्रथम साहित्य माना जाता है।

वेदों की शिक्षायें जीवन के प्रारम्भिक काल से अर्थात् बाल्य काल से ही जीवन मूल्यों का निधारण करती हैं। इसके लिये मनुष्य जीवन को चार विभागों में विभाजित किया था। वे विभाग है ब्रह्मचर्य अर्थात् निर्माण – अवस्था। दूसरी अवस्था - गृहस्थ आश्रम अर्थात् संग्रहावस्था। तीसरो अवस्था है वानप्रस्थाश्रम अर्थात् जीवन की न्यूनताओं को दूर करके त्याग की स्थिति प्राप्त करना। चतुर्थ अवस्था सन्यास की थी जिसमें विरक्ति भाव उत्पन्न करता था। आधुनिक मनों विज्ञान में वाटसन का व्यवहारवाद सबसे अधिक पर्यावरण पर जोर देता है। वास्तव में जैसे पर्यावरण में मनुष्य रहता है वैसा ही उसका निर्माण भी होता है। यदि हम चाहते हैं कि हमारे औद्योगिक संस्थान के समीप रहने वाले नगर के लोगों के मन में यह विचार कदापि नहीं आयेगा कि रात को वहां जाने पर कोई क़त्ल भी कर सकता है। अतः मानवीय मूल्यों की सबसे अधिक आवश्यकता औद्योगिक संस्थानों में ही है। यहां पर शान्ति एवं सौहार्दपूर्ण वातावरण होगा तो उत्पादन अधिक होगा, उत्पादन अधिक होने पर राष्ट्रीय आर्थिक समस्या का समाधान स्वतः हो जायेगा। यह तभी सम्भव होगा। जब हम ऋग्वेद के संगठन सूक्त को औद्योगिक संस्थानों का मूल्य आधार बनालें।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
देवाभागं यथापूर्वे संजानाना उपासते ।।
समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सहचित्तमेषाम्
समानं मन्त्रः मभिमन्त्रयेवः समानेन वोहविवाजुहोमि ।।
समानीवः आकूतिः समानाहृदयानिवः ।
समानमस्तु वो मनो यथाव सुसहासति ।।

हम मिलकर चले, मिलकर एक होकर बोले पूर्व विद्वानों की तरह एक होकर चलें अर्थात् कर्मचारी अर्थात् मजदूरों के बीच का मार्ग दोनों का एक हो । इसी प्रकार यहां कार्य करने वाले मजदूर और अधिकारियों के विचार, समिति, मन तथा त्याग की भावना दोनों में समान रूप से हो, अधिकारीगण धरणा देकर मजदूरों को न ठगें अर्थात् किसी भी तरह उनका शोषण न हो इसी प्रकार मजदूर अपने कर्तव्यों का ईमानदारी से पालन करें ।

शिक्षा संस्थानों में यह मानवीय गुणों की रक्षा तथा बोध कराने वालों को शिक्षा पाठ्यक्रम का अंग बनाना चाहिये । अन्यथा इंग्लैण्ड को तरह यन्त्रों पर मनुष्य का मूल्य कागज और लकड़ी के समान हो जायेगा । (दृष्टान्त)

वैदिक साहित्य में ऐसे समाज संरचना का वर्णन किया गया है, यदि इस भूमि पर वैसा समाज बन सके तो धरा पर स्वर्ग उतर आयेगा । उपनिषदों में विश्व-विद्यालयों एवं शिक्षणालयो में एक वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक पर्यावरण बनाने पर जोर दिया है । प्राचीन काल में स्वभाव और गुण भेद से चार वर्णों की कल्पना कर्मों के अनुसार की गई थी न कि जाति के आधार पर । उनका आधार अज्ञान को दूर कर ज्ञान का प्रसार करने वाले अर्थात् निरक्षर को साक्षर बनाने वाले को ब्राह्मण अन्याय के विरूद्ध संघर्ष करने वाले को क्षत्रिय और कृषि व्यापार से देश की समृद्धि शाली बनाने वालों को वैश्य तथा जो पढ़ाने पर भी पढ़ न सके उसे सेवा का व्रत धारण करने के कारण शूद्र कहा जाता था । इसमें वर्ण श्रेष्ठता व शूद्रता सूचक न होकर कर्म का सूचक होता था ।

वेद में आदर्श पत्नी और आदर्श परिवार की संरचना का विधान भी विस्तृत रूप में किया है । मनुष्य चाहे, मजदूर के रूप में हो, प्रशासक के रूप में परिवार के रूप में, राजा तथा राष्ट्र के रूप में जीवन की चाहे कोई भी धारा क्यों न हो सभी स्थितियां और सभी अवस्थाओ में मूल्यों कीं निर्धारित सीमाओं में बन्ध कर रहना होगा ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दर्शन दिग्दर्शन

प्रा. भद्रसेन, वेद–दर्शनाचार्य (होशियारपुर) १४६०२१

मनुष्य एक विचारशील प्राणी है, इसीलिए इस को मनुष्य मानव कहते हैं। जिसका अर्थ है – सोचने वाला, इनकी मूल धातु है–मन, जो कि अवबोधन – ज्ञान, समझ के मूल बिन्दु को प्रकट करती है। अन्य प्राणियों की अपेक्षा यही मानव की उत्कृष्टता का एक आधार है और इसी के आधार पर ही मनुष्य ने अनेक क्षेत्रों में प्रगति की है। आंख खोलते ही मानव शिशु अपने चारों ओर की वस्तुओं को घूर–घूर कर अपनी आंखों से देखता है। बोलना सीखते ही अपनी जिज्ञासा को शान्त करने के लिए प्रश्नों की झड़ी लगा देता है। वह अपने चारों अर, विद्यमान वस्तुओं के ज्ञान और यथा समय अपने मन में उभरने वाली आशंकाओं की निवृत्ति के लिए सदा ही प्रयत्नशील रहता है।

मनुष्य जैसे - जैसे शारीरिक तथा मानसिक प्रगति करता है. तब अपनी योग्यता शिक्षा, रुचि के अनुरुप कुछ न कुछ सोचता है। जाग्रत अवस्था का ऐसा कोई विरला ही समय होता है. जब कोई किसी सोच एवं चाहना से शून्य हो। सामान्य स्थिति में जहां अन्य अनेक तरह के विचार उभरते है, वहां कभी - कभी मन में अनेक तरह के विचार उभरते हैं वहां कभी - कभी मन में अनेक तरह के गम्भीर विचार भी उठते हैं। इन उभरने वाली जिज्ञासाओं में जहां संसारी बातें होती हैं, तो वहां कभी जीवन और जगत की जिज्ञासायें भी। क्योंकि मानव की यह एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह आंख मूंद कर किसी बात को नहीं मानना चाहता। बिना समझे - बूझे किसी परिणाम पर पहुंचना नहीं चाहता। मनुष्य की मानव शीलता, वैज्ञानिक प्रवृत्ति की यह एक स्वाभाविक मांग है।

जब एक व्यक्ति सांसारिक चिन्ताओं से दूर होकर एकान्त - शान्त स्थिति में होता है, तो वह अपने चारों ओर फैले हुए जगत तथा अपने सम्बन्ध में सोचता है। गहराई से सोचते - सोचते उस के सामने अनेक प्रश्न पैदा होते हैं कि इस संसार का स्वरुप क्या है ? यह कब, कैसे, क्यों बना ? इसके मूलतत्त्व क्या है ? यदि इसके बनाने वाला कोई है, तो उस कर्ता का स्वरूप क्या है ? वह इसको कैसे बनाता है और उसने इसको कब, क्यों बनाया ?

इस प्रश्नमाला के साथ अपने सम्बन्ध में भी जिज्ञासा उभरती है, कि मैं कौन हूं ? इस अपार संसार में कब, क्यों, कैसे, इस रूप में आया हूं ? यहां अपनी इच्छा से

१– मत्वाकर्माणि सी० यन्ति, मनस्यमानेन सृष्टाः, मनस्यति पुनर्मनस्वी भावे, मनोरपत्यं, मनुषो वा निरुक्त ३.२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आया हूं या परवश होकर ? यहां आने का मेरा उद्देश्य क्या है। मैं सर्वप्रथम स्वतन्त्र हूं या परवश हूं। यह जीवन, सुख - दुख क्या है। इस संसार इस के कर्ता और मेरा परस्पर क्या सम्बन्ध है। इन प्रश्नों के चिन्तन, मनन, विवेचन का नाम ही दर्शन है। संसार में प्रत्येक काल के मनीषी के मन में ये प्रश्न उभरे हैं और उन्होंने अपनी - अपनी योग्यता, रुचि, सुविधा के अनुरुप इन प्रश्नों का उत्तर खोजने का हर सम्भव प्रयास किया।

दर्शन शब्द सामान्य रूप से देखने के अर्थ में प्रसिद्ध है। वैसे देखने के साधन के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। दर्शन शब्द दृशिर (प्रेक्षणे) धातु से ल्युट-अन प्रत्यय होने पर बनता है। प्र + ईक्षण अच्छी तरह से, गहराई से देखने का भाव जहां प्राथमिक स्थिति में सामने आता है, वहां 'गहरे पानी पैठ' के अनुरूप सोच-विचार की अन्तिम स्थिति तक सारा विषय इस के अन्तर्गत आ जाता है। द्रष्टा१ देखने, सोचने वाले की योग्यता, विद्या, रुचि और स्तर के भेद से देखने, सोचने में जहां अन्तर आना स्वाभाविक बात है, वहां देखने के साधनों के अन्तर से भी अन्तर हो जाता है। इस प्रकार देखने - सोचने की यह प्रक्रिया [द्रष्टा, दृश्य, देखने के साधन और देखने पर बनी राय के भेद से चार रूपों में बंटी हुई है। इसी को दर्शन के शब्दों में प्रमाता प्रमेय, प्रमाण और प्रमा [प्रमिति के नाम से स्मरण करते हैं। इन शब्दों से दर्शन शब्द का अर्थ ज्ञान प्रतीत होता है।

अंग्रेजी भाषा में दर्शन के लिए फिलासफी शब्द आता है, जिस का अर्थ है - ज्ञान के प्रति प्रेम अनुराग। वेदान्त और मीमांसा दर्शन क्रमशः ब्रह्म तथा धर्म की जिज्ञासा [= जानने की इच्छा] से प्रारम्भ होते हैं[2]।
जिज्ञासा सोच के स्तर से इसके तीन रूप हैं, जैसे कि श्रवण, मनन, निदिध्यासन अत एव हम पहले किसी से कुछ सुनते हैं, फिर उस पर विचार करते हैं और अन्त में उसकी सच्चाई को स्पष्ट करना चाहते हैं। अर्थात् दर्शन की प्रक्रिया मुख्य रूप से इन स्तरों से जुड़ी हुई है।

१- क्योंकि [घृत-तैल-तण्डुल-लवण-शाकेन्धन-वसन चिन्तयाऽनुदिनम्। विपुलतरे-रपि पुंसो नश्यति धीर्मन्द-विभवत्वात्॥

चाणक्यराजनीतिशास्त्र-३,५४]

इन्हीं सांसारिक चिन्ताओं, जरूरतों में ही अधिकतर व्यक्ति उलझे रह जाते हैं।

२- अथा तो ब्रह्म जिज्ञासा॥ वेदान्त १,१,१ अथा तो धर्म जिज्ञासा। मीमांसा १,१,१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अधिकतर दर्शन शब्द अध्यात्म अर्थ में लिया जाता है, अर्थात् आत्मा सम्बन्धी सोच[1]। सभी दर्शनों में किसी न किसी रूप में आत्मा की चर्चा प्राप्त होती है। साहित्य में आत्मा शब्द अनेक अर्थों में आया है। वैसे दर्शनों में विशेष रूप से परमात्मा जीवात्मा जगत, शरीर तथा इन से सम्बन्धित विषयों की ही चर्चा मिलती है। आत्मा शब्द परमात्मा और जीवात्मा दोनों के लिए प्रमुख रूप से आता है। परमात्मा-ब्रह्माण्ड में और जीवात्मा विशेषतः पिण्ड [शरीर] में व्याप्त, पूर्ण है। अत एव इन दोनों को पुरुष[2] शब्द से भी पुकारा गया है, क्योंकि ये दोनों अपने-अपने रूप में पूर्ण, व्याप्त, अधिष्ठाता व्यवस्थापक हैं। अनेकत्र आत्मा शब्द से अधिकतर जीवात्मा का ग्रहण किया जाता है, क्योंकि अपने आप को प्रथम समझ लेने पर परमात्मा को समझना सरल और सार्थक हो सकता है।

प्राचीन भारतीय दर्शनों में यह सारी चर्चा वेद के आधार पर ही आरम्भ हुई है। अतएव ये अपने विषय की पुष्टि के लिए श्रुति [वेद] की ओर संकेत करते हैं। अर्थात् वे वेद को परम प्रमाण मानते हैं। वेद को परम प्रमाण मानने से ही ये वैदिक दर्शन कहलाते हैं और वे है– वैशेषिक, न्याय, योग, सांख्य, मीमांसा तथा वेदान्त वेद एवं वैदिक वाङ्मय को प्रमाण न मानने वाले चार्वाक, जैन, बौद्ध अवैदिक कहलाते हैं और इन तीनों प्रादुर्भाव अपने से पूर्ववर्ती कुछ विचारों से मतभेद के कारण ही हुआ है। पाश्चात्य देशों में प्रादुर्भूत दर्शन को पाश्चात्य दर्शन कहा जाता है।

दर्शन की प्रक्रिया– प्रत्येक देखने, सोचने, समझने और समझाने वाला स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाता है। वह पहले मोटी-मोटी बातों को समझ-समझा कर, उसके आधार पर सूक्ष्म रहस्यों का विचार सामने लाता है। अतः दर्शन का प्राथमिक अर्थ है– देखना और बाहर की आंखों से हम पहले आकार–प्रकार वाली चीजों को देखते हैं, फिर अन्दर की आंख [अन्तःकरण] से सोचते हैं। इस प्रकार जीवन की गुत्थियों या जिज्ञासाओं को समझने का हम प्रयास करते हैं। इसी को शास्त्रकार, श्रवण-मनन-निदिध्यासन शब्दों से स्पष्ट करते हैं[3]। संसारी व्यवहार में भी सर्वत्र यही प्रक्रिया प्रचलित है, और यही क्रम इन दर्शनों में भी अपनाया गया। कहीं-कहीं दर्शन के लिए तर्क शब्द भी प्रयुक्त हुआ है[4] और तर्क में भी स्पष्ट से अस्पष्ट को समुपस्थित किया

१– आन्वीक्षिक्यात्मविज्ञानाद् हर्ष शोकौ व्युदस्यति शुक्रनीति १,१५८

२– पुरुषः पुरिषदः पुरिशयः, पूरयतेर्वा पुरयत्यन्तरित्यन्तर पुरुषमभिप्रेत्य निरुक्त २,१

३– आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यश्च। बृहदारण्यक उप २,४
श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः। मत्वा च सतत ध्येय एते दर्शनहेतवः॥

४– आन्वीक्षिक्यां तर्कशास्त्रम् शुक्रनीति। १,१५३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाता है। न्याय दर्शन में निर्दिष्ट तर्क की परिभाषा विज्ञान की प्रक्रिया का स्मरण करार्ता है[1]।

वैशेषिक– विषय बोध की दृष्टि से वैदिक दर्शनों में प्रथम वैशेषिक दर्शन आता है। जिसके कर्ता कणाद महर्षि हैं। इस दर्शन को प्राचीन भौतिक शास्त्र भी कह सकते हैं। इस में द्रव्य गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय नामक पदार्थों का वर्णन, विश्लेषण है। इन में से मुख्य द्रव्य ही हैं, क्योंकि इसके आधार पर ही अन्यों की स्थिति तथा विवेचना सम्भव होती है। इस दर्शन में मन, आत्मा, विद्या, अविद्या काल दिशा का भी विवेचन है, पर यहां विशेष रूप से पृथिवी, जल, अग्नि [तेज] वायु आकाश और इन सबके गुणों तथा कर्मों का विस्तार से वर्णन है। इन पांचों का सांझा नाम भूत है यतोहि व्यावहारिक स्तर पर इन की सत्ता [भू] साधी जा सकती है। इनमें से प्रथम तीन तो आंखों से स्पष्ट देखे जाते हैं, अतः कुछ अश में यहां दर्शन का देखना अर्थ भी चरितार्थ हो जाता है। पांचों भूत और इन से बनी हुई वस्तुएं ही विशेष रूप से हमारे व्यवहार में आती हैं। अत एव इन सब को विशेष कहते हैं और इसी से तद्धित में वैशोषिक शब्द बना है। सांख्य योगशास्त्र आदि में भी इन पांचों भूतों के लिए विशेष शब्द का प्रयोग मिलता है। वैशेषिक दर्शन का आरम्भ अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः से होता है। यहां धर्म शब्द का अर्थ स्वभाव है, इस दर्शन में प्रयुक्त साधर्म्य, वैधर्म्य शब्दों से भी इस की पुष्टि होती है। जैसे कि अग्नि का धर्म प्रकाश जलाना आदि है और आज के भौतिक शास्त्रों भी उर्जा आदि गुणों, धर्मों के अन्वेषण में ही निरत हैं।

न्याय—प्रमाणों [जानने, समझने के साधन] से किसी निर्णय या निर्णय की प्रक्रिया को न्याय कहते हैं[2]। न्याय दर्शन में प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन आदि सोलह पदार्थों का वर्णन किया गया है। हम कुछ बातों का निर्णय जहां प्रत्यक्ष से करते हैं, तो वहां

१– अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थं मूहस्तर्कः। १ १,४० — किसी अर्थ कार्य, बात का जब तत्त्व ज्ञात नहीं होता (पर जानना चाहते हैं), तब उस में कारण के जचाव से तत्त्वज्ञान के लिए जो युक्ति, विचार-विर्मश होता है, वही तर्क है। वात्स्यायन मुनि ने इस सूत्र के भाष्य में लिखा है—
अविज्ञायमानतत्त्वेऽर्थे जिज्ञासा तावज्जायते जानीयेममर्थमिति। अथ जिज्ञासितस्य वस्तुनो व्याहतौ धर्मौ विभागेन विमृशति किंस्विदित्थ महोस्विन्नेत्थमिति। विमृश्यमानयो धर्मयोरेकं कारणोपपत्त्याऽनुजानाति सम्भवत्यस्मिन् कारणं प्रमाणं हेतुरिति कारणोपपत्त्या स्यादेवभेतन्मेतरदिति।

२– प्रमाणैरर्थस्य परीक्षणं न्यायः

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुछ का अनुमान से और कुछ बातों का पता शब्द [शास्त्र] से लगता है। निर्णय में सहायक बनने वाले तर्क तथा अनुमान के अगभूत पंचावयव भी कहीं-कहीं न्याय दर्शन के पयार्य रूप में प्रयुक्त हुए हैं।

प्रमाणों से जिन का पता, ज्ञान किया जाता है, वे प्रमेय कहलाते हैं। निर्णय सदा सन्देह उठने या जिज्ञासा पर दृष्टान्त आदि से किया जाता है। न्याय दर्शन में निर्णय की प्रक्रिया का ही जहां विशेष विचार है, वहां प्रमेय के रूप में आत्मा, शरीर, पांच भूतों आदि का वर्णन किया गया है। इस न्याय दर्शन के प्रणेता महर्षि गौतम हैं। **सांख्य**— सांख्य के निर्माता महर्षि कपिल हैं। इस दर्शन को प्राचीन रसायन शास्त्र भी कह सकते हैं, क्योंकि पृथिवी आदि पांच भूत तथा इन से बनने वाले पदार्थ किस मूलतत्त्व से किन परिस्थितियों में परिणत हो कर यहां तक पहुंचे हैं, इसका विचार ही इस दर्शन का प्रतिपाद्य हैं। सांख्य का अर्थ जहां [प्रकृति-पुरुष का] सम्यक्ज्ञान है, वहां यह संख्या का तद्धित रूप होने से संख्या अर्थ में भी आता है। यहां उन पच्चीस तत्त्वों की गणना वर्णन है, जिन का परिणाम रूप ही यह सारा संसार है।

योग— योगदर्शन के रचयिता पतञ्जलि महामुनि हैं। सामान्यत: योग शब्द जोड़ के अर्थ में आता है। जैसे कि गणित की एक प्रक्रिया है और चिकित्सा के क्षेत्र में भी विधि-के योग से औषध तैयार की जाती है। इसी अर्थ के आधार पर ईश्वर-जीव के योग [दर्शन की प्रक्रिया] को इस शास्त्र का लक्ष्य आदिष्ट किया जाता है। योग दर्शन में योग शब्द विशेष रूप से समाधि, एकाग्रता के रूप में उपदिष्ट है। अत एव वहां चित्त की पांचों वृत्तियों के स्वरूप के साथ उनके निरोध के अनेक उपाय बताए गए हैं। साधकों के भेद से इसको तीन रूपों में समझाया गया है।

विशेष निरुद्ध मध्यम [एकाग्र] और सामान्य [विक्षिप्त] रूप में परिगणित साधकों की दृष्टि से यह चर्चा है समाधिपाद में प्रतिपादित प्रक्रिया विशेष साधकों के लिए है। तदनन्तर २,१ में आया [तप: स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि] क्रिया योग: मध्यमस्थिति के साधकार्थं है और अष्टांग वाला विस्तृत वर्णन सामान्य स्थिति के साधकों के लिए सरल पथ है। योगदर्शन का समालोचनात्मक अध्ययन करने से भी यह बात स्पष्ट होती है, कि योग की प्रक्रिया के द्वारा **आत्मानुभूति** होती है। तभी तो वहां तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् १.३ अर्थात जब योगविधि के अनुष्ठान से चित्त की वृत्तियां निरुद्ध हो जाती है, तब चित्त का द्रष्टा-जीवात्मा का अपने स्वरुप में टिकाव होता है। द्रष्टा, दृश्य शब्दों का योगकार ने विवेचन किया है। वहां जीव के अर्थ में ही द्रष्टा शब्द निर्दिष्ट है। योग के चतुर्थ पाद का नाम कैवल्य है, कैवल्य शब्द केवल की स्थिति से तद्धित में बनता है अर्थात अकेलेपन की [प्रकृति रहित] स्थिति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तभी तो लिखा है— 'पुरुषार्थ शून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरुप प्रतिष्ठा वा चित्तिशक्तिः ।

मीमांसा— वैदिक वाङ्मय में मीमांसा शब्द दो दर्शनों के साथ संयुक्त होता है। अत एव पूर्व मीमांसा तथा उत्तरमीमांसा के नाम से उन को क्रमशः स्मरण किया जाता है और कुछ इन दोनों के अध्यायों की गणना समवेत रूप में करते हैं। इन दोनों का समारम्भ जिज्ञासा से है। जैमिनि दर्शन धर्म की जिज्ञासा का समाधान करता है, तो वेदव्यास का वेदान्त ब्रह्मजिज्ञासा को शान्त करता है। इन दोनों की विश्लेषण प्रक्रिया भी एक समान है। अतः मीमांसा शब्द यहां उधेड़-बुन, विश्लेषण, विवेचन अर्थ में है, तभी तो इसको वाक्य विद्या का आकार ग्रन्थ कहा गया है। जैसे एक यन्त्र को ठीक करने वाला यन्त्र के पुर्जो को खोलकर गड़बड़ का प्रथम बोध करता है, पुनः उसको ठीक करके यन्त्र की संगति लगाता है। ऐसे ही मीमांसा में आने उपजीव्य शास्त्र के वाक्यों का विश्लेषण करके प्रकरण, लिङ्ग आदि के आधार पर सगति दर्शाई जाती है[1]।

वैदिक वाङ्मय में वेदों के पश्चात् ब्राह्मणो का क्रम है। आरण्यक ब्राह्मणो के ही भाग हैं। इस के अनन्तर उपनिषदों की परिगणना है। वेद ईश्वरीय नित्य ज्ञान होने से उनके व्याख्यान रूप ब्राह्मण रचना काल की दृष्टि से पूर्ववर्ती है तो उपनिषद उत्तरवर्ती। पूर्व मीमांसा का अतः ब्राह्मणों के वाक्यों से सम्बन्ध है, तो वेदान्त में उपनिषद वाक्यों की मीमांसा है। धार्मिक कर्मकाण्ड रूपी यज्ञ ही ब्राह्मण ग्रन्थों तथा पूर्व मीमांसा दर्शन का मुख्य प्रतिपाद्य है, तो ब्रह्म उपनिषदों और वेदान्त का मुख्य विवेच्य विषय है। वेदों में मुख्य रूप से इन दोनों विषयों की विवेचना है। अतः वेदों के व्याख्यानभूत ब्राह्मणों तथा उपनिषदों में इन दोनों को अपना - अपना व्याख्यात तत्त्व बनाया है।

पूर्व मीमांसा में वेद प्रतिपादित धर्म=कर्म=यज्ञ की प्रक्रिया को प्रतिपादित करने के लिए ब्राह्मणों के परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले वाक्यों की मीमांसा करके संगति दर्शाई है। वेदान्त के प्रथम सूत्र में ब्रह्म को जानने की इच्छा प्रकट की है[2]। इसके समाधान रूप में दूसरे सूत्र[3] में कहा है, कि इस दृश्य - अदृश्य संसार का जन्म संचालन, संहार जिसके निमित्त से होता है, वही ब्रह्म है। तृतीय सुत्र का भाव है, कि ब्रह्म जहां जगत का कर्त्ता, धर्त्ता, संहर्त्ता है वहां वह वेद शास्त्र का प्रकाशक भी है

१— श्रुति–लिङ्ग–वाक्य-प्रकरणतस्थान-समाख्या भेदेन षट् प्रमाणानि।
२— अथातो ब्रह्मजिज्ञासा
३— जन्माद्यस्य यतः।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा सारे शास्त्र भी ब्रह्म को ही जगतकर्ता आदि रूप में प्रतिपादित करते हैं[1] । इन दोनों अर्थों के आधार पर चतुर्थ सूत्र में कहा है – वह कर्ता अपने कार्य में कला के रूप में सर्वत्र समन्वित है या सारे शास्त्रों में सर्वत्र जगत्कर्ता रूप में ब्रह्म ही समर्थित है[2] । इस भूमिका के पश्चात बड़े विस्तार के साथ अग्रिम सूत्रों में दर्शाया है, कि उपनिषद् आदि में जहां - कहीं प्राण, अन्न, आत्मा, आकाश आदि शब्दों से रचियता का निर्देश है । वहां - वहां इन शब्दों द्वारा तत्प्रकरणानुरूप भावबोधार्थ वह-वह शब्द ब्रह्म का ही वाचक है, क्योंकि यह जगत उत्पादन, धारण आदि की क्रिया ब्रह्म के माध्यम से ही सम्पन्न हो सकती है । जब शास्त्रों में सर्वत्र निर्दिष्ट क्रिया एक ही है, तो उसका कर्त्ता भी सर्वत्र एक ही आदिष्ट होना चाहिए । तत्तत्स्थलों के विश्लेषणों से भी यही परिपुष्ट होता है, क्योंकि वे विशेषण ब्रह्म में ही चरितार्थ होते है ।

१— शास्त्र योनित्वात् ।
२— तत्तु समन्वयात् ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धर्म का तत्व अर्थात धर्म क्या है ?

—श्री स्वामी वेदमुनि परिव्राजक
अध्यक्ष-वैदिक संस्थान, नजीबाबाद [उ० प्र०]

प्राचीन ऋषियों का मत है "धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायाम्" अर्थात धर्म का तत्व गुहा (गहराई) में छिपा है। अभिप्राय यह है कि धर्म क्या है ? यह अत्यन्त गूढ़ रहस्य है। धर्म की परिभाषा और उसकी व्याख्या सरल कार्य नहीं है। परन्तु आजकल जिसे देखो वही धर्माचार्य है, वही धर्म पर लम्बे-लम्बे भाषण कर रहा है।

धर्म के नाम पर बड़े-बड़े मठ-मन्दिर, विशालकाय आश्रम, गुरुद्वारे मस्जिद, गिरजे आदि खड़े मिलेंगे। प्रकांशकों की दुकानों और पुस्तकालयों में धर्म के बड़े-बड़े पौधे मिलेंगे तथा संसार में अनेक मत और पन्थ मिलेंगे और इन सबकी पृथक्-पृथक् धर्म की परिभाषायें मिलेंगी। जिज्ञासु के सामने प्रश्न आता है कि अन्ततोगत्वा धर्म क्या है ?

प्रत्येक दुकानदार जैसे अपनी दुकान के सामान को उत्तम और अन्य दुकानों की सामग्री को घटिया बताता है, चाहे उसकी दुकान की सामग्री से अन्य दुकानों की सामग्री सहस्र गुणा अच्छी हो और उसकी एकदम निकृष्ट। ठीक यही दशा धर्म के नाम पर प्रचलित मत-मतान्तर की है।

हमारा उद्देश्य इन पंक्तियों में किसी मत विशेष की आलोचना करना नहीं है अपितु केवल धर्म की वास्तविकता पर पहुंचने के लिए हम थोड़ी ऊहा—पोह करना चाहते हैं।

सँसार में धर्म के नाम पर अनेक विचार धारायें प्रचलित हैं अथवा यों कहिये कि विश्व में अनेक धार्मिक मत प्रचलित हैं। इन सभी मतों में सब कुछ समान नहीं है। सब कुछ समान हो, एक जैसा हो, तो अनेकता रहती ही नहीं। मतभेद न हो तो मेरा-तेरा का प्रश्न ही नहीं रह जाता है। पृथक्-पृथक् रहते हुए भी कुछ बातें सब मतों में ठीक है। कुछ बाते तो प्रत्येक मत में ऐसी हैं कि जिनमें अच्छाई निहितं हैं, बुराई नही किन्तु उनकी वह अच्छाई भी इस इस अर्थ में बुराई बनी हुई है कि वह अनेकता बनाये रखती है मानव-मानव को एक नहीं होने देती अर्थात् समस्त मनुष्यों को एकता के सूत्र में नहीं बंधने देती।

कुछ बाते प्रत्येक मत में ऐसी हैं, जो संसार के अन्य सभी मतों के विरुद्ध हैं। परिणाम स्वरुप संसार का प्रत्येक मत अन्य सभी मतों के विरुद्ध है और सभी मतों के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानने वाले अन्य मतवादियों को अपना विरोधी ही नहीं अपितु शत्रु समझते हैं और इसी कारण संसार में धर्म के नाम पर विभिन्न मतवादियों के मध्य समय-समय पर झगड़े होते रहते हैं. जिनमें भीषण रक्तपात तक हो जाता है।

इन परिस्थितियों को देखकर कभी - कभी इतनी खिन्नता होती है कि मनुष्य धर्म के नाम से ही घृणा करने लग जाता है और साधारण बुद्धि के लोग धर्म के विरुद्ध हो जाते हैं। लोग सोचने लगते हैं कि जिससे मानव - मानव के रक्त का प्यासा हो जाय, जिससे मानव की मानवता का पशुकरण ही नहीं अपितु राक्षसीकरण होता है, ऐसे धर्म की संसार को क्या आवश्यकता है ? ऐसे धर्म से संसार को क्या लाभ ? क्यों न ऐसे धर्म को ही संसार से विदा कर दिया जाय ?

बात है भी ठीक, जो धर्म मानवता का अभिशाप हो—साधारण बुद्धि का ही सही—कोई भला व्यक्ति, कोई सत्पुरुष ऐसे धर्म को क्यों पसन्द करेगा ? ऐसी दशा में यदि लोग धर्म को नशा अथवा अफीम कहने लग जायें तो आश्चर्य ही क्या है ? परन्तु प्रश्न तो यह है कि क्या यह समस्या का वास्तविक निदान है ? और क्या यही इस रोग की वास्तविक चिकित्सा है।

तथ्य यह है कि जब तक रोग का ठीक निदान नहीं होता, तब तक उसकी ठीक चिकित्सा भी नहीं हो सकती, ठीक चिकित्सा के लिये निदान का ठीक होना अत्यन्त आवश्यक है। रोगी को बचाने के लिये ठीक चिकित्सा होनी चाहिये और ठीक चिकित्सा के लिये ठीक निदान होना चाहिये।

मानव रोगी है। न केवल मानव अपितु सम्पूर्ण मानव समाज। रोग है धर्म का। चिकित्सक के पास जाता है रोगी और कहता है – वैद्य जी मैं बीमार हूं मेरी चिकित्सा कीजिये। वैद्य जी पूछते हैं बीमारी क्या है आपको। रोगी कहता है, धर्म की। वैद्य जी कहते हैं, अच्छा तो आप नित्य प्रातः उठकर हनुमान मन्दिर में जाकर फूल चढ़ाया करो और घर पर नित्य हनुमान चालीसा का पाठ किया करो।

इसी प्रकार कोई शिव–मन्दिर में फूल चढ़ाने और शिवस्तोत्र के पाठ की बात बताता है तो कोई दुर्गापाठ की। कोई पांच समय काबे की ओर मुंह करके नमाज और वर्ष में एक मास रोजा रखने की औषधि लिख देता है तो कोई नित्य प्रति गिरजाघर की प्रार्थना में सम्मिलित होने की। कोई "अहिंसा परमो धर्मः" का सूत्र लिखकर नित्य जैन मन्दिर में दर्शनार्थ जाने की औषधि देता है तो कोई गुरुद्वारे का द्वार खटखटाने की।

रोगी, धर्म का रोगी उक्त स्थानों के चक्कर काटते - काटते और उक्त औषधि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तन्त्र को रटते–रटते मृत्यु शय्या पर जा पहुंचता हैं परन्तु अपने और अपनी विचारधारा की मान्यता वाले व्यक्तियों के अतिरिक्त अन्य सबको — चाहे वह आचरण में कितने ही पवित्र और नैतिक मूल्यों का पालन करने वाले हों—नीच, घृणास्पद, नरक–गामी और यहां तक कि वध कर दिये जाने योग्य तक मानता रहता है।

'ऐसे ही कन्धा घर रहे, ऐसे ही रहे विदेश'' वाली लोकोक्ति चरितार्थ होती है। चाहे इस मत में रहे या उसमें—रहे मतवादी ही, धर्मात्मा नहीं बन सके। कारण स्पष्ट है कि जिन चिकित्सकों के पास गये, वह सब "नीम हकीम" अर्थात् अधूरे चिकित्सक थे। उन्हें निदान आता ही नहीं था, रोगी के रोग का क्या निदान करते। वह तो बीमारियों को ही औषधि समझे बैठे थे। प्रत्येक चिकित्सक के पास से रोगी को पूर्व की अपेक्षा नयी औषधि दे दी जाती है, रोगी उसे सेवन करता है परन्तु रोग ज्यों का त्यों। कारण वही है कि औषधि नहीं अपितु नये रोग का सन्त्र रोगी के हाथ में आ जाता है। एक रोग से मुक्त हुआ - दूसरे में जा फंसा। यह रोग मुक्ति, रोग–निवारण है अथवा रोग परिवर्तन व रोग का नवीनीकरण।

हकीम और वैद्य यकसां हैं, अगर तशखीश अच्छी हो।
हमें सेहत से मतलब है, बनफ्शा हो या तुलसी हो॥

हमें—मनुष्यों को—रोग की चिकित्सा की आवश्यकता है, रोग का नवीनीकरण नहीं चाहिये। हम चिकित्सा द्वारा रोग मुक्त होना चाहते हैं, किसी नये रोग से पीड़ित नहीं होना चाहते। चिकित्सा चाहे हमारी वैद्य करे या हकीम, होम्योपैथ करे अथवा एलोपैथ और या नेचरोपैथ (प्राकृतिक चिकित्सक) हमें किसी विशेष चिकित्सा पद्धति से मोह नहीं। चाहे बनफ्शा हो या तुलसी, चिकित्सा भी चाहे किसी पद्धति से कर लो, परन्तु रोग को समूल नष्ट करो। "न रहे बांस न बजे बांसुरी" न रोग रहे न छुआछूत और घृणा।

जब तक यह रोग (धर्म–रोग) रहेगा, तब तक यह धार्मिक घृणा द्वेष और ऊच–नीच का भेद–भाव बना रहेगा और जिस दिन यह रोग मिटा तो इसके लक्षण घृणा–द्वेष और ऊंच–नीच के भेद भी बने न रहेंगे। यह लक्षण हैं रोग नहीं। रोग तो मन में है, विचारों में निहित हैं। यदि मानव–मन का मैल धुल जाय यदि विचारों की शुद्धि हो जाय तो इन सभी तथाकथित रोगों परन्तु वास्तव में रोग के लक्षणों से छुटकारा मिल जाय।

मानव–मन के मैल को छुड़ाने को कहिये अथवा धार्मिक रोग से मानव की मुक्ति का कह लीजिये—केवल मात्र एक ही उपाय है और वह यह कि मानव को धर्म के लक्षणों का पता नहीं अतः धर्म के नाम पर वह हैबहक जाते हैं और कभी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस मत में तो कभी उस मत में धक्के खाते और जीवन नष्ट करते हुए फिरते रहते हैं। यदि लोगों को धर्म के लक्षणों की जानकारी हो जाय तो वह मतवादियों के चङ्गुल में नहीं फंसे।

इतना तो हम पूर्ण दायित्व के साथ कह सकते हैं कि संसार के वर्तमान मतों में एक भी ऐसा नहीं है, जो धर्म के लक्षणों पर पूरा उतर सके या धर्म कहलाने का अधिकारी हो, यद्यपि सभी अपने को धर्म घोषित करते हैं। हां, धर्म की कुछ न कुछ बातें इन सभी मतों में हैं, किसी में न्यून और किसी में कुछ अधिक और इसीलिये यह संसार में जीवित भी है, ठीक उसी प्रकार—जिस प्रकार प्रकाश तो मिट्टी के तेल की कुप्पी भी देती है और सरसों के तेल का दीपक भी। गैस के लैम्प भी प्रकाश देते हैं और विद्युत लैम्प भी। इन सब में प्रकाश है और सभी प्रकाश न्यूनाधिक देते भी हैं, किन्तु सूर्य की अनुपस्थिति में। जब आकाश में सूर्य देदीप्यमान हो रहा होता है तो इनमे से किसी की भी आवश्यकता नहीं रहती और न इनका प्रकाश किसी को प्रकाशित ही कर पाता है। इनका प्रभाव तो अन्धकार में ही होता है, तभी यह प्रकाश दे पाते हैं और वह भी साधारण सा, धुंधला तथा अतीव सीमित क्षेत्र में।

अग्नि प्रकाश का पुञ्ज है। प्रकाश अग्नि का गुण है अतः जहां-जहां प्रकाश है, वहां-वहां अग्नि है। हाँ, अग्नि की जहां जितनी शक्ति है, वहां उतना ही वह प्रकाश दे पाता है। सूर्य अग्नि का भण्डार है अतएव उसका प्रकाश भी अत्यन्त प्रबल है, अति तीव्र है। यही कारण है कि अन्य सभी प्रकाश उसके सामने मन्द पड़ जाते हैं।

यही स्थिति धर्म की है। धर्म का प्रकाश अति तीव्र है, उसके प्रकाश के सामने मत-मतान्तरों के दीपक स्वयं ही मन्द पड़ जायेंगे उनका एक प्रकार से विलीनीकरण हो जायेगा, यदि धर्म का सूर्य उदय हो जाय। नितान्त बुद्धिहीन की बात नहीं कही जा सकती, किन्तु साधारण-सी स्वल्प बुद्धि रखने वाला व्यक्ति भी धर्म का प्रकाश पाते ही मन्द-मन्द टिमटिमाने वाले मत-मतान्तरो के क्षुद्र दीपकों को तुरन्त त्याग देगा, किन्तु उसे धर्म के सूर्य का प्रकाश मिले तो सही।

प्रश्न फिर घूम - फिर कर वही उपस्थित है कि अन्ततोगत्वा धर्म का कुछ अता-पता भी है। उसका कोई ठौर-ठिकाना भी है। उसे जानने वाला और उसका बताने वाला भी कोई है तथा उसका स्वरुप, लक्षण, परिभाषा आदि क्या है। इसके लिये चिन्तित होने की कोई बात नहीं। यह ठीक है कि आप बहुत भटके हैं और अपने धर्म के नाम पर अनेक विचारों को सुना है, किन्तु उन सब में परस्पर विरोध और भिन्नता ही पायी है, परन्तु वास्तविकता यह है कि वह सब मत - पन्थ या मजहब ही है, धर्म नहीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धर्म का ठौर–ठिकाना और अता – पता है ऋषियों के पास, ऋषि–कृत ग्रन्थों में। धर्म के वास्तविक व्याख्याता ही ऋषि है। धर्म का विधान करने की योग्यता मनुष्य में (सामान्य–जन) में नहीं होती, यह योग्यता तो ऋषियों में ही होती है। साधारण जन में धर्म–विधान का निर्माण करने धर्म का स्वरुप निश्चित करने की योग्यता होती तो ऋषियों को उसके लिये प्रयत्न न करना पड़ता। सर्व साधारण तो परिस्थितियों में बहक कर धर्म विरूद्ध आचरण कर बैठता है। वह बहकने से, पथ–भ्रष्ट होने से बचे इसीलिये तो ऋषियों ने धर्म का विधान किया है। किया है सर्व साधारण के लिये – ऋषियों के लिये, धर्म - विधान निर्माण करने की आवश्यकता नहीं थी। कारण कि ऋषि तो स्वयं ही धर्म के साक्षात्कर्ता होते हैं। "साक्षात्कृत धर्मा ऋषि:" ऋषि कहते ही साक्षात्कृत धर्मा को हैं। अपने उसी साक्षात् किये हुए धर्म का व्यक्ति, परिवार और समाज––सबके लिये उपदेश किया है ऋषि ने। वही उपदेश आज भी संसार में मानव–धर्मशास्त्र तथा मनुस्मृति के नाम से प्रसिद्ध है। इन वर्तमान धर्म के नाम पर प्रचलित मतवादों के विषय में तो यही कहा जा सकता है कि—

हिन्दु भी है, मुस्लिम भी हैं, इन्सान नहीं है।
मन्दिर भी हैं, मस्जिद भी है, ईमान नहीं है॥

जब ईमान नैतिकता नहीं है तो इन्सान कहां से हो। इन्सान तो ईमान से ही बनता है। मन्दिर, मस्जिद, गिरजे तो हिन्दु, मुसलमान, ईसाई आदि ही बना सकते हैं, इन्सान नहीं बना सकते। इन्सान तो केवल वेद ही बनाता है, वही कहता है "मनुर्भव" अर्थात् मनुष्य बन। हिन्दु बन न मुसलमान, ईसाई बन न यहूदी बन केवल और केवल मात्र मनुष्य, इन्सान बन और इस इन्सान को इन्सान, मनुष्य को मनुष्य बनाये रखने के लिये महर्षि मनु ने मानव धर्म–शास्त्र का निर्माण किया। इस शास्त्र में जो कुछ भी है वह वेद का ही है, वेद ही उसका आधार है। मनुस्मृति के प्रथम अध्याय श्लोक १०८ में वर्णन है।

"आचार: परमो धर्म: श्रुत्युक्त: स्मार्त एव च"

आचार परम् धर्म है श्रुति (वेद) में कहा है और स्मृति में भी कहा गया है। आचार क्या है। यह समझ लेना अत्यावश्यक है। आचार का सरल अर्थ है, जो आचरित किया जाना चाहिये, आचरण में, व्यवहार में, लाया जाना चाहिये। जो कुछ भी आचरण में लाया जाय, वह नहीं अपितु जो आचरण में लाना उपयुक्त, उचित है, वही आचार है। स्मृति के उक्त उद्वरण का अर्थ हुआ कि जो व्यवहार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करने योग्य हों वही परम धर्म है और वेद उसी का निर्देश करता है तथा स्मृति भी उसी का विवेचन प्रस्तुत करती है ।

प्रश्न यह है कि स्मृति भी उसी का विवेचन क्यों करती है, जो वेद कहता है स्मृति और विशेषकर मनुस्मृति— वह तो भृगु मुनि प्रोक्त और महर्षि मनु प्रणीत है। ऋषि तो मन्त्र का दृष्टा होता है, साक्षात्कृत धर्मा होता है । फिर वह स्वयं ही धर्म की विधि-व्यवस्था क्यों नहीं बना देता, श्रुति का आश्रय क्यों लेता है । श्रुति (वेद) में कहे हुए की ही विवेचना क्यों करता है ।

जहां से प्रश्न उत्पन्न होता है, वहीं से उत्तर भी प्रारम्भ हो जाता है, केवल थोड़ा-सा ध्यान देने की बात है और वह यह कि ऋषि मन्त्र का दृष्टा — देखने वाला है कर्ता —रचयिता, निर्माता नहीं है और मन्त्र में से जो ज्ञान वह प्राप्त करता है, उसी का साक्षात् करके उसके धारण करने, आचरण में लाने वाले तत्वों का प्रत्यक्ष तथा व्यावहारिक स्वरूप स्मृति में प्रस्तुत कर देता है । मन्त्र संहिता (वेद) तो बीज ज्ञान का बीज प्रस्तुत करती है, उसका अध्यातम की परीक्षण शाला समाधि में दर्शन और तत्पश्चात् साक्षात् करके ऋषि उसके तत्वों की विधि-व्यवस्था के रूप में जो करता है, वहीं स्मृति कहलाती है । इसलिये मनु महाराज स्वयं कहते हैं ।

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृति शीले च तद्विदाम् ।२।६।

वेद सम्पूर्ण (अखिल) धर्म का मूल है और उस (वेद) के जानने वालों की स्मृति तथा उनका शील भी धर्म का मूल है । कारण कि वेदवित् विद्वान् अर्थात् जिन्होंने वेद के न केवल मन्त्रार्थों का दर्शन ही किया है अपितु जिन्होंने वेद के विज्ञान का साक्षात्कार भी कर लिया, वेद के साथ-साथ अर्थात् वेद की ही भांति उनका शील (व्यवहार, आचरण) भी धर्म का मूल है ।

कोई प्रश्न कर सकता कि ऋषि भी है मानव ही-भले ही उसने अपनी कठोर साधना से ऋषित्व प्राप्त कर लिया है, परन्तु है तो जीवात्मा और शरीर का मेल ही । परमात्मा तो सर्वज्ञ है तथा जीवात्मा है अल्पज्ञ—एतदर्थ अल्पज्ञता के कारण ऋषि से भी भूल होना तो सम्भव ही है । यदि कहीं किसी ऋषि के आचरण में अथवा उनके द्वारा प्रणीत स्मृति ग्रन्थ में वेद से विरोध या विरोधाभास प्रतीत हो तो उस समय किस प्रकार निर्णय किया जाय । इसके लिये महर्षि मनु स्वयं ही स्पष्ट घोषणा करते हैं —

धर्म जिज्ञासमाननां प्रमाणँ परमं श्रुति ।३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धर्म को जानने की इच्छा हो तो इसके लिये परम् प्रमाण श्रुति अर्थात् वेद है। मानव धर्म शास्त्र का प्रस्तोता स्वयं ही वेद को परम प्रमाण मानता है, अपनी कृति को नहीं, तब फिर किसी अन्य से ज्ञात करने जाने की आवश्यकता ही नहीं।

प्रमाण दो प्रकार के होते हैं, एक स्वतः प्रमाण और दूसरा परतः प्रमाण। स्वतः प्रमाण उसे कहते हैं, जो स्वयं पर आधारित हो अर्थात् जिसके लिये अन्य किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं तथा परतः प्रमाण वह होता है, जो किसी दूसरे पर आधारित हो अर्थात् जब वह स्वतः प्रमाण से प्रमाणित हो जाय, तब उसे प्रमाण माना जाता है। जैसे सूर्य के लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं, सूर्य स्वयं अपना प्रमाण है। सूर्य निकलता है तो उससे कोई नकार नहीं करता। ठीक इसी प्रकार वेद भी स्वतः प्रमाण है, अन्य स्मृति आदि ग्रन्थ वेद के अनुसार होने से ही प्रमाण कोटि में आते हैं, वेद से विरोधी होने पर वह प्रमाण नहीं माने जाते। वेद से जो अनभिज्ञ हैं उनकी बात जाने दीजिये। जो वेद के विचारों के किसी भी विषय में जानकार हो जाते हैं, वह स्वयं ही वेद—भक्त हो जाते हैं, क्योंकि सूर्य की भाँति वेद-ज्ञान का प्रकाश मिलते ही मन से उसे स्वीकार लेते हैं, वेद की विचार धारा के सम्मुख अन्य सभी विचारधारायें उसी प्रकार फीकी पड़ जाती है, जैसे सूर्य के सामने चन्द्रमा, अन्य नक्षत्र तथा मानव द्वारा प्रज्जवलित किये गये लैम्प, मिट्टी-दीप तथा विद्युत – प्रकाश आदि फीके पड़ जाते है, मन्द हो जाते हैं तथा लुप्त हो जाते हैं। परन्तु सामान्यतः तो—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥१।२।१२।

वेद स्मृति, सत्पुरुषों का आचार और स्वयं को अच्छा लगने वाला व्यवहार यह चार साक्षात् धर्म के लक्षण कहे जाते हैं जो वेद में निर्देश है, स्मृति में जिसका विधान और विवेचन है, समाज के सम्मानित व्यक्ति ऋषि, मुनि तथा धर्म तत्वों के ज्ञाता है, जिस प्रकार का व्यवहार करते हैं और धर्म की जिज्ञासा रखने वाला व्यक्ति जिस प्रकार के व्यवहार को पसन्द करता है—यह चार प्रकार वह है, जिनसे धर्म का साक्षात् अर्थात् वास्तविक ज्ञान होता है।

समस्या यह है कि सर्व साधारण वेद को तो जानते नहीं, जान भी जायें तो समझते नहीं। स्मृति आदि शास्त्रों के विषय में भी नितान्त अनभिज्ञ हैं। जिनके आचरण अनुकरणीय होते हैं, ऐसे व्यक्ति प्रत्येक स्थान पर उपलब्ध नहीं होते, ऐसे प्रमाण—कोटि के व्यक्ति तो अपवाद ही होते हैं और अल्पबुद्धि तथा ज्ञानहीन लोगों के मन को पसन्द आने वाली बात भी नहीं जंचती। कारण यह है कि स्व—बुद्धि और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रहेगी कि वह अनुचित मार्ग अपना बैठें तथा अनुचित कार्य करें, जो धर्म के विरूद्ध हों। ऐसे लोगों की पसन्द धर्मानुकूल होगी, यह न तो आशा ही की जा सकती है और न विश्वास ही। इस दृष्टि से महर्षि वेदव्यास के उपदेश को महाभारत से उद्धृत किया जाता है। उनका कहना है—

श्रूयतां धर्म सर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

अर्थ—धर्म के सर्वस्व को सुनो और सुनकर उसे धारण करो। जो व्यवहार आप किसी अन्य के द्वारा अपने साथ किया जाना पसन्द नहीं करते, वह अर्थात् उस प्रकार का व्यवहार आप भी किसी के साथ मत करो। इससे संक्षिप्त धर्म का सार धर्म का तत्व और क्या हो सकता है।

इतना सब जानने पर भी कुछ लोग यह कहेंगे कि जब कोई समस्या सम्मुख आती है, तब यह सब विचारने का समय कहां होता। तुरन्त प्रश्न उठे और उसी क्षण उत्तर भी तैयार मिले, इतने प्रत्युत्पन्नमति भी तो सब नहीं होते अतः धर्म की कुछ मुख्य-मुख्य धाराओं का ज्ञान तो हो ही जाना चाहिए। तो फिर सुनिये और कष्ट करके अन्तः करण पर अंकित कर लीजिये उन्हीं महर्षि मनु के शब्दों में—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विधा सत्यम क्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥६।९२।

धृति=धैर्य धारण करना अर्थात् समस्या सामने आने पर विचलित न होना घबराना नहीं तथा गम्भीरता पूर्वक समय की चुनौती को स्वीकार कर समस्या को सुलझाना।

क्षमा=समर्थ होते हुए भी विरोधियों पर प्रहार न करना।

दम=दमन करना अर्थात् अपनी वृत्तियों को अन्तर्मुखी बनाना, मन में बुरे विचारों को स्थान न देना, आयें भी तो उन्हें दबा देना अर्थात् मन को वश में रखना।

अस्तेयं=चोरी न करना। ऐसा नहीं कि चोरी को जीविका का माध्यम ही न बनाना अपितु बिना आज्ञा किसी की कोई वस्तु कदापि न लेना।

शोच=पवित्रता शारीरिक व मानसिक दोनों ही प्रकार की पवित्रता है। तन शुद्ध भी हो किन्तु मन में अशुद्धियां, अपवित्रतायें, गन्दे विचार घर किये हुए हों तो जीवन पवित्र नहीं बन सकता। वस्त्रों की पवित्रता भी अत्यन्त आवश्यक है परन्तु

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन्द्रिय निग्रह = इन्द्रियों को अपने विषयों अर्थात् प्रत्येक इन्द्रिय को उसके अपने विषय में भटकने, उसके लिये प्रयुक्त होने से रोकना अथवा इस प्रकार कह लीजिये कि इन्द्रियों का विषय सेवन के लिये प्रयोग न करना। यह इन्द्रिय समूह अत्यन्त बलवान् है इसे अतीव कठोरता पूर्वक विषय सेवन से रोकना होता है।

बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमीपि कर्षति ।२।२१६।

अर्थात् इन्द्रियों का समूह बलवान् है, यह विद्वान् को भी आकर्षित कर लेता है, अपनी और खींच लेता है, साधारण मनुष्य की तो बात ही क्या है।

धी = बुद्धि, बुद्धि भी साधारण नहीं धारणावती। विषय के उपस्थित होने पर उसे तुरन्त समझ लेने वाली बुद्धि। ऐसी बुद्धि ही धैर्य धारण करने, समस्याओं के समाधान खोजने, धर्म के सूक्ष्म तत्वों तथा वेदादि शास्त्रों को समझने में समर्थ होती है।

विद्या = जिससे किसी पदार्थं के तत्व स्वरुप को, वास्तविक स्वरुप को ज्यों का त्यों, जैसा वह है जाना और समझा जा सके, उसे विद्या कहते हैं।

सत्य = जो बात जैसी है और जो पदार्थ जैसा है, उसे वैसा ही स्वीकार करना तथा प्रत्येक क्षेत्र में और प्रत्येक अवसर पर सत्य का ही व्यवहार करना।

अक्रोध = क्रोध न करना। क्रोध का अर्थ होता है, आवेश में कुछ का कुछ असंयत और अनर्गल बकने लगना तथा अनुचित और अवैध कार्य कर बैठना। ऐसी स्थिति उत्पन्न न होने देना अक्रोध कहलाता है।

इस प्रकार यह धर्म के दस लक्षण महर्षि मनु के द्वारा निर्धारित किये हुए हैं। इन्हें जीवन में धारण करना चाहिये अर्थात् इसके अनुसार आचरण करना चाहिये। इनके विरुद्ध आचरण करना, धर्म का हनन करना, धर्म की हत्या करना कहलाता है। शास्त्र का मत है—

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत् ॥

अर्थ—जो धर्म का हनन करता है, वह स्वयं मारा जाता है और जो धर्म की रक्षा करता है, वह स्वयं रक्षित रहता है। इस कारण से धर्म का हनन नहीं करना चाहिये क्योंकि मारा हुआ धर्म मानव को मार डालता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनुष्य जिस–जिस अंश में धर्म के तत्वों का पालन करता है अर्थात् जितने धर्म के लक्षण उसमें हैं, उसके आचरण और व्यवहार में पाये जाते हैं, उतने ही अंश में वह धर्मात्मा है और धर्म के लक्षण जो उसमें नहीं पाये जाते अर्थात् धर्म के तत्वों का जिन अंशों में वह पालन नहीं करता, उतने अंश में वह अधर्मी, पापी है। जैसे अग्नि का गुण या लक्षण जलाना और प्रकाश देना है। जब तक यह लक्षण पाये जायेंगे, तब तक वह अग्नि कहलायेगी और जब अग्नि दाहकत्व और प्रकाश से रहित हो जायगी तो वह अग्नि नहीं रह जायेगी अपितु राख हो जायेगी अर्थात् जब तक अग्नि अपने धर्म दाहकत्व और प्रकाश को धारण किये रहती है, उनकी रक्षा किये रहती है, तब तक वह स्वयं भी रक्षित रहती है और जब वह अपने इन धर्मों का पालन–रक्षण नहीं करती, इनका हनन कर देती है, तब वह स्वयं भी मर जाती है।

यही दशा मानव की भी है। धर्म के आचरण से हटकर धर्म को तिलाञ्जलि देकर अथवा यों कह लीजिये की धर्म की हत्या करके मानव भी मृतक के समान हो जाता है। जिस में मानवता के तत्व ही नहीं, जिसमें मानवता के लक्षण, मानव-धर्म लक्षण नहीं पाये जाते वह तो जीते जी मृतक है। मानव तो तब तक है, जब तक उसमें मानवता के लक्षण पाये जायें। मानवता छोड़ी तो मनुष्य रूप में पशु – नरपशु – रह जाता है। एतदर्थमेव मानव के द्वारा मानवता के लक्षणों का त्याग अर्थात् धर्म का हनन नहीं होना चाहिये। हां, यह आवश्यक है कि धर्म के मर्म को, धर्म के रहस्य को भली-भांति समझ लेना चाहिये।

।शमित्योम्।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"वैदिक काल में धार्मिक सहिष्णुता"

यह बात निर्विवाद है कि प्राचीन काल में आर्यों ने विश्व के विभिन्न भागों में विस्तृत होते हुए अपनी संस्कृति का प्रचार और प्रसार उन्मुक्त होकर किया। न केवल एशिया महाद्वीप बल्कि यूरोप द्वीप के सांस्कृतिक विकास से आर्यों को योगदान का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। वेदों में इसी आर्य संस्कृति का उद्घृत होना पाया गया है। भारतीय संस्कृति की सम्पूर्ण प्रेरणा वेद से ही प्राप्त होती है। भारतीय धर्म, दर्शन, साहित्य, कला विद्या एवं राजनीति की जड़े वेद में ही पायी जाती है[1]।

वैदिक ग्रन्थ हमारे लिये वैदिक काल के धार्मिक विचारों और उनका अध्ययन करना सम्भव बनाते हैं। वैदिक धर्म भारतीय धार्मिक विश्वासों की सबसे प्राचीन पद्धति है। वैदिक ग्रन्थों का निर्माण करने वाले ऋषि धार्मिक व दार्शनिक वृत्ति से ओत-प्रोत थे तथा उन्होंने धार्मिक उद्देश्य से प्रेरित होकर ही उक्त साहित्य का निर्माण किया। अतएव वैदिक साहित्य में तत्कालीन धार्मिक सिद्धान्तों का प्रतिबिम्बित होना स्वाभाविक ही है।

वैदिक काल में आर्यों का धर्म बहुत सरल था। जैसा कि विश्वास किया जाता है कि धर्म और देवताओं की पूजा की भावना का प्रादुर्भाव भय से ही हुआ परन्तु आर्य उनकी पूजा भय से नहीं वरन् श्रद्धा से करते थे लोगों की यह धारणा थी कि सम्पूर्ण सृष्टि का निर्माण ईश्वर के हाथों हुआ है तथा सर्व व्याप्त ब्रह्मज्ज्योति प्राकृतिक रूप में निखरी हुयी है। प्रकृति की पूजा स्थूल न होकर लाक्षणिक रूप में की जाती है। इस काल से पूर्व के सिन्धु घाटी के निवासी भी लगभग इसी प्रकार प्रकृति की पूजा करते थे। वे यह समझते थे कि इन्हीं प्राकृतिक शक्तियों को पूजा करके ईश्वर को प्रसन्न किया जा सकता है। उनके उपास्य देवी देवताओं की संख्या बहुत बड़ी थी परन्तु वे एक असीम ईश्वरीय सत्ता में विश्वास रखते थे[2]।

वैदिक वाङ्मय प्रधानतया धर्मपरक है, अतः इस काल के धार्मिक विश्वासों के सम्बन्ध में हमें बहुत विशद् रूप से परिचय मिलता है। वैदिक काल के आर्य विविध देवताओं की पूजा करते थे। इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, यम आदि

१— डा० शिवदत्त ज्ञानी — वेदकालीन समाज पृ० २८

२— प्रो० उपेन्द्र ठाकुर -- प्राचीन भारत पृ० १५२–१५३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनके देवता थे, जिन्हें तृप्त व सन्तुष्ट करने के लिये ही अनेक विधि विधानों का अनुसरण करते थे। संसार का स्रष्टा, पालक व संहर्ता एक ईश्वर है, यह विचार वैदिक आर्यों में भली भांति विद्यमान था। उनका कथन था कि इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, सुपर्णा, गरुत्मान् मातरिश्वा, यम आदि सब एक ही सत्ता के विविध नाम हैं, और उस एक सत्ता को ही विद्वान् लोग इन्द्र, मित्र आदि विभिन्न नामों से पुकारते है। सम्भवत: एक ईश्वर की यह कल्पना बाद में विकसित हुई, और प्रारम्भ में आर्य प्रकृति की विविध शक्तियों को देवता के रूप में मानकर उन्हीं की उपासना किया प्रकृति के हम अनेक शक्तियों को देखते हैं। वर्षा धूप सर्दी गरमी सब एक नियम से होती है। इन प्राकृतिक शक्तियों के कोई अधिष्ठातृ देवता भी होने चाहिये और इन देवताओं की पूजा द्वारा मनुष्य अपनी सुख-समृद्धि में वृद्धि कर सकता है यह विचार प्राचीन आर्यो में विद्यमान था। प्राकृतिक दशा को सम्मुख रखकर वैदिक देवताओं को तीन भागों में बांटा जा सकता है।

१— द्युलोक के देवता, यथा सूर्य, सविता, मित्र, पूषा, विष्णु, वरुण और मित्र
२— अन्तरिक्षस्थानीय देवता, यथा इन्द्र, वायु, मरुत और पर्जन्य।
३— पृथ्वीस्थानीय देवता, यथा अग्नि, सोम और पृथ्वी

द्यु-लोक, अन्तरिक्ष लोक और पृथ्वी लोक के विभिन्न क्षेत्रों में प्रकृति की जो शक्तियां दृष्टिगोचर होती है उन सबको देवता रूप में मानकर वैदिक आर्यों ने उनकी स्तुति में विविध सूक्तों व मन्त्रों का निर्माण किया।

अदिति, उषा, सरस्वती आदि के रूप में वेदो में अनेक देवियों का भी उल्लेख है और उनके स्तवन में भी अनेक मन्त्रों का निर्माण किया गया है यद्यपि बहुसंख्यक वैदिक देवी-देवता प्राकृतिक शक्तियों व सत्ताओं के मूर्त रुप हैं पर कतिपय देवता ऐसे भी है जिन्हें भावरुप समझा जा सकता है। मनुष्यों में श्रद्धा मन्यु क्रोध) आदि की भावनाएं है उन्हे भी वेदो में दैवी रूप प्रदान किया गया[3]।

उपर्युक्त देवताओं में 'इन्द्र' प्रमुख देवता एव अत्यन्त पराक्रमी व शक्तिशाली था। वृज, शम्बर आदि कितने ही शत्रु राजाओं के इन्द्र द्वारा पराभूत किये जाने का वर्णण वेदों में मिलता है। इन्द्र का एक अमानव रूप भी मिलता है—

३— सत्यकेतु विद्यालंकार भारतीय सस्कृति का विकास पृ० ७३-७४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यथा "यथ्चासमा अजनों विद्युतों दिव उरुरुवों अभित: सास्यूक्थ्य"[४] ।

अर्थात् इन्द्र विद्युतो को उत्पन्न करते हैं और जलो के प्रवाह को आन्तरिक्ष से नीचे की ओर पृथ्वी की तरफ कर देते हैं ।"

इसी प्रकार अन्य देवताओं के स्वरूप को भी वेदों में दर्शाया गया हैं । वैदिककाल के लोग जिन देवताओं की स्तृति करते थे वेदों में उनकी संख्या ३३ कही गयी है—

यथा—"पत्नीवतस्त्रिशतं त्रीश्च देवाननुश्वधना वह मादयीद ।
यस्य त्रयास्त्रिशद् देवा अङ्गे सर्वे समाहिता"[५] ।

परन्तु वेदों में ऐसे भी मन्त्र आये है जिनमें देवताओं की संख्या अधिक बतायी है । एक स्थल पर तो देवताओं की सख्या ३३३९ कही गयी है—

यथा—त्रीणि शता त्रीससस्राण्यग्नि त्रिंशच्च देवा नव चासपर्यन[६]

एकेश्वरवाद:— वैदिक काल में जब इस प्रकार बहुदेववाद का बोलबाला हुआ तो वही पर यह भी स्पष्ट होता है कि सर्वोच्चि देवता की कल्पना की गयी तथा पहले देवताओं के वर्ग एवं उसके उपरान्त एकेश्वरवाद की परिकल्पना की गई । ऋग्वेद में एक स्थल पर इसका स्पष्ट उदाहरण मिलता है ।

यथा—एकं सद् विप्रा बहुधा वदंति । अग्निं यमं मातरिश्वानमाहु[७]:

अर्थात् "सत् एक ही है जिसे विद्वान् अग्नि, यम और मातरिश्वा आदि विभिन्न नामों से सम्बोधित करते हैं ।

इस प्रकार बहुदेववाद से एकदेववाद या एकेश्वरवाद की प्रकृति का विकास हुआ प्रारम्भ में इन्द्र का प्राधान्य रहा । कालान्तर में सभी देवताओं को एक में समेट कर विश्वेदेव: की कल्पना की गई और उसे सर्वोपरि माना गया इस मूलतत्व की धारणा

४— ऋग्वेद— २-१३-७
५— अथर्वद— १०-७-१३
६— ऋग्वेद— ३-९-९
७— ऋग्वेद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दो रूपों में मिलती–सर्वेश्वरवाद तथा एकत्ववाद ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में सर्वेश्वरवाद की भावना मिलती है। जिसका तात्पर्य यह है कि एक ही मूलतत्व (तदेकम्) सृष्टि के आदि में था, उसी में सृष्टि की उत्पत्ति हुई और वही पूर्ण रुप से सृष्टि में व्याप्त और परि समाप्त है। सृष्टि से परे उसका कोई अस्तित्व और रूप नही है। एकत्ववाद की धारणा ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में मिलती है जिससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सृष्टि का वह कारण भूत मूलतत्व विराट पुरुष है जो विश्व में व्याप्त होते हुए भी उसे परि-समाप्त नही है अर्थात् वह कुछ अशों में विश्व के परे भी है[8]।"

वैदिककाल की धार्मिक सहिष्णुता की अवधारणा का वस्तुत: तत्कालीन धार्मिक जीवन के अन्तर्गत ही अवलोकन किया जाता है तथा तत्कालीन धार्मिक स्थिति पर विहग दृष्टि डालने पर निम्नत: बिन्दुओं को केन्द्रित किया जा सकता है।

(१) देव–स्तुतिः	(२) यज्ञ–कर्म
(३) ईश्वर वन्दना	(४) समन्वय
(५) शिक्षा	(६) गुरु
(७) सदाचार	(८) कर्त्तव्य परायणता
(९) परोपकार	(१०) आदर्शता

यहां पर विस्तृत रुप से उपर्युक्त बिन्दुओं पर व्याख्या करना तर्कसंगत प्रतीत नही होता परन्तु फिर भी इसका सक्षिप्त विवरण दिया जाना उचित ही जान पड़ता है–

देव स्तुतिः– इन्द्र, वरुण, विष्णु, रूद्र, अग्नि, मरुत, पर्जन्य, अश्विनों, पूषा आदि देवताओं की ऋग्वेद में विविध रूप में स्तुति मिलती है। इन्द्र को एक वीर देवता के रुप में स्वकल्याणार्थ अग्नि देवता की स्तुति, मित्र और वरुण को निज कल्याण हेतु, रात्रि को प्राणियों को विश्राम देने वाले रुप में, आत्म रक्षा के लिये सविता देवता की स्तुति की गयी है।[9] सूर्य को मित्र देवता के रूप में, पूषा देवता को खोये हुए धन की प्राप्ति के सहायक के रुप में स्तुति की गई है। इस प्रकार हम देखते हैं कि उपर्युक्त देवताओं की स्तुति वैदिक काल में अत्यन्त प्रधानता लिये हुए थी।

यज्ञ कर्मः- 'यज्ञ' शब्द का उल्लेख ऋग्वेद में अनेक रुपों में हुआ है। सामान्यतः अग्नि प्रज्वलित करके जो हवन किया जाता है उसे यज्ञ कहा जाता था। वैदिक काल

८— डा० ईश्वरी प्रसाद प्रा० भा० संस्कृति कला राजनीति, धर्म तथा दर्शन पृ.५२६
९— ऋग्वेद १-३५-१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में यज्ञ–विधान अत्यधिक प्रचलित तथा जिस देवता के नाम का यज्ञ होता था, उसकी स्तुति भी मन्त्रों में निहित रहती थी। ऋग्वेद में अनेक यज्ञों का विवरण मिलता है।

ईश्वर वन्दनाः– वेदकालीन समाज में ईश्वर वन्दना का अत्यधिक प्रचलन था। समाज में ईश्वर के विराट स्वरूप की कल्पना की गई। 'ईश्वर ने सम्पूर्ण भूमि को अपने छोटे से अंश में धारण किया हुआ है' यह मान्यता धार्मिक अंग का स्वरुप ले चुकी थी।[10] इसी समय धार्मिक जीवन में ईश्वरवाद की मोहर लगा कर चार वर्णों ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य तथा शूद्र की व्यवस्था कर दी गई। ईश्वर को सर्वशक्तिमान् मानने के कारण उसे सभी के ऊपर एक अनुपम राजा माना गया। उसी ने मनुष्य और जानवरों की सृष्टि की। ऐसे ईश्वर की ओर प्रजापति एक कृपा प्राप्त करने के लिए देखा करते हैं।[11]

समन्वयः– वैदिक काल में आर्यों और अनार्यों के समन्वय की स्थिति परिपक्वता को प्राप्त हो गयी थी। देवताओं और आर्यों में भी विशिष्ट समन्वय था। जिससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि आर्यों ने ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्णों के अतिरिक्त अन्य जातियों को स्वयं में प्रवेश को अनुमति दे दी थी। जातियों के साथ–साथ संस्कृति का भी समन्वय हुआ। स्त्री–पुरुष के भी समन्वय का आभास मिलता है। स्त्रियों को गृहस्वामिनी का रुप देकर दाम्पत्य जीवन को सरल और सरस बनाने का प्रयत्न किया गया। अतः कहा जा सकता है कि वैदिक काल का धार्मिक जीवन समन्वय को लेकर विकसित हुआ।

शिक्षाः– वैदिक काल में शिक्षा को धर्म स्थापना का प्रधान तत्व माना गया। सम्पूर्ण धर्मचर्या का आधार शिक्षा ही थी। वैदिक काल में शांखाय, भारद्वाज, वशिष्ठ, वाष्कलि आदि ऋषियों ने शिक्षा का पर्याप्त विकास किया। वेदों में अनेक ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिसके फलस्वरुप कहा जा सकता है कि वैदिक काल की शिक्षा में धर्म की प्रधानता थी।

गुरुः– वैदिक काल में गुरु की महत्ता को ऋग्वेद में 'गृत्समद' ऋषि ने रुद्र का स्तवन करते समय बताया है "गुरु के पास प्रकाश स्वरुप सैन्य है जिसके माध्यम से तिमिर रुपी शत्रु–सैन्य का विनाश किया करता है. गुरु द्वारा प्रदर्शित पथ पर जो चलते हैं वे आनन्द के भागी बनते हैं। गुरु का मार्ग ज्ञान – मार्ग है। जिस प्रकार से

१०— ऋग्वेद १०/९९/२
११— ऋग्वेद १०/१२/३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बनचर सिंह के भीषण रुप और प्रचण्ड प्रताप से भयभीत हो जाते हैं उसी प्रकार जनसाधारण ज्ञानमार्ग पर चलने से कतराता है।[12] गुरु अश्लील या निम्नस्तरीय स्तुतियों को महत्व देने वाला नहीं है।[13] वैदिक काल में गुरु ज्ञान की दृष्टि में सर्वथा पूज्य है। गुरुजनों द्वारा अनुसन्धानित औषधियों के प्रयोग द्वारा नीरोग रहने वाले व्यक्ति को सौ वर्ष आनन्द पूर्वक जीवित रहने की कामना करते हैं।[14] गुरु को पाप: का परिहार करने वाला कहा गया है।[15]

यथा– "पर्षिण' पारमहस: स्वस्ति विश्वा अभीती रपसो युयोधि" ॥

सदाचार:– वैदिक काल में सदाचार पर विशेष बल दिया गया है द्यूत-क्रीडा की कटु आलोचना करते हुये उन्हें सदाचार के मार्ग पर ले जाने का सराहनीय प्रयास किया गया है।[16] कुशिक ऋषि ने रात्रि की स्तुति करते हुये उन सभी व्यसनो पर प्रकाश डाला है, जिनसे समाज में अराजकता फैलती है। दुष्ट मानवों की भर्त्सना करते हुये ऋग्वेद में दृष्टान्त आया है कि ऐसे शत्रुओं को जीतने के लिये साहस पूर्ण श्रम–यज्ञ की आवश्यकता होती है। वैदिक काल में सोमरस के अतिपान को निषिद्ध तथा लोभ एवं कामवासना सरीखे विकारों पर विजय पाने के लिये विशेष व्यावहारिक-शिक्षा का समाज में प्रचलन था।

कर्मपरायणता:– वैदिक काल में धर्म कर्मयोग से अभिभूत था। समाज में सौ वर्षों तक कार्य करते हुये जीवित रहने की अभिलाषा की गई थी। व्यक्ति स्वयं को समृद्ध बनाते हुऐ अपने पुत्रों तथा पौत्रों को भी समृद्ध रुप में देखने के अभिलाषी थे। तप को जीवन का आधार माना गया। वैदिक काल का प्रवृत्ति – मार्ग कर्मपरायणता का उदाहरण है।[17] इन्द्र को एक महत्वाकांक्षी राजा के रुप में चित्रित करके प्रवृत्ति मार्ग का ही पोषण किया गया है। वैदिक काल में समाज में कर्म योग – संयुक्त धार्मिक जीवन का अनुपम अंग है।

परोपकार:– वैदिककालीन धार्मिक–वृत्ति में परोपकार के लक्षण भी पाये गये है। समाज में विधवाओं को आदर की दृष्टि से देखा जाता था तथा विधवा – विवाह का

१२– ऋग्वेद २/३३/११
१३– पूर्वोक्म २/३३/४
१४– पूर्वोक्त २/३३/२
१५– पूर्वोक्त २/३३/३
१६– पूर्वोक्त १०/१२७/८
१७– ऋग्वेद २/१४/१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी प्रावधान था। अतः तत्कालीन समय का धर्म नारी – उद्धार के दृष्टिकोण से भी परोपकार कीं भावना से ओत-प्रोत था। सम्पूर्ण वातावरण को शान्तिमय बनाने की धारणा को परोपकार की शिविर सीमा कहा जा सकता है।

आदर्शता:– वैदिक काल में धार्मिक जीवन में आदर्शता का महत्वपूर्ण स्थान है। देवताओं को कृतज्ञता ज्ञापित करने के लिये यन्त्र का प्रावधान था। पूर्वजों ने कर्म और ज्ञान द्वारा समाज को उन्नति की ओर उन्मुख करने में जो योगदान दिया, उसके लिये यज्ञ किये जाते थे।[18] पितृलोक में निवास करने वाले बुजुर्गो के चरित्र का अनुसरण करके धन-अर्जित करना तथा ज्ञान अर्जित करने के आदर्शों को प्राप्त करना शुभ एवं श्रेयस्कर माना जाता था। तत्कालीन समाज में शक्तिवर्धन को भी एक महान् आदर्श का रुप दिया गया। वैवाहिक संस्कार को सर्वोत्तम संस्कार गृहस्थाश्रम को सर्वोत्तम आश्रम की संज्ञा दी गयी है। मनीषियों का आदर सत्कार धर्म का महान् तत्व बताया गया है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि वैदिक कालीन धार्मिक जीवन आदर्शों से ओत-प्रोत था।

वैदिक साहित्य पर विहँगम दृष्टि डालने पर यह पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि तत्कालीन समाज में वेदों को धारण करना, वैदिक धर्म था अथवा वेदों का अनुसरण अनुपालन और आचरण ही वैदिक धर्म था।

वैदिक धर्म के विकास पर तुलनात्तक भाषा विज्ञान एवं तुलनात्मक पुराण या शास्त्रपरक अध्ययन से अत्यधिक प्रकाश पड़ा है। ईरानी, ग्रीक, लैटिन लियुआनियन, लेट्टिस प्राचीन प्रशुन भाषाओं में वैदिक 'देव' शब्द के समान्तर शब्द प्राप्त होते हैं अतः देवता की अवधारणा भारत योरुपीय युग तक चली जाती है। वैदिक धर्म के विकास पर विचार करते हुये सामान्यतः पश्चिमी विद्वान् वैदिक धर्म में भारत-योरपीय युग तथा भारत ईरानी युग से प्राप्त प्रकृति उपासना तत्व स्वीकार कर प्राचीन वैदिक धर्म को प्रकृति-उपासना-परक धर्मं ही मानते हैं। उनके अनुसार वैदिक युग में प्रकृति के विभिन्न पक्षों की देवरुप में कल्पना कर उनकी उपासना की जाती थी। किन्तु इस सम्बन्ध में परम्परागत भारतीय दृष्टिकोण भिन्नता लिये हुए उचित प्रतीत होता है इसके अनुसार प्रकृति के विभिन्न पक्षों या उपादानों तथा भावों की उपासना नही अपितु उनके अधिष्ठाता देवों की उपासना की जाती है।

१८— ऋग्वेद १९/१४/१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार वैदिक धर्म का विहंगम अवलोकन करने पर हम कह सकते हैं कि तत्कालीन धर्म में जहां बहुदेवता वाद की ओर आर्यजन प्रेरित होते थे वही एकेश्वरवाद की भावना भी समाज में प्रबल थी तथा प्रकृति को ही देवता अथवा अपना इष्ट मानकर उसकी अर्चना करते थे। वैदिक काल के अन्तिम समय में वैष्णव तथा शैव धर्म का प्रादुर्भाव भी होने लगा था। वैदिक धर्म में विशिष्ट बात यह भी है कि वह समाज को अपने कर्त्तव्यों की ओर उन्मुख करने में अपना महत्वपूर्ण योगदान देता प्रतीत होता है। इसी प्रकार वैदिक काल में वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत सम्पूर्ण समाज को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र चार वर्णों का विभाजन भी तत्कालीन समाज की एक अद्भुत कृति थी जिसमें व्यक्ति अपने व्यवसाय के आधार पर अपने वर्ण में धर्म का पालन करता हुआ समाजोपयोगी कार्य करता था।

पिछले पृष्ठों में वैदिक धर्म के सन्दर्भ में जिन बिन्दुओं पर ध्यान केन्द्रित किया गया है तथा ऊपर कही अनेक बातों के आधार पर हम निसंकोच कह सकते हैं कि वैदिक – काल में धार्मिक सहिष्णुता की भावना विद्यमान थी यही नहीं वेदों में इस प्रकार के उदाहरण अनेक स्थलों पर मिलते हैं जिनके आधार पर वैदिक काल को धार्मिक सहिष्णुता का काल कहा जा सकता है। अथर्ववेद में एक स्थल पर आता है।

यथा– इहे दसाथ न परो गमाथेर्यो गोरा: पुष्ट पतिर्व अजात
अस्मै कामयोप कामिनीविश्वे वो देवा उपसंयन्तु।"[19]

अर्थात्– तुम सब एक विचार से रहो, परस्पर विरोध करके एक दूसरे से दूर न हो जाओ। अन्न अपने पास रखने वाला कृषक और गौओं का पालन करने वाला तुम्हारी पुष्टि करने वाला वैश्य तुमको इक्कठा करके यहां लाये। एक इच्छा की पूर्ति के लिये प्रयत्न करने वाली सब प्रजाओं को सब विद्वान् एकता के विचार से संयुक्त करें"। अथर्ववेद का एक अन्य उदाहरण – जिसमें व्यक्तियों के प्रत्येक कर्म को एकता के सूत्र में बांधते हुऐ व्यक्ति को मन तथा संकल्प द्वारा एक हो जाने का निर्देश है—

यथा– "सं वो मनोसि सं व्रता समाकूतीर्नमामसि।
अभी ये विव्रता स्थन तान्व: सं नमयामसि।।[20]

१९— अथर्ववेद ३/८/४
२०— पूर्वोक्त ३/८/५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थात् 'तुम अपने मन एक करो, तुम्हारे कर्म एकता के लिये हो तुम्हारे संकल्प एक हो जिससे तुम सघ शक्ति से युक्त हो जाओगे। आपस में विरोध करने वालों को हम एक विचार से एकत्र झुका देते हैं।

इसी प्रकार ऋग्वेद के अन्तिम अध्याय के अन्त की तीन ऋचायें वेदों को धार्मिक सहिष्णुता की भावना को स्पष्ट रुप प्रदान करती है —

यथा— सङ्गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे सञ्जानाना उपासते ।।[21]

अर्थात् -- हे मनुष्यों ! आप लोग परस्पर अच्छी प्रकार मिलकर रहो। परस्पर मिलकर प्रेम से बातचीत करो। आप लोगों के चित्त एक समान होकर ज्ञान प्राप्त करें। जिस प्रकार पूर्व के विद्वान् जन सेवनीय और भजन करने योग्य प्रभु का ज्ञान सम्पादन करते हुऐ अच्छी प्रकार उपासना करते रहें उसी प्रकार लोग भी ज्ञान सम्पन्न होकर सेवनीय प्रभु की उपासना करें।"

अगली ऋचा में मनुष्यों के लिये कहा गया है—

यथा— समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि ।।[22]

अर्थात्— इन सबका विचार एक समान हो। इनका अन्तः करण एक समान हो इनका चित्त एक दूसरे के साथ हो। मैं आप लोगों की एक समान विचारवान् करता हूं और एक समान अन्न से आप लोगों को पालित – पोषित करता हूं।

अन्त में स्पष्ट रुप से कहा गया है—

यथा— समानी व आकूतिः समाना हृदययानि वः
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति।[23]

अर्थात्— आप लोगों का संकल्प, निश्चय और भाव अभिप्राय एक समान रहे। आप लोगों के हृदय एक समान हों, जिससे आप लोगों का परस्पर का कार्य सर्वत्र एक साथ अच्छी प्रकार हो सके।

२१— ऋग्वेद ८/४६/२
२२— ऋग्वेद ८/४६/३
२३— पूर्वोक्त ८/४६/४

डा० राकेश कुमार शर्मा
प्रा०भा० इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मैथिलीशरण गुप्त और खड़ीबोली

डा० भगवान देव पाण्डेय

भाषा मात्र माध्यम ही नहीं बल्कि जीवन–पद्धति भी है और उसे अभिव्यक्त करने का साधन भी। वह हमारी संस्कृति और सभ्यता का निचोड़ है जिसे छोड़ देने पर मौलिक कार्य नहीं कर सकते। दूसरी भाषा सीखकर हम दक्षता प्राप्त कर सकते हैं पर उसमें मौलिक सृजन नहीं कर सकते। इसी मौलिकता और सृजन का हमारे जीवन – पद्धति से सीधा सम्बन्ध है जिससे हम वास्तविक रूप में स्पष्ट अभिव्यक्ति करते हैं।

खड़ी बोली का साहित्यिक–विकास संक्रमण के कोड़ से हुआ है और आरम्भ से ही इसे विरोधों का सामना करना पड़ा है। इस देश से आकर्षित होकर बहुत से आक्रमणकारियों ने अपना साम्राज्य स्थापित किया और अपने साथ अपनी भाषा थोपते रहे। मैकाले ने तो यहां की शिक्षा का माध्यम ही अंग्रेजी बनाने का सुझाव दिया। अंग्रेजी शिक्षा तथा सभ्यता की चकाचौंध में भारतीय युवा वर्ग अपने देश की सभ्यता और संस्कृति की उपेक्षा करने लगा है। अंग्रेजी शासन–काल में राजा शिवप्रसाद सिंह तथा लक्ष्मण सिंह हिन्दी के प्रसार के लिए सामने आए। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भाषा की इस डगमगाती नौका को, अल्प–समय तथा सीमित साधनों के रहते हुए, किनारे लगाने का अतिस्मरणीय प्रयास किया। बंगाल में राजाराम मोहन राय ने हिन्दी के प्रति निष्ठा व्यक्त की तो स्वामी दयानन्द ने गुजराती होते हुए भी अपने ग्रन्थों का प्रणयन हिन्दी में ही किया। खड़ीबोली के विकास में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का योगदान अप्रतिम है। आचार्य द्विवेदी खड़ीबोली के अनेक लेखकों को आगे लाए जिनमें गुप्त जी प्रमुख थे।

मैथिलीशरण गुप्त हमारे आधुनिक–काव्य की नींव है। आज से सौ वर्ष पूर्व गुप्त जी का जन्म हुआ था। गुप्त जी भारतीय पुनर्जागरण के उन प्रमुख लोगों में रहे जिनकी कविताओं ने अपने और आगे की पीढ़ी को गहरे तक प्रभावित किया। देश की आजादी के साथ उसके नये रूप का सपना गुप्त जी ने देखा था। कवि होने के कारण इसमें उन्होंने अपनी भूमि का वरण किया और दूर देहात चिरगांव में बैठकर मोर्चा संभाले रहे। और यही मोर्चा आगे चलकर कविता की राष्ट्रीय धारा बना।

भारतीय नवजागरण के इतिहास में साहित्य एवं राजनीति के क्षेत्र में गुप्त जी का योगदान अतुलनीय है। गुप्त जी से पूर्व खड़ीबोली के नाम से जो कविताएं लिखी जा रही थीं उनमें खड़ीबोली और ब्रजभाषा मिश्रित थी। इनका रूप श्रीधर पाठक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की रचनाओं में जो खड़ीबोली के आदि कवि समझे जाते हैं, मिलता है। लेकिन जब गुप्त जी ने खड़ीबोली में लिखना शुरू किया तो खड़ीबोली में कविता लिखकर निर्भीकतापूर्वक किन्तु अत्यन्त नम्रता से खड़े रहे। गुप्त जी ने एक तुतलाने वाली बोली को खड़ीबोली के रूप में साफ सीधी बात करना सिखाया और घुटने चलने वाली भाषा को अंगुली पकड़ कर ऊंचा उठाया जिससे वह राज – काज चलाने में समर्थ हो सके। आज राष्ट्र भाषा के पद पर हिन्दी को प्रतिष्ठित कराने के लिए जो प्रयत्न किया जा रहा है "भारत भारती" के माध्यम से वर्षों पूर्व उसे गुप्त जी सिंहासन पर अभिषिक्त करा चुके थे। तुलसी की तरह गुप्त जी ने लोक भाषा के रूप में हिन्दी को प्रतिष्ठा दिलाई।

मैथिलीशरण गुप्त के साहित्य के क्षेत्र में पदार्पण के समय खड़ीबोली निर्धन और अपुष्ट थी। मृदुता और कान्ति का उसमें अभाव था। एक अपरिमार्जित और क्षींण–कोशा भाषा उन्हें उत्तराधिकार स्वरूप मिली थी। यद्यपि खड़ीबोली के अस्तित्व का आभास अपभ्रंश काल से ही चला आ रहा है पर काव्य भाषा के रूप में वह आधुनिक काल से पूर्व गृहीत नहीं थी। बारहवीं शताब्दी के अनेक अपभ्रंश–कवियों की कृतियों मे खड़ीबोली का विशेष लक्षण 'आ' कार प्रामुख्य स्पष्टतः वर्तमान है। अपभ्रंश के पश्चात् रासो काव्य हिन्दी के प्रथम ग्रन्थ हैं जिनकी भाषा में खड़ीबोली की विशिष्ट प्रकृति परिलक्षित है। अमीर खुसरो ने खड़ीबोली के परिमार्जित रूप का प्रयोग किया है। भक्तिकाल में खड़ीबोली का आभास सन्तों की रचनाओं में मिलने लगता है। आगे के काव्य में भी खड़ीबोली का बराबर प्रयोग होता रहा है। रहीम, भूषण, सूदन आदि कवियों की रचनाओं में इसके प्रचुर उदाहरण सहज उपलब्ध हैं। मध्य काल में गद्य में खड़ीबोली का प्रयोग आरम्भ हुआ, लेकिन उसका निश्चित व्यवहार होने पर भी उसे काव्यभाषा का स्थान नहीं मिला और आधुनिक काल के प्रवर्त्तक भारतेन्दु ने भी खड़ीबोली का व्यवहार गद्य में ही किया। भारतेन्दु के जीवन काल तक इसका प्रयोग गद्य में ही होता रहा।

भारतेन्दु के पश्चात् खड़ीबोली का आन्दोलन पद्य के लिए बड़े जोर–शोर से चला। इसको पद्य की प्रमुख भाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी को जाता है। उनकी प्रेरणा और प्रोत्साहन से ही अनेक कवियों ने खड़ीबोली में लिखना प्रारम्भ किया जिनमें एक मैथिलीशरण गुप्त जी भी थे। खड़ीबोली को काव्योपयुक्त प्रमाणित करने वालों में गुप्त जी का सर्वाधिक महत्व रहा है। गुप्त जी के काल में तो खड़ीबोली लड़खड़ा रही थी और इसका कोई रूप स्थिर नहीं था। खड़ीबोली के नाम से, संस्कृत और ऊर्दू - फारसी प्रधान भाषा अभिहित थी। गुप्त जी का भाषा सम्बन्धी विचार निश्चित तथा संतुलित था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुप्त जी टकसाली भाषा के पक्षपाती थे। कविता में मिश्रण को गुप्त जी असमर्थता तथा हीनता का द्योतक मानते थे। फिर भी भाषा – विषयक उनका दृष्टिकोण समन्वयवादी था। हां इतना अवश्य था कि वे अपनी भाषा का परिमार्जित तथा ठोस रूप देखने के आकांक्षी थे।

अपने युग–जीवन और परिस्थितियों से उद्भूत करुणा का भाव उनके काव्य की प्राणधारा है। उनकी करुणा वस्तुतः मानव–हृदय के परिष्कार का साधना है। बीसवीं शदी के प्रथम चरण में उद्बुद्ध जागरण-सुधार – की नवचेतना की परिणति जिन जीवन मूल्यों में हुई थी, उन्हीं का पूर्ण प्रतिफलन हमें गुप्त जी की सर्जना में मिलता है। उनके जीवन मूल्यों में मानव मूल्य, सांस्कृतिक मूल्य और धार्मिक मूल्य परस्पर गुंथे हुए हैं जिनमें मानव मूल्य ही प्रमुख है किन्तु उन पर नैतिक सांस्कृतिक मूल्यों का गहरा प्रभाव है। उन्हें जीवन के प्रकृत, माननीय और मांगलिक तत्त्व प्रिय थे। उनकी उदात्त भावना मानव–सापेक्ष थी। जीवन – मूल्यों के अनुरूप उनके काव्य मूल्य भी मूलतः आदर्शवादी थे। इस आशीर्वाद का आधार था मानववाद, जो एक ओर सगुण भावना से पोषित था और दूसरी ओर जागरण सुधार युग की राष्ट्रीय चेतना से अनुशासित थे। वे उद्देश्य मूलक काव्य–कला की साधना करते रहे। उनके ही शब्दों में–'अर्पित हो मेरा मनुजकाय। बहुजन हिताय, बहुजन हिताय।'

गुप्त जी ने अपनी कविताओं में जीवन के कथन के प्रति ईमानदारी रखने में अद्भुत सफलता प्राप्त की थी। उन्होंने कविता के काल को सांसारिक रूचि के जड़व्याल के साथ नहीं बांधा। वे अपनी आराधना वृत्ति में इतने सजग रहे कि अपनी रचनाओं में सदैव उन्मेष और पूजा भावना प्रदान करने वाले व्यक्तियों, वस्तुओं और मर्यादाओं के प्रति ही अपने को व्यक्त किया। ब्रिटिश काल का काव्य–पुरुषार्थ जब सिसकियां ले रहा था और रीतिकालीन काव्य से हिन्दी-काव्य घबरा सा गया था और जब काव्य के नाम पर रति–विलास का निर्माण काव्य कला कहा जाता था, ऐसे समय में मैथिलीशरण गुप्त ने अतिचालित होकर अपनी लेखनी साहित्य के सात्विकता की ओर उठाई।

गुप्त जी हिन्दी के माध्यम से राष्ट्र को एकता के सूत्र में पिरोना चाहते थे। वे भाषा को एकता के सम्पादन का सबसे सबल साधन मानते थे। प्रथम–स्वतंत्रता-संग्राम के इतिहास में इन्होंने हिन्दी की महत्ता को देख लिया था। आज भाषा का जो रूप हमें देखने को मिलता है उसकी नींव गुप्त जी ने पुष्ट की थी। आज संसद–भवन भाषा के नाम पर अखाड़ा बनाया जाता है। गुप्त जी का भाषा सम्बन्धी दृष्टिकोण स्पष्ट था। अंग्रेजी के समर्थकों की खिल्ली उड़ाते हुए वे अपने 'अंग्रेजी' शीर्षक कविता में यहां तक कह गए हैं—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इग्लिश को भारत की भाषा
अवश बना लेते हैं आप
तो उस गोरी सत्ता ने ही
किया कौन सा ऐसा पाप
मना लीजिये क्यों न उसे भी
और कीजिए मृदुलालाप
गांधी फिर थोड़े आवेगा
सो भी देने को अभिशाप।
अंग्रेजी चलती न एक पल
यदि वह बूढ़ा होता आज
निज भाषा के बिना राष्ट्र क्या
हरि के हाथ हमारी लाज।
अब गोरे साहब ने पूरा
अंग्रेजी को ही साधा
उन्हें मात है पूरा मांगो
तब मिल पावेगा आधा।
कुछ ऐसी ही बात सुनी थी
आई थी जब खादी हाय।
अब भी कुछ पुंगव कहते हैं
हिन्दी यहां न लादी जाय।
किसने किस पर लादी हिन्दी
अंग्रेजी लादे रहिए
मां कह कर ही हम कृतार्थ हैं
आप यथेष्ट मम्मी कहिए।

(जनसत्ता–'दैनिक'–अगस्त–३, १९८६ से/गुप्त जी की अप्रकाशित रचना शीर्षक से जिस समय गुप्त जी का साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश हुआ उस समय राष्ट्रीय चेतना का क्रियात्मक रूप प्रारम्भ हुआ था। सामाजिक-दृष्टि से सुधारवादी-आन्दोलन की लहर फैल रही थी और साहित्यिक–दृष्टि से स्वच्छन्दतावादी भावनाओं का विकास और नैतिकता का साम्राज्य स्थापित होने लगा था। गुप्त जी ने खड़ीबोली के माध्यम से राष्ट्रीय चेतना को उभाड़कर जातीय गौरव तथा स्वाभिमान की भावना को पुष्ट किया। जनता की भावना को सही रूप में प्रकट करने के लिए जनभाषा का चिन्तन – मनन एवं प्रयोग करना पड़ता है। गुप्त जी की युग – चेतना विलक्षण थी, जिसे वे अपने मध्यकालीन संस्कारों तथा मानवोत्थानकारी आदर्शों से इस ढंग से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समान्वित रखते थे कि आश्चर्य चकित हो जाना पड़ता हैं। खड़ीबोली को उन्होंने भारतीय–सस्कृति का नवीन रूप में उद्घाटन कर तथा उसे राष्ट्रीयता से संपृक्तकर, उद्घाटित किया। खड़ीबोली में काव्य–रचनाकर उन्होंने वैचारिक क्रान्ति को गति प्रदान की।

आज हम जिस क्रान्ति युग में विचरण कर रहे हैं उसकी प्रारम्भिक जड़ गुप्त जी को सभालनी पड़ी। और स्पष्ट कहा जाय तो युग उनके कंधों पर बैठकर आज इतनी दूर आया है। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक खड़ीबोली, काव्य का उपयुक्त माध्यम बनाने में प्रायः असमर्थ ही थी। आधुनिक काव्य भाषा का निर्माण भी शेष था। गुप्त जी ने इस दुःसाध्य को साधने का कठिन कार्य आरम्भ किया और अपनी भाषा को निरन्तर विकासशील बनाए रखा तथा समस्त नवीन पीढ़ी का भोले भाव से संत जनोचित शब्दों में स्वागत किया—

'जो पीछे आ रहे उन्ही का, मैं आगे का जय-जयकार।' (समय के पांव-१९५७)

गुप्त जी खड़ीबोली की साहित्यिक चेतना को जागृत करने वाले भारत के उपेक्षित चैतन्य के चेता हैं। साहित्य जब व्यष्टि से हटकर समष्टि की ओर प्रयाण करता है तभी वह लोक मंगल की भावना से अभिभूत हो उठता है। इस भावना को जागृत करने में लोक भाषा का अभिन्न भाग होता है। उसे दृढ़ करने के लिए गुप्त जी ने खड़ीबोली को लोक–भाव–भूमि पर अधिष्ठित किया। भारतीयों में युगों की परवशता एवं अभाव–जनित निराशा से हीनता, निरीहता एवं संकोच की भावना व्याप गई थी, जिससे वे एकता की वाणी के अभाव में मूक थे और घुटन का अनुभव कर रहे थे। गुप्त जी ने इस मूक भावना को वाणी दी। वे खड़ीबोली को वाणी देकर इसी आदर्श के साथ आगे बढ़े कि उसके द्वारा जन–जीवन की यथार्थता आदर्श की ओर उन्मुक्त हो सके। उन्होंने युग की आवाज को यथार्थवादी स्वरों में सुना और युगों से काव्य में उपेक्षित मानवता की करुण कराह को सुनाकर उन्हें शाश्वत स्वरों से सम्बद्ध कर दिया। गुप्त जी ने सदा ही समय की पुकार को सुना और उसे छन्द बद्ध किया तथा प्राचीन सुप्त भावनाओं को खड़ीबोली के माध्यम से पुनर्जागृत किया। अतः वे प्राचीनता के संदेशवाहक नवीन कवि है।

अतः स्पष्ट रूप से हम कह सकते हैं कि खड़ीबोली काव्य को गुप्त जी ने ही निश्चयात्मक रूप प्रदान किया। उन्होंने कविता की ज्योति समय समाज और आत्मा के भीतर देखी और नई काव्य धारा की अबाध गति से हिन्दी समाज को अभिसिंचित किया तथा तुतलाने वाली एव कठोर बोली में माधुर्य एव गति लाकर उसे, निरन्तर निखारने का महत्वपूर्ण कार्य करके, मुखरित किया।

अध्यापक, हिन्दी विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वैदिक युग में शूद्रों का वेदाध्ययन

डॉ० कान्ति लाल० शब्दवे
रीडर, स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग
सरदार पटेल विश्वविद्यालय
वल्लभ-विधान नगर (गुजरात)
(पिन ३८८१२०)

भारतीय धर्म समाज विद्या एवं दर्शन की गंगोत्री माने गए वेद केवल भारत की ही नही, समस्त मानवजात की विरासत है। सुप्रसिद्ध प्राच्यविद्याविशारद प्रॉ० मेक्सूमूलर[१] ने वेद को 'मानव पुस्तकालय की प्राचीनतम पुस्तक' बताते हुए इस के बारे में लिखा है। "विश्व के इतिहास में जो कार्य अन्य किसी भी भाषा के किसी भी ग्रन्थ द्वारा सिद्ध होना संभव नहीं था, उस कार्य का भारतीय हिन्दुओं के 'वेद' नामक ग्रंथों ने सिद्ध करके दिखाया है। अतः जिस मनुष्य के हृदय में अपने पूर्वजों का एवं इतिहास का किंचित् मात्र भी गौरव हो, और जो अपने बौद्धिक विकास की रचना भी कामना रखता हो—उसे अपने उस गौरव की सार्थकता के लिए तथा कामना की पूर्ति के लिए 'वेदो' के अध्ययन की परम आवश्यकता है।"

शूद्रों को इन महान ग्रंथों के अध्ययन का अधिकार है या नहीं इस विषय की चर्चा स्मृतिकाल से प्रारम्भ हुई है" स्त्री शूद्रौ नाधीयाताम् इति श्रुतेः" अर्थात् 'स्त्री और शूद्रों को अध्ययन (विशेषतः वेद का) न करना चाहिये' ऐसा श्रुति कहती है। इस प्रकार के कल्पित वचन श्रुति या वेद के नाम से स्वार्थ-परायण लोगों ने गढ़ लिए तथा इस आशय के कुछ वचन स्मृतियों आदि में मिला दिये। किन्तु आज तक एक भी विद्वान् को यह साहस नहीं हुआ कि मूल वेदी में से एक भी प्रमाण इस भाव का उद्धृत कर सके।"[२]

शूद्रों के वेदाध्ययन-अधिकार के विरोधी आचार्यों की अपने मत के समर्थन में प्रमुख दलील यह है कि शूद्रों को उपनयन संस्कार से दीक्षित होने का अधिकार नहीं है, इस लिए उन्हें वेदाध्ययन का अधिकार भी नहीं है। आचार्यों की यह दलील बे-बुनियाद है, क्योंकि पारस्कर गृह्यसूत्र जैसे मान्य प्राचीन ग्रन्थ में 'अथ शूद्राणामुपनयनम्

१– इन्डिया, व्होट केन ऱंट टीच अस, उद्धृत, डॉ० दिलीप वेदालंकार, वेदों में मानववाद, अमर भारती इन्टरनेशनल, बडोदरा, प्रथम संस्करण, १९८२, पृ. ८.

२– धर्मदेव विद्यावाचस्पति, स्त्रियों का बेदाध्ययन, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा देहली, प्रथम संस्करण, जनवरी, १९४८, पृ. १.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शीर्षक के अन्तर्गत, 'आपस्तम्बः– शूद्राणामदुष्टकर्मणामुपनयनम् । मद्यपान रहितानामिति कल्पतरुकार :।। अर्थात् मद्यपानादि दुष्ट कर्मों से रहित शूद्रों को उपनयन संस्कार से दीक्षित किया जाय' ऐसा स्पष्ट विधान प्राप्त होता है । पंडित रामकृष्ण भट्ट विरचित, पारस्कर गृह्यसूत्र की व्याख्या 'संस्कार-गणपति'[3] में इस विषय का विस्तृत प्रतिपादन है ।

वैदिक-काल में शूद्रों के उपनयन संस्कार से दीक्षित होने की एवं वेदाध्ययन के अधिकार की पुष्टि उपनिषत्कालीन राजा अश्वपति केकय की इस उक्ति से भी होती है, जिसमें वह डंके की चोट पर दावा करता है कि 'मेरे राज्य में कोई भी व्यक्ति अविद्वान् नहीं है ।' (छां. उप. ५/११/५) अर्थात् अश्वपति के राज्यों में सर्व नर-नारियों को शिक्षा का अधिकार प्राप्त था । और यह तो सवविदित तथ्य है कि वैदिक-काल में सामान्यत: उपनयन संस्कार से दीक्षित होने के पश्चात् ही व्यक्ति को वेदाध्ययन एवं वेद मन्त्रों के उच्चारण का अधिकार प्राप्त होता था । छांदोग्य उप० (४/२/३) में जानश्रुति पौत्रायण नामक शूद्र राजा को सयुत्वा रैक्व नामके ब्राह्मण द्वारा ब्रह्मविद्या (संवर्गविद्या) का उपदेश दिये जाने का स्पष्ट निर्देश है । यहां सयुत्वा रैक्व ने जान श्रुति को दो बार 'ऐ शूद्र !' शब्द से संबोधित किया । शंकराचार्य प्रभृति आचार्यों[4] का कहना है कि जानश्रुति 'जातिशूद्र, नहीं था 'शोक के कारण रैक्व के पास दौड़ने के कारण' उसे शूद्र कहा गया है ।" डॉ. दिलीप वेदालंकार, नर्मदाशंकर महेता, म० च० पटेल आधि विद्वानों[5] ने इस मत को समी चीन नहीं माना है । छांदोग्य उप (४/४/१-५) में भी दासीपुत्र सत्यकाम जाबाल की सत्य-वादिता से प्रसन्न आचार्य गौतम उन्हें वेदका ज्ञान देते हुए दर्शाये गएं है । ये सब प्रमाण वैदिकयुग में शूद्रों के वेदाध्ययन के अधिकार के स्पष्ट रूप से द्योतक है ।

वैदिक-काल में शूद्रों के वेदाध्ययन के अधिकार का समर्थन स्वयं वेद के मन्त्रों के द्वारा भी होता है । यथा ऋग्वेद (१०/१९/१३) में भगवान् का विश्व के सब नर–नारियों को सम्बोधित करते हुए स्पष्ट कथन है कि "तुम्हारे लिये ये मन्त्र समान रूप से दिये गये है तुम्हारी सभाएं सबके लिए समान रूप से खुली हुई हो, मैं तुम्हारा मन और चित्त समान और मिला हुआ हो, मैं तुम्हे समान रूप से मन्त्रों को देता हूं और

३— चौखम्बा ग्रन्थमाला, वाराणसी, प्रथम संस्करण पृ० ६४२.
४— द्रष्टव्य : ब्रह्मसूत्र (१/३/३४) पर शांकरभाष्य, अणुभाष्य
५— न० दे० महेता : उपनिषद् विचारणा, गुजरात वर्नाक्युलर सोसायटी, अहमदाबाद प्रथम संस्करण, १९३२, पृ. ३७, तथा ब्रह्म-मीमांसा ज्योति, प्रथम संस्करण, पृ० ५ आदि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समान रूप से ग्रहण करने योग्य पदार्थों को देता हूं।" इसी प्रकार यजुर्वेद (२६।२) में भी ईश्वर द्वारा स्पष्ट रूप से कहा गया है 'हे मनुष्यों, मैं ईश्वर, जैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र अपने स्त्री सेवक आदि और उत्तम लक्षण युक्त अंत्यज के लिए भी इस संसार में प्रगट हुई सुख देने वाली चारों वेद रूपी वाणी का उपदेश करता हूं, वैसे आप लोग भी अच्छे प्रकार उपदेश करें।" यह अर्थघटन स्वामी दयानन्द जी ने किया है, जिसका समर्थन पंडित सत्यव्रत सामश्रमी जी, स्वामी हरिप्रसाद जी एवं डॉ० दिलीप वेदालंकार जी प्रभृति विद्वानों[6] ने भी किया है।

यहां यह बात खास स्मरण में रखने योग्य है कि शूद्रों के लिए जिन वेद मन्त्रों के अध्ययन का प्रतिषेध किया गया है, इनमें से कतिपय वेदमन्त्रों का तो दर्शन (रचना) ही कुछ शूद्र द्रष्टाओ ने किया है। उदाहरण के तौर पर कहा जाय तो ऋग्वेद के प्रथम मंडल के (११७ से १२७ तक के) बारह सूक्तों के द्रष्टा कक्षीवान्, दशम मंडल के 'अक्षसूक्त' के द्रष्टा कवष ऐलूष, जाबाल और ऐतरेय ब्राह्मण, ऐतरेय आरण्यक एवं ऐतरेय उपनिषद् के द्रष्टा महीदास ऐतरेय आदि शूद्र रहते हुए भी वेदमन्त्रों के द्रष्टा बन सके।

इस संदर्भ में डॉ० गौतम पटेल[7] लिखते हैं, "शूद्रों को भी मन्त्रदर्शन ! यह वेद कालीन समाज का औदार्य है। जातिप्रथा के आज के दूषण तथा बन्धन वहां नहीं थे। अथर्ववेद (१९/६२/१) एवं यजुर्वेद (१८/४८) के निर्देश यह सूचित करते हैं कि तब शूद्र को समाज में नीच या अस्पृश्य नहीं माना जाता था। XXX उपनिषत्ग्रन्थों में क्षत्रिय ब्रह्मविद्या का ज्ञाता हो या शूद्र ब्रह्मविद्या का अधिकारी हो ऐसे दृष्टान्त अवश्य उपलब्ध होतें हैं। ज्ञान पर केवल ब्राह्मणों का इजारा और सेवा शूद्र का कर्तव्य, यह विचार परवर्ती है यह सुस्पष्ट है और विद्वानों की मजूरी की मुहर भी उस पर लगी हुई है।"

शूद्र अपनी निचली स्थिति में ही पड़ा न रहे, अपने आत्मतत्व का विकास करें, इस लिए उसे कहा जाता है-- 'शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्' (मनु० १०/६५) शूद्र भी ब्राह्मण बन सकता है। जब तक वह उन्नत नहीं होता, तभी तक वह

६— ऐतरेयालोचन पृ० १७, स्वाध्याय संहिता पृ० ८२. उद्धृत, धर्मदेव विद्यावाचस्पति, स्त्रियों का वेदाध्ययन, पृ० १४४.

७ — वैदिक साहित्य अने संस्कृति, युनिवर्सिटी ग्रन्थ-निर्माण बोर्ड, अहमदाबाद, द्वितीय संस्करण, १९९०, पृ० ३४०.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शूद्र है, उसके उन्नति के मार्ग पर चलने में कोई समाज उसके सामने बाधा बनकर नहीं खड़ा हो सकता।[8]

यह दुर्भाग्य की बात है कि वेदों के अध्ययन में शूद्रों के अधिकार की बात इतनी सुस्पष्ट होने पर भी शंकराचार्य-प्रभृति आचार्यों ने ब्रह्मसूत्र (१/३/३८)[9] का आधार लेकर शूद्रों के वेदाध्ययन, वेद श्रवण एव वेद के अर्थज्ञान के अधिकार का निषेध किया है। इस सदर्भ में वेद के मर्मज्ञ आचार्य लक्ष्मीदत्त दीक्षितजी[10] लिखते हैं। "वस्तुत: इस सूत्र में अथवा इसके आसपास कहीं भी इस दूषित कल्पना का लेश भी नहीं है। XXX अधिकार का आधार कुछ विशिष्ट गुण है न कि किसी वर्ण विशेष में जन्म शूद्र वर्ण में जन्म लेने के कारण किसी को वेदाध्ययन का अधिकारी न होने का कहीं संकेत तक नहीं है। इस सूत्र को न समझ कर पौराजिक आचार्यों ने अपनी दूषित भावना को आरोपित कर डाला। XXX सबसे अधिक खेद और आश्चर्य का विषय यह हैं कि इस अनर्थ के प्रयोजक चराचर जगत् को एक ब्रह्म का ही रूप मानने वाले जगद्गुरु शंकराचार्य थे। XXX इन सब अर्थ इन प्राचार्यों की निकृष्ट एवं अवैदिक विचार धारा के परिचायक है। XXX यह स्वार्थी तथा धूर्त लोगों की ही कपोल कल्पना है। जिसके आधार पर विश्व की लगभग तीन चौथाई मानव जाति को वेद ज्ञान से वंचित रखने की घृणित चेष्टा की जाती रहा है।

'न मानुपाच्छ्रेष्ठतरं हि किंचित्' यह व्यासप्रोक्त आदश के मूर्तिमत् स्वरुप ग्रन्थ राट् वेद" किसी भी देश और काल की सीमा में नही आता, वह सम्प्रदाय से अतीत है, इतिहास और भूगोल की सीमाएं उसे नहीं बांधती। वेद का उ देश और सन्देश किसी जाति विशेष या देश विशेष के लिए नहीं है — मानव मात्र के लिये हैं। XX यही कारण है कि वेद' मानव मात्र को 'अमृतपुत्र' कहकर पुकारता है। वेद कहता है श्रुण्वन्तु सर्वे अमृतस्य पुत्रा : अर्थात् हे अमृत के पुत्रों ! सब के सब सुनों।[11]

वेद की ज्ञान राशि पर शूद्रों सहित समस्त मानव जाति के स्वयं श्रुति प्रोक्त अधिकार का प्रतिपादन करने वाले यह वचन के उपरान्त भी किसी को कुछ कहना बाकी है ! ?

सुरोषु किं बहुना ?

—०—

८— पं. धर्मदेव विद्यावाचस्पति : वैदिक कर्त्तव्य शास्त्र, गुरुकुश कांगड़ी, प्रथम संस्करण, पृ. १५२-१५३.

९— 'श्रवणाध्ययनार्थ प्रतिषेधात्स्मृतेश्च।'

१०— वेद-मीमांसा, ईस्टर्न बुक लिन्कर्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९४०,पृ.१९८-२०१

११— डॉ. दिलीप वेदालंकार, वेदों में मानववाद, पृ. १९.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुरु जम्भेश्वर वाणी में व्यक्तिगत नैतिकता

रोहताष कुमार सुनार
दर्शन विभाग
कु० वि० कुरुक्षेत्र हरियाणा

वस्तुत: भारतीय संस्कृति में सारी नैतिकता का आधार धर्म का पर्यायवाची शब्द 'रिलजन'' नही है। उसे तो हम ईश्वरवाद कह सकते हैं। भारतीय जीवन में जो चतुर्गर्ग फल प्राप्यर्थ सभी वर्णों और आश्रमों के सदस्यों द्वारा अपने-अपने कर्त्तव्यो का पालन रूपी ही धर्म है। यह समस्त आचार का भी आधार है। वैदिक काल से लेकर अब तक व्यक्ति और समाज को धर्म इस प्रकार की प्रेरणा देता चला आ रहा है कि जिससे हमारी अन्तरात्मा पुष्ट होकर बुराई तथा नैतिक अशुभ से संघर्ष करने में हमारी सहायता करती रही है। धर्म कें तत्व, काम क्रोध्र मोह, लोभ आदि दुर्गुणों को निरस्त करके हमें नैतिक बल प्रदान करते हैं अर्थात् धर्म मानव के कायिक, वाचिक तथा मानसिक क्रियाकलापो को लोकहित अथवा मानवता के महान आदर्शों के साथ जोड़कर व्यष्टि और समष्टि के वीच नित्य सम्पर्क की स्थापना करता है। धर्म कोई कर्म–काण्ड या उपासना पद्धति नहीं हैं वह तो मानव की सुचेष्टाओं और सद्वृतियों का फल है और जीवन की अमिट कामनाओं तथा अदृष्ट की अस्पष्ट भावनाओं को पाने का एक अचूक साधन है। यह तो मानव जीवन की नैतिक प्रगति का मापदण्ड है। इस लिए कहा जा सकता है कि धर्म और मानवता का अन्योन्याश्रम सम्बन्ध है। भारतीय संस्कृति में धर्म की व्याख्या सर्वत्र इसी प्रकार की गई है कि यह मानव को उसके वास्तविक एवं विशाल हित के सम्पादन करने वाले कर्तव्यों की ओर प्रेरित करता है। धर्मं में कुछ ऐसे सप्राण मूल्य होते हैं जो ईश्वर के ज्ञान में प्रेममय और कल्याणमय स्वरुप के परिणाम होते हैं। इन्ही मूल्यों के आधार पर आचरण के व्यावहारिक नियमों का महत्व विश्वव्यागी हो जाता है जब मनुष्य किसी आवेश से भावित होता है उस समय नैतिक भावना ही उसकी अभिव्यक्ति के लिये मार्ग निर्देशन करती है और उसी के कारण से सत्य, अहिंसा, प्रेम, उदारता आदि नैतिक सिद्धान्त मानव मन में पुण्य के समान विकसित होकर उसे महान सन्तोष प्रदान करते हैं। विविध शास्त्रकारों ने धर्म के विविध शास्त्रकारों ने धर्म के विविध लक्षण बताये हैं। ''महाभारत'' के वनपर्व में धर्मव्याध के मुख से न्याय युक्त कर्मों को धर्म कहलवाकर उसे तीन प्रकार से प्रतिपादित किया गया है वेद प्रतिपादित, धर्म-शास्त्र वर्णित, सत् पुरुषों के आचरण। इसी प्रकार अन्य पुरुषों तथा भागवत में धर्म की बड़ी विस्तार से व्याख्या की गई है। स्मृतिकारों ने इसे वर्णधर्म, आश्रम धर्म, निमितधर्म, साधारण धर्म आदि नाम भेदों से वर्गीकृत किया है। मनुष्य अपनी योग्यतानुसार समाज में कर्म–विभाजन करता है और उसके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वारा उसे अपना कर्त्तव्य पालन में सुविधा हो जाती है। इस कर्म-विभाग तथा कर्माधिकार के सुदृढ़ आधार पर वर्णधर्म की व्यवस्था की गई है। इसका कर्मयोग रूपी धर्म की संज्ञा देकर गीता में इसका विवेचन किया गया है।[1] और इसी को परम सिद्धि का साधन माना गया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक काल से लेकर सभी कालों में धार्मिक नीति ऐसे स्कन्धों पर आधारित है जिनका सम्यक सन्तुलन ही सामाजिक एवं राष्ट्रीय व्यवस्था की सुचारुता का प्रतीक रहा है। जम्भ जी धर्म का मूल वेद को ही मानते हैं।

स्मृतिकारों ने जिनको वर्णधर्म, आश्रम धर्म, निमित्त धर्म और साधारण धर्म आदि नाम भेदों से वर्गीकृत किया था और वेद ने इन्हीं प्रकारों को प्रवृति लक्षण तथा निवृतिमूलक धर्म माना था।जम्भो जी ने वर्णाश्रम धर्म का वर्णन अपने जम्भ सागर में न "सामान्य धर्म" की चर्चा बड़े ही सुन्दर एवं विस्तृत ढंग से की हैं। क्योंकि उनके युग में इनकी अत्यन्त आवश्यकता थी, कि कारण यह था लोग बाहरी जातियों के आने के कारण अपने कर्तव्य भूल गए थे। मैं यहां पर यह कहना चाहूंगा कि जम्भ जी ने अपने ग्रन्थ में भाव बुद्धि और नींति का जो समन्वय किया है वह एक प्रशंसनीय कार्य है। उसकी उपयोगिता और समीचीनता युगों युगों तक व्यक्ति को प्रेरणा देती रहेगी। जम्भ जी के नायक विष्णु का अवतार लेना धर्म की मर्यादा की स्थापना करना है। वे स्वयं कहते हैं कि जब भी धर्म की हानि होती है तो मैं (विष्णु) धर्म रक्षा हेतु अवतार लेता हूं।

तेतीसां कीवरग वहां म्हे, वांस काजै आयों,
बारा थाप घणा न ठाहर, मतांतो डीले डीले कोड़ रचायो॥
म्हे ऊंचे मण्डल का रायो।[2]

रावण, दुर्योधन, कीचक, हिरण्याकश्यप आदि का वध का कारण अधर्म ही था।

वस्तुतः भारतीय संस्कृति की यह मान्यता है कि जब-जब संसार में धर्म का प्रभाव घटने लगता है और पृथ्वी पर अधर्म छा जाता है तब युग-युग में भगवान का अवतार होता है। जम्भ जी ने इसी मान्यता को प्रतिष्ठित किया है।

१— यतः प्रवृतिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्च सिद्धिं विन्दति मानव॥
गीता अध्याय १८ श्लोक ४६.

२— शब्दवाणी जम्भसागर, २६/७, कृष्णानन्द आचार्य, प्रिंटर्स ऋषिकेश हरिद्वार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जम्भ जी का धर्म कोई खोखला आडम्बरवाद नहीं है। वे सदाचार की प्राप्ति के लिए तथा धार्मिक जीवन बिताने के लक्ष्य से राग द्वेष आदि अवगुणों की निवृति को परमावश्यक समझते थे। जिन धर्मसूलक आदर्शों को अपनाने का संकेत उन्होंने जगह-जगह पर किया है। उनका स्रोत वेद पुराण स्मृतियां आदि धर्म ग्रन्थ ही रहे हैं। वे स्वयं स्वीकार करते हुये कहते हैं कि 'भोरा उपरुयान वेदू'' शब्द, १४ सामान्य धर्म की जो चर्चा स्मृतिकारों ने की है जम्भ जी ने बड़े सुन्दर ढग से अपने ग्रन्थ में उनका वर्णन किया है।

सामान्य धर्म : जो मनुष्य अभ्युदय और निःश्रेयस की कामना करते हैं, उनके लिए सामान्य धार्मिक आदर्शों का परिपालन करना आवश्यक है। जम्भ जी ने शाश्वत आदर्शों का परिपालन करना आवश्यक बताया है जम्भ जी ने शाश्वत आदर्शों को एक व्यक्ति विशेष के सामने रखकर प्रस्तुत नहीं किया बल्कि जो व्यक्ति उत्कण्ठा से भरा हो, या संगोष्ठि रुप में उनसे कुछ पूछता है वे उन्हें उसी प्रकार इनका वर्णन उनके सम्मुख प्रस्तुत करते है। जो उन्होंने समाज के सम्मुख सामान्य धर्म बताये हैं वे इस प्रकार हैं— सत्य, अहिंसा, शील, बल, विवेक, दम, परहित क्षमा, दया, समत्व भाव, धैर्य, वैराग्य, सन्तोष, दान, बुद्धि, विज्ञान, निर्मल मन, शम, यम–नियम, ईश्वर भजन तथा गुरु पूजा को जीवन के समरांगण में रावण, कीचक, हिरणाकश्यप रुपी अधर्म पर विजय प्राप्त करने का साधन बताया है। इन सभी आदर्शों में लोक-कल्याण की भावना और आत्मोत्थान अन्तर्निहित है। इन्हीं आदर्शों को जम्भ जी स्थान-स्थान पर प्रतिपादित करते दिखाई पड़ते हैं।

सत्य : सभी धर्म ग्रन्थों में सत्य को धर्म का स्तम्भ माना गया हैं। उपनिषदों में ''सत्यमेव जयते नानृतम् का उद्घोष किया है। जम्भ जी भी उसी आदर्श का प्रतिपादन जगह-जगह पर करते हैं।

सुवचन बोल सदा सुहलाली।[3]

चोरी निन्दा झूठ बरजियो, वाद न करणो कोय।[4]

चन्द सूर दोय बैल रचीलो, गुङ जमन द्रोय रासी।

सत सन्तोष दोय बीज बीलीलो, खेती खड़ी अकासी।[5]

जम्भ जी कहते हैं कि व्यक्ति को देश का भला सोचते हुये सत्य मार्ग पर अडिग रहे जैसे राजा हरिश्चन्द्र।

३— वही ७८/१

४— वही २९ नियमों में १३ वां भाग

५— वही १०८/१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

—तारा दे रोहितास हरिश्चन्द्र, काया दशबन्ध दीयों।

शीलः— शील धर्म का प्रमुख अंग और परम भूषण है। समस्त प्राणियों के प्रति अद्रोह की भावना और व्यवहार में शालीनता तथा शिष्टाचार को ही शील कहा जाता है। जम्भ जी कहते हैं कि शील हर व्यक्ति में होना चाहिए—

ओऽम सहजे शीले सेज बिछायों, उनमन रहया उदासूं।[6]

शील स्नाने संजमें चालो, पाणी देह पखाली।

गुरु के वचने निव खिव चालो, हाथ जपो जप माली।[7]

तिरया दानू कछु न मानूं, मानू एक सुचील सिनानूं।[8]

सेरा करो स्नान्, शील शन्तोष शुचि प्यारो।[9]

जिस व्यक्ति में शील भावना नही है वह यमपुरी मे भी सताता जाता है इस पर जम्भ जी कहते हैं कि—

शील विवरजित दुहेलो, यमपुरी में संताईये।[10]

आगे कहते है कि बिना शील का व्यक्ति कुटिलता से भरा होता है—

जां जां पाले न शोलू. तां तां कर्म कुचीलूं॥ए

बल : बल के अन्तर्गत शरीर बुद्धि तथा आतमा तीनों के बल को ही गिना जाता है। बलहीन व्यक्ति न पाप से संघर्ष कर सकता है न ही अकिंचन होकर धर्म का पालन कर सकता है। जम्भ जी ने अपने ग्रंथ में राम कृष्ण युधिष्ठिर का जगह-जगह सन्दर्भ देकर बल का वर्णन दर्शाया है।[11]

६— वही शब्द १०७
७— वही ८६/५.
८— वही १०४/१
९— २९ नियम का ३
१०— वही ३०/१०.
ए— वही—५८/१२.
११— वही शब्द १०.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विवेक : सत् और असत् को पहचान कर सत् को ग्रहण करना ही विवेक का लक्षण है और लौकिक तथा पारलौकिक दोनों प्रकार के धर्मों में इसका विशेष महत्व है। जम्भ जी ने जगह-जगह इसके उदाहरण प्रस्तुत किये हैं— एक राजा को जम्भ जी ने कहा कि यह धन दौलत सब झूठी है परमात्मा ही सत्य है ।

ओऽम सासूं, तईया मांसूं, रक्तूं रुहींयूं, खीरु नीरु ज्यूं कर देखूं ।

ज्ञान अन्देसू भूला प्राणी कहे सो करणों । [12]

दम : मनुस्मृति में धर्म के लक्षणों में दम को धर्म का लक्षण माना है । दूसरों के प्रति अपनी बुरी भावनाओं का दमन करना, अपवित्र विचारों को मन में न आने देना और निर्भयतापूर्वक मानसिक रोगों से बचे रहना ही दम कहलाता है । व्यर्थ कामनाओं की निवृति से मनुष्य दम का अभ्यासी हो जाता है और उसके अन्दर त्याग वृति उत्पन्न हो जाती है जम्भ जी ने इसका उदाहरण उस समय प्रस्तुत किया है ।

जब नरेश लूणकरण ने अपने बेटे प्रताप को तो युद्ध के लिए घोड़ा दे दिया पर बड़े बेटे जेतसी को नहीं दिया तब वह जम्भ जी के पास आकर पूछता है कि यह सब क्या है तब जम्भ जी कहते हैं किसी के प्रति द्रोह न रखो बस यही सन्देश है ।[13]

परहित : महर्षि वेदव्यास ने १८ पुराणों का निचोड़ निकालकर धर्म का सार बताते हुये परोपकार को समस्त पुण्यों का मूल बताया है । जम्भ जी ने अपनी वाणी में जगह जगह इसकी चर्चा की है ।

सता सन्तोषी सत उपकरणां, म्हे तजिया मान अभिमानू ।[14]

संसार में उपकार ऐसा, ज्यूं घण बरषंता नीरु ।

संसार में उपकार ऐसा, ज्यूं रूही मध्ये खीरूं ।।[15]

अतः यही सन्त लोगों की पहचान है कि वे हमेशा परहित में लगे रहते हैं परोपकार ही परम धर्म है ।

क्षमा : सामर्थ्यवान् व्यक्ति अपराधी को दण्ड न देकर उसको क्षमा करके सुधार देता है, नैतिक दृष्टि से यह बड़ा महत्व शाली गुण माना गया है । महाभारत में ।

१२- वही—१७/१.

१३- वही—विस्तृत दृष्टव्य—वही शब्द ६४/१३.

१४- वही, शब्द, ६९·

१५- वही, ६६/४·

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तुष्टिर्मोक्षबाधिका

लेखक:— डा० विजयपाल शास्त्री
रीडर एवं अध्यक्ष
दर्शन विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

योगाभ्यास भूमिकायां सन्तोष: परमं साधनम् । सन्तोषजलेन क्षालिता चित्त भूमि निर्मलत्वमापन्ना समाधियोग्यत्वमधि गच्छति । समाहितं चित्तं सत्व पुरुषान्यता-ख्याति रूप विवेक साक्षात्काराय समर्थो भवतीति पातञ्जल योग वादिनामभिमतम् । "सन्तोष: परमं सुखम्" "सन्तोषादनुत्तम: सुखलाभ:" इत्यपि च योगतत्त्व विदां मतम् किन्तु मोक्षभूमिकायां स एव सन्तोषो महान् प्रत्यूह:' इति साख्यानां वचनम् । तुष्टि र्मोक्षस्य परिपन्थिनी योगसिद्धीनां चांकुशरूपिणी विद्यते । 'सिद्धे: पूर्वोऽङ्कुशस्त्रिविध:" इति सांख्याचार्य ईश्वर कृष्णो ब्रूते ।

मोक्षबाधिका तुष्टिरियं नवधा सांख्यै: समुद्दिष्टा । प्रकृत्युपादान काल भाग्या: पञ्च आध्यात्मिक्यस्तुष्टय: । शब्दोपरम:, स्पर्शोपरम:, रूपोपरम: रसोपरम: गन्धोपरमश्चेति पञ्च बाह्यास्तुष्टय: इति नव तुष्टयो भवन्ति । एता एव तुष्टय:, क्रमश: — अम्भ: सलिलं मेघो वृष्टि: पारं सुपारं पारापारं अनुत्तमाम्भ: उत्तमाम्भश्च कथ्यन्ते । एतास्तुष्ट्यो योगसाधकस्य चित्तं सम्मोह्य मोक्षमार्गात् प्रच्यावयन्ति । एतासां स्वरूपं तत्त्वतो विज्ञाय साधकेन सावधानेन भवितव्यम् ।

१- प्रकृति तुष्टि:— कश्चिदनाप्त: पुरुष: स्वशिष्यायोपदिशति — "विवेकसाक्षात्कारो बुद्धे: परिणाम विशेषो विद्यते, प्रकृतिरेव तं करोति, तस्मात् को लाभ: श्रवणादि-भिरुपायै: ? एवमेव सन्तुष्टो भूत्वा तूष्णीमास्स्वेति" । इत्थं श्रुत्वा उपदेष्टव्यस्य शिष्यस्य या तुष्टि: सा प्रकृतिरुच्यते । इयमेव तुष्टिरम्भोनाम्नाऽपि व्यपदिश्यते । अम्भो जलनाम । यथा जलं निमज्जने हेतु: तथैवेयं तुष्टिरपि संसारपातने हेतु: । तत्सादृश्यात् प्रकृति तुष्टि: अम्भ इत्युच्यते ।

२- उपादानम्— "विवेकख्याति: प्रकृतिमात्रान्न भवति । यदि प्रकृतिरेव विवेक साक्षात्कारे हेतुर्भवेत् तदा तु तस्या: सर्वान् प्रत्यविशेषात् सर्वस्य सर्वदा सममेव विवेक ख्यातिरुदियात् । तस्मान्न केवलं प्रकृत्या: विवेकसाक्षात्कार: अपितु प्रव्रज्यैव केवलं विवेक प्राप्तौ हेतु: । "यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेदिति श्रुतिरत्र प्रमाणम् । तस्मात् हे वत्स ! प्रव्रज्यैव केवलमुपादेया । त्यज ध्यानाभ्यासादीनि साधनानि" इति केनापि उपदिष्टे सति उपदेष्टव्यस्य शिष्यष्य या तुष्टि: सा उपादान तुष्टि: ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अस्याभिप्रायो यत् प्रव्रज्ययाऽपि न विवेक ख्याति रुदेति । यः प्रव्रज्यामेव, मोक्ष-साधनं मन्यमानः ध्यानाभ्यासादीन् विहाय सन्तुष्टो भूत्वा विरमति, स परम पुरुषार्थं न प्राप्तुं शक्नोति । सेयं तुष्टिः सलिल नाम्नाऽप्यभिधीयते । सलिलं यथांऽकुरं प्रति सहकारि कारणं भवति तथैव प्रव्रज्याऽपि विवेक-साक्षात्कारस्य सहकारि कारणं विद्यते । साक्षात्कर्तृभिः उपादीयमानत्वात् इयमुपादान तुष्टि निगद्यते ।

३– कालतुष्टिः– "सन्न्यासेनापि केवलेन न सद्यः मोक्ष प्राप्तिः सम्भवति । सन्न्यासोऽपि कर्म परिपाकमपेक्ष्यैव समुचिते काले समागते एव विवेक साक्षात्कारं कारयिष्यति । कृषिरिव सर्वाणि कार्याणि कालमेव अपेक्षन्ते । "समय एव करोति बलाबलम्" इति स्मृतिरत्र प्रमाणम् । तस्मात् हे वत्स ! त्वया विवेक साक्षात्कारे त्वरा न विधेया । कालं प्रतीक्षमाणस्तूष्मीमास्स्व । काले स्वयमेव निर्वाणं भविष्यति" इत्युपदेशे या तुष्टि र्जायते सा कालाख्या तुष्टिः । इयं तुष्टिः मेघापरपर्याया । यथा मेघो वृष्टेः साधनम्, तथैव कालोऽपि मोक्षस्य साधारणं कारणमिति सादृश्यात् इयं तुष्टिर्मेघ उच्यते ।

४– भाग्य तुष्टिः– न प्रकृतेर्न सन्न्यासात्, नापि कालात् मुक्ति र्भवति, अपितु भाग्यादेव सा भवति । यदि भाग्ये विवेक साक्षात्कारो भविष्यति तदा स स्वयमेव अनाया सेनैन लब्धो भविष्यति, अलं पुरुषार्थेन । "भाग्यं फलति सर्वत्र न बुद्धि र्न च पौरुषम्" "यत्पूव विधिना ललाट लिखितं तन्मार्जितुं कः क्षमः इत्यादि स्मृति बलात् भाग्यमेव मोक्ष साधनंसिध्यति । अत्र मदालसायाः पुत्रा उदाह्रियन्ते । "त्वं शुद्धोऽसि, बुद्धोऽसि मा रुदिहि, दुःख नात्मधर्मः" इति मदालसाया उपदेशेन तस्या एक हायनाः पुत्रा विवेकख्याति - लाभात् मुक्ता बभूवुः । भाग्येनैव सर्वमिदं जातम् । भाग्यादेव एतादृशी माता समुपलब्धा, भाग्येनैव च तादृश उपदेशो जातः । तस्मात् भाग्यमेव विवेक साक्षात्कारस्य मुख्यं साधनम्" इत्युपदेशे सति शिष्यष्य या तुष्टि र्जायते सा भाग्याख्या तुष्टिः । इयं तुष्टिः वृष्टि नाम्नाऽपि भण्यते । अकस्मात् विवेकख्यातिवर्षणादियं वृष्टिरित्याख्यायते । इति प्रकृत्युपादान कालभाग्याख्याः चतस्र आध्यात्मिक्यस्तुष्टयः ।

५– पारा तुष्टिः– वैराग्यस्य पञ्च हेतवः

१— धनादीनामर्जने दोषदर्शनम् ।

२— रक्षणे दोषदर्शनम् ।

३— क्षये दोषदर्शनम् ।

४— भोगे दोष दर्शनम् ।

५— हिसायां च दोष दर्शनम् ।

एतै र्हेतुभिः पञ्च विषयेभ्यो या उपरतिः सैव पञ्चविधा बाह्यास्तुष्टयः । यथा—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रथमा पारनाम्ना तुष्टिः धनार्जनोपायेषु सेवादिषु दोषदर्शनाद् भवति । धनोपार्जने सेवकानां महान् क्लेशो जायते । भृत्याः स्वामिनः सकाशाद् अपमानं सहन्ते, दण्डधारिणां दण्डै राहता भवन्ति । को वै प्राज्ञः तादृशीषु सेवासु सज्जो भवेत् कथितं शास्त्रेषु–

दृप्यद् दुरीश्वर द्वाःस्थ
दण्डिचण्डार्धचन्द्रजाम् ।
वेदनां भावयन् प्राज्ञः
कः सेवास्वनु षज्जते ॥

इत्थं धनार्जनोपायेषु सकलेष्वपि दोषदर्शनाद् बाह्यविषयेषु वैराग्य बुद्धि र्जायते । एतेन वैराग्येन या तुष्टिः साधकस्य मनसि समुत्पद्यते सा पारा तुष्टिः कथ्यते । धनार्जन दुःखस्य पारं गमयति, इत्यस्मात्कारणादियं पारसंज्ञां लभते ।

६– सुपारा तुष्टिः– "महता प्रयत्नेनोपार्जितानि धनानि राजा आहरति, चौरश्चोरयितुं शक्नोति, लुण्ठका लुण्ठन्ति भूकम्प जलौधादिभि दैवसंकटै र्नष्टा भवन्ति । इत्थं धनानां रक्षणे महान् कष्टो जायते । को न्वेषां विषयाणां रक्षणेऽनुषज्जेत" इत्थं भावयतो योगिनः चेतसि या वैराग्य बुद्धि र्जायते, तयैव चेत् स्वात्मानं कृतकृत्यं मन्यमानस्तुष्टिं भजन् साधको ध्यानाभ्यासादीन् प्रजहाति सैषा तुष्टिः सुपारा निगद्यते । सुतरां दुःखपारं गमयितृत्वादियं सुपार संज्ञां भजते ।

७– पारापारा तुष्टिः– विषयाणां क्षयदोषदर्शनात् पारापारा तुष्टिरुत्पन्ना भवति । अर्जितं रक्षितं चापि धनं शनैः शनै र्भुज्यमान क्षयमापद्यते । एवं भावयतो योगिनो विषयोपरमे या तुष्टिः सा पारापारा । यदा विषयेषु अप्रवृत्ति स्तदा स दुःखस्य पारं यदा च प्रवृत्ति स्तदा स दुःखस्यापारः । इत्थमियं पारापार संज्ञां दधाति ।

८– अनुत्तमाम्भ तुष्टिः– विषयाणां भोगेषु दोष - दर्शनाद् विषयोपरमे या तुष्टिः सा अनुत्तमाम्भः संज्ञा लभते । विषयाणां भोगात् कामाः न शाम्यन्ति किन्तु घृतेनाग्निरिव प्रतिदिनं वर्धन्त एव । विषया यदा न प्राप्यन्ते तदा कामी दुःखमनु भवति । इत्थं भोगेषु दोषदर्शनात् योगिनश्चेतः विषयेभ्य उपरमति । तेनैवोपरमेन चेद् साधकस्तुष्टो भूत्वा मोक्षानुसन्धान विजहाति, सेयं तुष्टिः अनुत्तमाम्भः कथ्यते ।

निरन्तरं भोगान् भुञ्जाना अपि सुधियो जनाः तेषु दोषदर्शनेनापि तेभ्यो न विरमन्ति । इत्थमियं दोष दृष्टिः सुतरां भोगेषु घृणां वैराग्तबुद्धि वा न जनयति, तस्मात् कारणादियं विषयोपरतिरुत्तमा न विद्यते । तेनेयं अनुत्तमाम्भ इत्यन्वर्थां संज्ञां दधाति ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

९– उत्तमाम्भः तुष्टिः– विषयेषु हिंसा दोषदर्शनात् विषयोपरमे या तुष्टिः सा उत्तमाम्भा तुष्टिः कथ्यते। हिंसां विना विषयोपभोगो न सम्भवति। अस्माभिः भुज्यमानेषु घृत दुग्धान्नपानादिषु बहवः प्राणिनो वसन्ति। कृष्यादि साधनेष्वपि प्राणि हिंसा दुर्निवारा। हिंसया पातकमेव भवति। पातकाच्च दुःखमेव जायते। इत्थं विचिन्त्य हिंसादोषदर्शी साधकः विषयेभ्य उपरमति। एतेन विषयोपरमेन या तुष्टि जायते सा उत्तमाम्भ संज्ञां लभते। अहिंसा कारणादियमस्यान्वर्थ संज्ञा।

एवमेता नव तुष्टयो मोक्षपरिपन्थिन्यः। एताः साधकस्य यौगिनश्चेतांसि मोहयन्ति मोक्षाभिरुचिं च प्रतिवध्नन्ति। तुष्टि जाल निबद्धाः साधकाः श्रवण मनन निदिध्यासनादीनि साधनानि त्यजन्ति, पुनरेवते संसारकूपे एव पतान्ति। तस्मान्मोक्षाधिगतिपर्य्यन्तं साधकेन सावधानेन निज चेतः तुष्टिभ्यः परिहर्त्तव्यम्।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुरुकुल-पत्रिका

मासिक शोध पत्रिका

MONTHLY RESEARCH MAGAZINE

सम्पादक
डा० जयदेव वेदालंकार

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुरुकुल पत्रिका

मासिक शोध पत्रिका

MONTHLY RESEARCH MAGAZINE

सम्पादक :

डा० जयदेव वेदालंकार

न्यायाचार्य, पी-एच०डी०, डी०लिट्०

सीनियर प्रोफेसर– दर्शन विभाग

एवं

अध्यक्ष - (डीन) प्राच्य विद्या संकाय

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

वैशाख से भाद्रपद	वर्ष ४५	संयुक्तांक - अप्रैल से सितम्बर, ९३ तक

मूल्य–१५ रुपये मात्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकाशक :—

कुलसचिव

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

मूल्य— २५ रुपये (वार्षिक)

मुद्रक :– किरण प्रिंटिंग प्रेस, निकट गुरुकुल काँगड़ी फार्मेसी, हरिद्वार फोन-४२५९७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्पादक मण्डल :

मुख्य संरक्षक : डा० धर्मपाल
कुलपति

संरक्षक : प्रो० रामप्रसाद वेदालंकार
आचार्य एवं प्रो-वाइसचान्सलर

परामर्शदाता : डा० विष्णुदत्त राकेश
प्रोफेसर- हिन्दी विभाग

सह सम्पादक : डा० विजयपाल शास्त्री
रीडर एवं अध्यक्ष– दर्शन विभाग

व्यवसाय प्रवन्धक : डा० जगदीश विद्यालंकार
पुस्तकालयाध्यक्ष

प्रबन्धत्क : श्री हंसराज जोशी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय-सूची

क्र.सं.	विषय का नाम	लेखक का नाम	पृष्ठ संख्या
१—	श्रुति सुधा	ऋग्वेद से	i
२—	सम्पादकीय	डा० जयदेव वेदालंकार	iii–v
३—	ब्रह्म दर्शन	प्रो. भद्रसेन वेद दर्शनाचार्य (होशियारपुर) १४६०२१	१—१६
४—	'मैंडम ब्लेवेद्स्की के स्वामी दयानन्द विषयक संस्मरण' (एक महत्वपूर्ण शोधपत्र)	प्रो. भवानीलाल भारतीय रत्नाकर ८-४-२३ नन्दन वन जोधपुर (राजस्थान)	१७—३०
५—	आर्य शिक्षा पद्धति और स्वामी दयानन्द	डा. सत्यवीर विद्यालंकार ७८ एम.सी. कालौनी हिसार	३१—५०
६—	सामन्तवाद और हिन्दी साहित्य	डा. भगवान देव पाण्डेय हिन्दी विभाग गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय	५१—६३
७—	सांख्य-निरीश्वरवाद एवं ईश्वरवादी तत्त्व	डा. इन्दु पाण्डेय प्रवाचिका दर्शन विभाग हे०न०ब० गढ़वाल विश्वविद्यालय श्रीनगर (गढ़वाल) उ.प्र.	६४—७४
८—	वैदिक साहित्य में अद्वैत तत्त्व	सुश्री अर्चना श्रीवास्तव बुद्ध नगर रुस्तमपुर गोरखपुर (उ०प्र०)	७५—८१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

६	डा० शिवशरण का संस्कृत हास्य-व्यंग्य	गोपाल द्विवेदी ५१, विनय नगर, खण्ड-१, जेल मार्ग, ग्वालियर, म०प्र० ४७४०१२	८२—८७
१०-	वैष्णोई सम्प्रदाय के महत्व की विवेचना	डा० रोहतास कुमार भैरवोखान सिरसा (हरियाणा) १२५०५५	८८—९५
११-	कालिदास के काव्यों में वर्णाश्रम व्यवस्था	अनीता सक्सेना ५६०, चित्र गुप्त कालौनी कासगंज (एटा) २०७१२३	९६—१०२
१२-	पर्यावरण-अध्ययन का महत्व	एस०पी० सिंह केन्द्रीय विद्यालय नं० १, बी.एच.ई.एल., हरिद्वार	१०३—१०७
१३-	कुलभूमि गौरवम् (कविता)	रचियता- डा० सत्यदेव निगमालंकार रीडर संस्कृत विभाग जयभारत साधु महाविद्यालय हरिद्वारम्	१०८—११४
१४-	वेद शब्द विमर्शः—	डा० दिनेश चन्द्र, वेद विभाग गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार	११५—११६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रुति सुधा

रथे तिष्ठन्नयति वाजिनः पुरो यत्रयत्र कामयते सुषारथिः ।
अभीशूनां महिमानं पनायत मनुः पश्चादनु यच्छन्ति रश्मयः (यजु० पृ०२९ म० ११-४३

पदार्थः— हे विद्वानों (सुषारथिः) सुन्दर सारथि घोड़ों वा अग्न्यादि को नियम में रखने वाला रमण करने योग्य पृथिवी जल वा आकाश में चलाने वाले यान में (तिष्ठन्) बैठा हुआ (यत्रयत्र) जिस जिस संग्राम वा देश में (कामयते) चाहता है वहां वहां (वाजिनः) घोड़ों वा वेग वाले अग्न्यादि पदार्थों को (पुरः) आगे (नयति) चलाता है जिनका (मनः) मन अच्छा शिक्षित (रश्मयः) लगाम की रस्सी वा किरण हस्तगत है (पश्चात्) पीछे से घोड़ों व अग्न्यादि का (अनु यच्छन्ति) अनुकूल निग्रह करते हैं उन (अभीशूनाम्) महत्व की तुम लोग (पनायत) प्रशंसा करो ।

भावार्थः— जो राजा और राजपुरुष चक्रवर्ती राज्य और निश्चल विजय चाहें तो अच्छे शिक्षित मन्त्री अश्व आदि तथा अन्य चलाने वाली सामग्री अध्यक्षों शस्त्र अस्त्रों और शरीर आत्मा के बल से अवश्य सिद्ध करें ।

(महर्षि दयानन्द के यजुर्वेद भाष्य से)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डा० धर्मपाल
कुलपति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्पादकीय

विश्वविद्यालय के नये परिद्रष्टा

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की शिष्ट परिषद् ने अपनी बैठक दिनांक १६-४-६३ को सर्व सम्मति से जस्टिस श्री महावीर सिंह को विश्वविद्यालय का परिद्रष्टा नियुक्त किया है। जस्टिस श्री महावीर सिंह जी इलाहाबाद उच्च न्यायालय के अवकाश प्राप्त न्यायाधीश हैं। श्री महावीर सिंह जी को न्याय प्रियता के लिये जहां-जहां पर वे न्यायाधीश रहे, आज भी सम्मान के साथ याद किया जाता है। आपकी आर्य समाज के सिद्धान्तों में गहरी निष्ठा है। इसीलिये आप सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा की न्यायार्य सभा के अध्यक्ष हैं। न्याय-आर्य सभा में आर्य समाजों एवं आर्य प्रतिनिधि सभाओं के विवादों का निपटारा किया जाता है। इन सभाओं के विवादों के निपटारे भी आप "दूध का दूध और पानी का पानी" की कहावत के अनुसार करते हैं। आप के उन निर्णयों को दोनों पक्ष सहज रूप में स्वीकार करते हैं।

जस्टिस महावीर सिंह जी ने भारतीय संविधान का हिन्दी अनुवाद अपनी विद्वतापूर्ण टिप्पणियों सहित किया है। बड़े–बड़े विधि विशेषज्ञ भी आप के अनुवाद की प्रशंसा करते हैं। आप अत्यधिक सरल व्यक्ति हैं, कानून के पोषक, सत्य, न्याय प्रिय और गम्भीर व्यक्तित्व के महापुरुष हैं।

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के परिद्रष्टा के रूप में "गुरुकुल पत्रिका" परिवार आपका हार्दिक स्वागत करता है।

नये कुलपति का स्वागत

विश्वविद्यालय के परिद्रष्टा जस्टिस महावीर सिंह जी ने डा॰ धर्मपाल, मन्त्री आर्यप्रतिनिधिसभा दिल्ली को दिनांक ३०-६-६३ को गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय का कुलपति नियुक्त किया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डा० धर्मपाल जी दिल्ली के आर्यसमाजी क्षेत्रों में लगभग २० वर्ष से समाज सेवा में दिन रात लगे हुये हैं । दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के आप सर्वप्रिय नेता माने जाते हैं, इसलिये ही आपने आर्य प्रतिनिधि सभा दिल्ली के प्रधान एवं मन्त्री पदों को अनेक बार सुशोभित किया है और अभी भी कर रहे हैं ।

आप महर्षि दयानन्द के अनन्य भक्त हैं । महर्षि दयानन्द के निर्वाण एवं उनके अनेक कार्यक्रमों को प्रकाश में लाने के लिये टी०वी० पर कार्यक्रमों में सक्रिय भाग लेते रहे एवं कार्यक्रमों का आयोजन करते रहे हैं । डा० धर्मपाल जी आंग्ल भाषा एवं हिन्दी साहित्य से एम०ए० हैं । हिन्दी साहित्य के गम्भीर विषय में आपने डाक्टरेट (पी०एच०डी०) की उपाधि दिल्ली विश्वविद्यालय से प्राप्त की है । आप लगभग ३० वर्षों से शिक्षा जगत् से जुड़े हुये हैं । एन०सी०ई०आर०टी० आदि के पाठ्यक्रम एवं शिक्षा सुधारों में विषय विशेषज्ञ के रूप में सक्रिय भाग लेते रहे हैं । सम्प्रति आप दिल्ली विश्वविद्यालय में हिन्दी साहित्य के उद्भट्ट विद्वान् के रूप में माने जाते हैं, वहीं पर सेवारत थे । आर्य समाज के नेता, शिक्षा शास्त्री, अपने विषय के उद्भट्ट विद्वान् होने के साथ - साथ आप विनयशील एवं श्वेत वस्त्रों में साधु व्यक्ति है ।

आप गुरूकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के कुलपति नियुक्त हुये हैं. आप पर यह एक गुरुतर भार भी है । आप से यह आशा की जाती है कि गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय जहां प्राच्य विद्याओं का प्रतिष्ठान एवं अर्वाचीन विषयों के संस्थान के रूप मे प्रसिद्ध है वहां यह सस्था अन्य सामान्य विश्वविद्यालयों से विशिष्ट चरित्र रखती हुई राष्ट्रीय चेतना एवं वैदिक मूल्यों के थाती के रुप में प्रख्यात होगी । आप के कार्यकाल में यह विश्वविद्यालय दिन दुगनी रात चौगुनी उन्नति के शिखर पर प्रतिष्ठित हो, ऐसी हमारी कामना है ।

आप का नये कुलपति के रूप में ''गुरुकुल पत्रिका'' परिवार को ओर से हार्दिक स्वागत एवं अभिनन्दन है ।

जयदेव वेदालंकार
सम्पादक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्रह्मदर्शन

प्रा० भद्रसेन वेद-दर्शनाचार्य (होशयारपुर) १४६०२१

दर्शनाचार्य का जब नया सत्र समारम्भ हुआ, तो वेदान्त[1] के दर्शन के पाठ्यक्रम में प्राध्यापक ब्रह्मानन्द जी ने दर्शन के अर्थ, परिभाषा के प्रसंग में वेदान्द शब्द के अभिप्राय और सम्बन्ध को समझाते हुए ग्रन्थ का एक सामान्य परिचय दिया। अगले दिन जब छात्र पुनः अध्ययन के लिए बैठे, तो ब्रह्मदेव ने कहा—गुरु जी ! कल आपने बताया था, कि वेदान्त दर्शन में ब्रह्मजिज्ञासा का समाधान है। यह ब्रह्म शब्द साहित्य में अन्यत्र भी आया है। अतः ग्रन्थ के शुभारम्भ से पूर्व उस-उस विषय के ग्रन्थों में आए ब्रह्म के विवेचन से परिचित करा दें, तो हमारे लिए विषय बोध सरल हो जाएगा ?

प्राध्यापक— ब्रह्मदेव ! तेरी यह जिज्ञासा बहुत ही उपयुक्त है। अतः आइए। पहले इसी पर ही विचार करें। जैसा कि तुम सब जानते हो, कि संस्कृत भाषा की दृष्टि से मूलशब्द है- ब्रह्मन्। जो कि बृह धातु से मनिन प्रत्यय के होने पर सिद्ध होता है। अतः ब्रह्म शब्द की मूल धातु है— बृह, जो कि वृद्धि के अर्थ में आती है। इस लिए इसका तात्पर्य है— **बड़ा।**

ब्रह्मप्रकाश— गुरु जी ! कल के पाठ के पश्चात् में पुस्तकालय गया था। वहां मैंने एक नई पुस्तक बड़ी सुन्दर जिल्द वाली देखी। जब मैंने उसको खोलकर देखा, तो वह शब्दकोष था और उसमें ब्रह्म, ब्रह्मन् शब्द के- 'सच्चिदानन्द-स्वरुप परमात्मा, जगत् का मूलतत्त्व, हिरण्यगर्भ, वेद, सत्य, प्रणव, योग, तप, तत्त्व, विप्र, ऋत्विग् विशेष [ब्रह्मा] आदि अनेक अर्थ लिखे हुए थे ?

प्राध्यापक— इन सभी अर्थों पर जब हम विचार करते हैं तो एक बात स्पष्ट होती है, कि जो जिस-जिस प्रकरण, क्षेत्र, विषय में बड़ा है। उस को वहां तदनुरूप

१- वेदान्त शब्द वेद+अन्त इन दो केमेल से बनता है। अन्त शब्द यहां सिद्धान्त के अर्थ में है। अर्थात वेद के मुख्य सिद्धान्त [प्रतिपाद्य विषय, ब्रह्म] का जिस में विचार है, वह वेदान्त दर्शन है। सर्वे वेदा यत्पदम् कठ उप. २,१५ के अनुसार वेद का मुख्य प्रतिपाद्य ब्रह्म ही है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्रह्म कहा गया है। जैसे कि भारतीय साहित्य के वैदिक वाङ्मय में विशेष-विशेष यज्ञों को कराने वाले चार व्यक्ति [ऋत्विक] होते हैं- होता, उद्गाता, अध्वर्यु और ब्रह्मा। इन सब का मुखिया ब्रह्मा होता है।[2] अन्य उसकी अनुमति से ही अपना अपना कार्य करते हैं। अतएव इस बड़ेपन के कारण उस को उस प्रकरण में ब्रह्मा [बड़ा] कहा जाता है। ब्रह्मा के स्वरूप की चर्चा में मन के साथ उसका सम्बन्ध एवं तुलना दर्शाई गई है।[3] जैसे आँख, कान आदि इन्द्रियों की अपेक्षा मन इनका नियन्त्रक है।[4] यही कुछ स्थिति यज्ञ में अन्यों की अपेक्षा ब्रह्मा की होती है। इस लिए इस विश्लेषण में मूलसूत्र है- बड़ापन। संसार में जिस-जिस आधार से जहां कहीं जो कोई बड़ा है, वह वहां ब्रह्म कहलाता है। अतः अकेले या समस्त पद के रूप में जहां-जहां ब्रह्म शब्द प्रयुक्त हुआ है, वहां सर्वत्र यही भावना है।

ब्रह्म स्वरूप- गुरु जी! आपने इस विश्लेषण में ब्रह्म का जो मोटा सा अर्थ - **बड़ा** बताया है। उससे मुझे हिन्दी का एक पद्यांश स्मरण आ रहा है। यदि अनुमति हो, तो मैं वह अंश अभिव्यक्त कर दूं?

प्राध्यापक- मैं भी यही चाहता हूं, कि यह जिज्ञासा की भावना तुम सब में प्रस्फुटित हो, क्योंकि जिज्ञासा की स्थिति में विचार चर्चा का विशेष आनन्द आता है। अतः वह पद्यांश अवश्य सुनाओ!

ब्रह्मस्वरूप- सब से बड़ा रुपय्या न कोई भैय्या, न कोई मैय्या।

प्राध्यापक- हां, एक अन्य कवि श्री गिरिधर ने भी कहा है--

सांई सब संसार में पैसे का व्यवहार, जब तक पैसा पास में तब तक ताको यार।
तब तक ताको यार-यार संग ही संग डोले पैसा रहा न पास यार मुख से नहीं बोलै॥

२- ऋ. १०,७१।।ऋचांत्वः पोषमास्ते-और इसकी व्याख्या निरूक्त १,३ तथा सायणभाष्य में द्रष्टव्य हैं।

३- मनसा एव ब्रह्मा यज्ञस्य अन्यतर पक्ष संस्करोति-गोपथ ब्राह्मण ३,२

४- एकादशं मनो ज्ञेयं स्वगुणेनोभयात्मकम्। यस्मिञ्जिते जितावेतौ भवतः पञ्चकौ गणौ।।मनु. २,९२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कह गिरिधर कविराय

हाँ, कवि के समय यह बात कितनी स्पष्ट थी, यह तो वही जाने, पर आज तो यह बात शत प्रतिशत चरितार्थ हो रही है। आज तो उच्चपदों पर आसीनों और करोड़ों में खेलने वालों के निन्यानबे के जो घटनाचक्र सामने आ रहे हैं। उन्होंने भर्तृहरि के भावों को पूर्णतः चरितार्थ कर दिया है—

'निश्चय ही जग में गुण सारे कंचन में करते हैं वास' [5]
'बिना एक जिस के गुण सारे हैं तृण के टुकड़े समव्यथ' [6]

गोपाल दास गुप्त

ऐसी स्थिति में ब्रह्म स्वरूप ! तेरी पंक्ति यथार्थ ही है, कि सबसे बड़ा रूपय्या— क्योंकि आज की दुनिया और जीवन में धन ही परम ब्रह्म प्रतिभासित होने लगा है। तभी तो गोपाल प्रभाकर ने लिखा है—

'अर्थ की धुरी पर	पैसा
घूम रही है दुनिया	जीवन है, संस्कृति है
अर्थ के आकर्षण से बन्धे हुए	आरम्भ है इति है
सारे लोग	सुरक्षा है, गति है
द्वार दरीचों से तकते हैं	सब कुछ है पैसा इस पैसे के खम्भे पर ही
दूसरों का अर्थ	खड़े हैं रिश्तों के मेहराब

ब्रह्मेन्द्र– गुरु जी ! एक दिन में रुपये की आत्मकथा पढ़ रहा था, उसमें भी इसका अच्छा विवेचन था। उसको भी इस प्रसंग में प्रस्तुत कर दिया जाए, तो प्रकरण की स्पष्टता के लिए उपयुक्त रहेगा ?

प्राध्यापक– एक विचारक ने उस आत्मकथा को इस प्रकार लिखा है-

रूपये की आत्मकथा

हां ! हां ! मैं रुपया हूं, दुनिया में सबसे बड़ा, मुझसे बड़ा कोई नहीं। सभी लोग मेरे नाम की माला जपते हैं। मेरी चमक-दमक क आगे सभी लोगों की आंखे

५– सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति नीतिशतक–४१
६– ये नै केन विना गुणास्तृणलव प्रायाः समस्ता इमे नीति. ३६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चुंधिया जाती हैं, राजा क्या, रंक क्या, सभी मुझे प्यार करते हैं। मुझे पाकर कौन व्यक्ति खुशी से फूला नहीं समाता और बिछुड़ने पर कौन सर्द आहें नहीं भरता। मेरी चमक-दमक के कारण पिता-पुत्र का, पुत्र-पिता का, भाई-भाई का शत्रु बन जाता हैं। मैं दुनिया में हर एक वस्तु के खरीदने की शक्ति रखता हूं। एक भिखारी से लेकर भगवान् के चरणों तक घूमता रहता हूं। बाहर से इतनी शान होते हुए भी मेरी आन्तरिक कथा इतनी करुणाजनक है कि उसे याद करके आज भी मेरी आंखे छलछला आती हैं।

सदियां बीत गई, मैं लगातार पृथिवी की गोद में पड़ा रहा। एक दिन भयानक कोलाहल से मेरी नींद खुल गई। ज्यों ही मैंने दृष्टि घुमाई अनेकों मजदूर कुदालियां लिए खड़े थे। थोड़ी देर के पश्चात् दनादन मेरे ऊपर चोटें पड़ने लगीं। कठिन परिश्रम के पश्चात् मजदूरों ने मुझे धरती मां की गोद से निकालकर अलग कर दिया मेरे ऊपर कई प्रकार की तह जमी हुई थीं। वहां से ट्रकों में भरकर शुद्ध करने के लिए ले जाया गया। रास्ते भर की यात्रा हमें बहुत आनन्ददायक लगी। यह आनन्द शीघ्र ही गायब हो गया, जब कि हमें बड़े भट्टों में डाला गया। इसके पश्चात् अनेक तेजाबों से हमारी शुद्धि की गई। अब मेरा रूप काफी निखर आया था। मुझे अपने ऊपर गर्व होने लगा। लोग अब प्यार से मुझे शुद्ध चांदी कहने लग पड़े।

मैं समझने लगा था, कि मेरे दुखों का अन्त हो गया। लेकिन यह मेरी भूल थी। अभी परीक्षा शेष थी। मुझे अन्य धातुओं सहित पिघला कर सांचों में ढाला गया। सांचों में ढल जाने पर मेरी शकल गोल हो गई थी। मेरे एक ओर तीन शेर तथा दूसरी ओर मेरी पुण्य तिथि अंकित की गई। मैं प्रसन्नता से झूम उठा, अब मुझे गाड़ी की यात्रा करने को मिली। यात्रा में मैं आराम से सौ गया। धीरे-गाड़ी चलती रही। अन्त में एक बड़े नगर में पहुंच कर मुझे अपने बन्धुओं सहित बैंक में पहुंचा दिया गया।

बैंक बहुत बड़ा था। मैं अपने आपको स्वतन्त्र अनुभव कर रहा था। बैंक में बहुत से लोग आते, वे रुपये लाते और जमा करा जाते। अनेक सज्जन तो रुपये लेने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के लिए आते थे। कुछ लोग ऐसे भी आते जो केवल नोटों की अदला बदली ही करते। एक दिन एक बनिया आया, उस ने शायद सौ रुपये लेने थे। बैंक के बाबू ने सौ के नोट लेकर बनिए को सौ रुपये दे दिए। बनिया भी अजीब आदमी था, पर मेरा मालिक था। इस लिए निन्दा तो नहीं करनी चाहिए। इतना जरूर कहूंगा कि अव्वल दर्जे का मक्खी चूस था। उसने पहले तो इतने जोर से जमीन पर मारा कि मेरी तो बस जान ही निकल गई। फिर उसने हमें एक मैली-कुचैली पोटली में बांधकर पेटी में बन्द कर दिया। मुझे तो उस पेटी में सांस लेना दूभर हो गया। बनिया कभी-कभी पेटी को खोलता। जब भी पेटी खुलती तो वह पोटली को खोलता मुझे हवा के ठंडे झोकों के साथ लाला जी के मुख से श्रीराम के स्वर भी सुनने को मिलते। प्रभु का नाम सुनकर मेरा मन प्रसन्न हो जाता। बनिया फिर हमें पेटी में बन्द कर देता, यह उसका क्रम था।

एक दिन बनिया कहीं बाहर गया हुआ था। उसकी पत्नी ने हमें पेटी से खोल कर निकाला मैं तथा मेरे चार साथी उस के हाथ लगे। उस दिन शायद मंगलवार था और उसका व्रत था। चार साथी रुपये तो उसने प्रसाद में खर्च कर डाले और मुझे लेकर उसके कदम मन्दिर की ओर बढ़ गए। मन्दिर में भीड़ थी। लोग भगवान् के दर्शन करके आनन्दित हो रहे थे। मेरी मालकिन ने भगवान् के दर्शन करके प्रसाद तथा मुझे साथ में रख दिया। भगवान् के चरणों में पहुंच कर मैं अपने भाग्य पर प्रसन्न हुआ। पर पुजारी जी ने मुझे यहां टिकने नहीं दिया। दूसरे दिन मैं प्रसाद बेचने वाले की दुकान पर भेज दिया गया। यह कभी समाप्त न होने वाली मेरी आत्म कथा है।

ब्रह्मेश - हां, स्वामी विद्यानन्द जी विदेह ने अपनी आत्मकथा में एक स्थल पर इस प्रसंग का बड़ा सुन्दर चित्रण किया है।

वे लिखते हैं, कि मैं एक नगर में कथा करने गया हुआ था। कथा से पूर्व प्रतिदिन मैं- **'नमो ब्रह्मणे नमस्ते वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि–** अर्थात् ब्रह्म के लिए नमस्कार है, वायो! आप के लिए नमनभाव है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तुम ही प्रत्यक्ष ब्रह्म हो, तुमको ही स्पष्ट ब्रह्म कहूंगा — इस मन्त्र का उच्चारण करता था। कथा कई दिन से चल रही थी। जिस परिवार में मैं ठहरा हुआ था, वहां एक दिन उसी परिवार का एक पांच वर्ष का बालक अपने माता - पिता के साथ बैठा था। वह उन के साथ कथा में नियमित उपस्थित रहता था। जब उस के माता-पिता मेरे साथ वार्तालाप में व्यस्त थे, कुछ देर तो बालक शान्तिपूर्वक बैठा रहा। पुन: बाल स्वभाव वश खेलने लगा। खेलते - खेलते उस ने मेज से सौ रुपये का नोट उठाया और दोनों हाथों में लेकर उस नोट को देखते हुए अकस्मात् गाने लगा — त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि, त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि — कुछ क्षण पश्चात् मेरा उस ओर ध्यान गया। बालक की क्रिया को देखकर और शब्दों को सुनकर मस्तिष्क में एकदम आया, कि इस बालक ने तो इस मन्त्र की अनूठी संगति सुझाई है। आज अधिकतम का जीवन व्यवहार वस्तुत: यही पाठ कर रहा है। कि **पैसा ही असल में भगवान् है।**

प्रा०– इस सारी चर्चा से स्वत: स्पष्ट हो गया, कि धन भौतिक पदार्थों के आदान – प्रदान का मानदण्ड तथा मूल्यांकन और प्राप्ति का आधार होने से प्राचीन काल में तो कम, अपितु आज पूर्ण ब्रह्म चरितार्थ हो रहा है। आज की स्थिति को देखकर, स्वत: मुख से निकलता है —

टका धर्मष्ठ का कर्म टका हि पपमं पदम्।
यस्य गृहे टका नास्ति हा टका टकटकायते॥

अर्थात् पैसा ही धर्म, कर्म और परम पद है, जिसके पास यह नहीं, वह केवल दूसरों को ताकता रह जाता है।

ब्रह्मदत्त– यह चर्चा तो बड़ी रोचक हो गई है। इस रोचकता से मुझे भी एक लोकोक्ति स्मरण आ रही है, कि 'ढिड्डु न पइयां रोटियो तै सब्बे गल्लां खोटियां' क्योंकि बड़े के सामने छोटा या उसके अभाव में सब कुछ फीका ही लगता है या वह वह कार्य असम्भव बन जाता है। तभी तो कहते हैं —

'भूखे न होय भजन गोपाला'
यह लो अपनी कण्ठी माला'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रा०– ब्रह्मदत्त ! तूने व्यवहार के आधार पर जो तात्पर्य लिया है। वह केवल अभिप्राय ही नहीं अपितु उपनिषद् के ऋषि ने भी स्पष्ट शब्दों में अन्न को ब्रह्म कहा है। इस दृष्टि से 'अन्नं ब्रह्मोपासते तै. २,२ तथा अन्नं ब्रह्मेति व्याजानात् तै ६,२ वचन द्रष्टव्य है।[1]

हम सब अपने प्रतिदिन के जीवन में स्पष्ट रूप से देखते हैं, कि भोजन एक बहुत बड़ी चीज है। जब तक यह प्राप्त होता रहता है तभी तक जीवन के हर कार्य में रस आता है, अन्यथा मोटा – ताजा शरीर भी असमर्थ तथा हर कार्य को करना उस के लिए कठिन हो जाता है। भोजन के बिना कोई विकल्प भी वहां कारगर नहीं होता। तभी यो एक विद्वान् ने कहा है, भूखों की भूख व्याकरण से और प्यासों की पिपासा काव्यरस से शान्त नहीं होती। अतः इन भौतिक भोजनादि द्रव्यों या इन की प्राप्ति के मानदण्ड [धन] के बिना सब कुछ निष्फल, बेकल हो जाता है।[2] अर्थात् भाषा शास्त्र, शब्दानुशासन के विशेषज्ञों का भी पेट अपने विषय के बिश्लेषण से नही भरता। कविकुल गुरु कालिदास जैसे कवियों की काव्य प्रतिभाजन्य काव्य रस से किसी की प्यास शान्त नहीं होती। अपितु बड़े – बड़े धार्मिकों की भी भूख में नैतिकता खो जाती है।[3] अतः यह स्थिति अन्न को स्वतः

१— अन्नं हि भूतानां ज्येष्ठम्, तस्मात्सर्वौषधमुच्यते।
सर्वं वै तेऽन्नमाप्नुवन्ति। येऽन्नं ब्रह्मोपासते।
अन्नाद् भवन्ति भूतानि जातान्यन्नेन वर्धन्ते। अद्यतेऽत्तिच भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यते। तै० २,२
अन्नमूर्जस्करं लोके प्राणाश्चान्ने प्रतिष्ठिताः। अन्ने धार्यते सर्वं विश्वं जगदिदं प्रभो।।महा० १३,६२,७
अन्नं ह्यमृतमित्याह १३,६२,३१, अन्नतः सर्वमेनाद्धि यत्किन्चित्स्थाणु जङ्गमम् १३,६२,३४
अन्नं वै परमं द्रव्यमन्नं श्रीश्च परा मता। अन्नात्प्राणः प्रभवमि ते जो वीर्यं वलं तथा।। १३,६५,५७

१— बुभुक्षितैर्व्योकरणं न भुज्यते, पिपासितैः काव्यरसो न पीयते।
न छन्दसा क्वापि समुद्धतं कुलम्, हिरण्यमेवाश्रय निष्फला गुणाः।।

३— त्यजेत्क्षुधार्ता महिला स्वपुत्रं, खादेत्क्षुधार्ता भुजगी स्वमण्डम्।
बुभुक्षितः किन्न करोति पापम्, क्षीणा नरा निष्करुणा भवन्ति।।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्रह्म सिद्ध करती है। और तब यही परिणाम सामने आता है—

न कुछ देखा ज्ञान ध्यान में, न कुछ देखा पोथी में।
कहत कबीर सुनो भाई साधो जो देखा वो रोटी में ॥

ब्रह्मगुप्त– 'सब से बड़ा रुपय्या'— वाक्य के आधार पर बाजार वाले बड़े की भी बात हो जाए, तो इस का एक और पहलू भी प्रकट हो जाएगा।

प्रा०– ब्रह्म शब्द के व्यापक अर्थ के विचार के साथ उस के मूल स्वारस्य की खोज की दृष्टि से हम इस चर्चा को चर्चित कर रहे हैं। हां व्यापक अर्थ के प्रसंग से ब्रह्मगुप्त ने पूर्व प्रसंग के अनुरूप एक अन्य पहलू की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है। यह **'बड़ा'** किसी की ब्रह्मत्व प्राप्ति की प्रक्रिया को विशेष रूप से प्रकट करता है। क्योंकि प्रत्येक पाककला विशेषज्ञ और बड़ा प्रेमी अच्छी प्रकार से जानता है, कि यह रुचिकर 'बड़ा', वही बढ़िया होता है। जिस की दाल अच्छी, स्वच्छ, पूरी भींगी हुई, खूब पिसी, उचित तली हुई और फिर यथार्थ ढंग से उबालकर यथासमय दही में डाला गया 'बड़ा' ही स्वादु, रुचिकर होता है। जैसे कि बड़े के बनाने वाले सारे के सारे इस प्रक्रिया को अपनाते हैं, पर सब के बड़े एक जैसे रोचक स्वादु नहीं होते। इस भेद का कारण कहीं न कहीं किसी कमी का रह जाना है या किसी न किसी अन्तर का आ जाना है। जो भी इन सभी पहलुओं पर पूरा ध्यान देता है। उसी के हाथ में विशेषता आती है। उसी का 'बड़ा' अच्छा, स्वादु, रुचिकर तथा बढ़िया होता है, जो उसकी बनावट अर्थात् सारी प्रक्रिया के प्रति सजग होता है। क्योंकि प्रत्येक नगर में बड़े बनाने वाले तो बहुत होते हैं, पर प्रसिद्ध तो दो-चार के ही होते हैं। **'बड़े'** की तरह जो भी किसी क्षेत्र में आगे बढने की प्रक्रिया पर ध्यान देता है, वही वहां बडा बनने में सफल होता है।

हां ब्रह्म के व्यावहारिक पक्ष या ब्रह्मदर्शन की साधना की ओर यह **'बड़ा'** हमारा ध्यान अवश्य ही आकर्षित करता है। जैसे कि मनुस्मृति [२,२४,१२,१०२,१२,१२५] में आया है, कि वेद [आदि धार्मिक ग्रन्थों] के अध्ययन और उनके तत्त्वों को समझने, नियमों के पालन, अन्तः बाह्य शोधक यज्ञीय प्रक्रिया के अनुष्ठान, मर्यादा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूर्वक सन्तानों के संवर्धन–संरक्षण सदृश कर्मो से और पंचमहा यज्ञ [आत्मविकास, व्यावहारिक शुद्धि, पितृ सेवा, अतिथि सत्कार, प्राणी संरक्षण] तथा सभी प्राणियों में समारत हुए परमात्मा को अपने आपे द्वारा संदर्शन करने से व्यक्ति ब्रह्म प्राप्ति के योग्य होता है ।[1]

ब्रह्मेश्वर– यह ठीक है, कि जीवन-धन, अन्न के बिना अधूरा–अधूरा ही रहता है, पर यह सारी चर्चा अपने आप में अनोखापन ला रही है और इसका आनन्द तो हमें धन, अन्न के बिना भी मिल रहा है । हम तो यहां केवल ज्ञान चर्चा ही कर रहे हैं । यह ठीक है कि धन, अन्न के बिना अनेकबार सब कुछ फीका ही रह जाता है । पुनरपि चाहे कितने ही अंश की बात हो, पर जीवन में ज्ञान का महत्त्व भुलाया नहीं जा सकता । धन, अन्न आदि का उत्पादन, अर्जन, विकास, निवेश भी तो विद्या के बिना कठिन है । इसी लिए हमारे प्रत्येक कार्य के कार्यान्वयन का मूलमन्त्र ज्ञान ही है अतएव ['न हि ज्ञानेन सदृश पवित्रमिह विद्यते–गीता ४,३८ सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते–मनु० ४,२३३] सदृश उक्तियां किस से छिपी हुई हैं ।

प्रा० मनुष्य के विचारशील होने से उसके प्रत्येक व्यवहार में यत्र–तत्र सर्वत्र ज्ञान का योगदान सर्वथा स्पष्ट है । अतएव विद्वान् सर्वत्र पूज्यते और किं किं न साधयति कल्पलतेव विद्या सदृश सूक्तियां सबके सामने हैं । तभी तो तैत्तिरीय उपनिषद् के ऋषि ने अपनी चर्चा को उत्तरोत्तर चलाते हुए कहा है– विज्ञानं ब्रह्मेति व्याजानात् [३,५] अर्थात् अनुभव और विचार–विमर्श के बाद ऋषि ने विज्ञान को एक महान् तत्त्व के रूप मे समझा क्योंकि भक्ति की प्रक्रिया दुनियावी कार्य, बौद्धिक और

१– स्वाध्यायेन व्रतै र्होमैस्त्रैविद्ये ज्यया सुतैः ।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ।।मनु. २,२८।।
वेदशास्त्रार्थ तत्त्वज्ञो यत्र यत्राश्रमे वसन् ।
इहैव लोके तिष्ठन्स ब्रह्मभूयाय कल्पते ।। १२,१०२।।
एवं यः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना ।
स सर्वसमताभेत्य ब्रह्माभ्येति परं पदम् ।।१२,१२५।।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शारीरिक कार्य ज्ञान–विज्ञान से ही सम्पन्न होते हैं।[1] सबसे बडी बात तो यह है, कि विज्ञान सम्पन्न व्यक्ति किसी भी क्षेत्र में पिछड़ता नहीं।[2]

मनुदेव– मनुस्मृति में भी तो ब्रह्म शब्द का प्रयोग हुआ है ?

प्रा० मनुस्मृतिकार ने अपने विवेचन का मूल वेद को ही स्वीकार किया है।[3] और अपने विश्लेषण मे अनेक बार वेद के लिए ब्रह्म शब्द का प्रयोग किया है।[4]

भारत की **साहित्यिक परम्परा, धार्मिक कर्मकाण्ड की प्रक्रिया** की समीक्षा से भी स्पष्ट होता है, कि वेद के आधार पर ही ये दोनों पल्लवित, पुष्पित एवं फलित हुई हैं। इस सारे का भाव यह है कि हमारे पुराने साहित्य मे अध्यात्म, राजनीति, अर्थशास्त्र, भौतिक विज्ञान और चिकित्सा शास्त्र आदि के ग्रन्थ हैं वे सारे यही कहते हैं कि हमने अपने–अपने विषय का ज्ञान वेदों से ही प्राप्त किया है तथा हमारे सारे धार्मिक पूजा–पाठ, संस्कार, यज्ञ आदि वेद के मन्त्रों से ही हाते हैं। वैसे तो वेद का एक प्रमुख अर्थ ज्ञान भी है, अतः कार्यों के कार्यान्वियन से जहां ज्ञान बहुत वड़ी चीज सिद्ध होता है, वहां भारतीय साहित्य, धर्म संस्कृति, सभ्यता का मूल होने से भी

१– विज्ञानं यज्ञं तनुते **कर्माणि** तनुतेऽपि च।
विज्ञानं देवा सर्वे ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते ॥ तै. २,५

२– विज्ञानं ब्रह्म चेद्वेद **तस्माच्चेन्न प्रभाद्यति** ॥ तै. २,५
ऐसा व्यक्ति कहीं पिछड़ता नहीं

३– त्वमेको ह्यस्य सर्वस्य विधानस्य स्वयम्भुवः। अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य कार्यतत्त्वार्थवित प्रभो ॥ १,२

४– ब्रह्मारम्भेऽवसाने च पादौ ग्राह्यो गुरोः सदा। मनु० २,७१
ब्रह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वद। २,७४,
ओङ्कार पूर्विका स्तिस्रो महाव्याहृतयोऽव्ययाः। त्रिपदा च सावित्री विज्ञेयं ब्रह्मणो मुखम् ॥२,८१
कर्मब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षर समुद्भवम्। तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥गीता ३,१५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वेद को ब्रह्म शब्द से अभिहित किया गया है। हां, वेद सर्वज्ञानमय[1] होने से सर्वथा ब्रह्म शब्द का सार्थक पर्याय है अर्थात् ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद इन चारों के लिए भी ब्रह्म नाम हमारे साहित्य में अनेक जगह आया है।

वर्णी– गुरु जी ! भारतीय साहित्य और जीवन में ब्रह्मचारी शब्द भी तो बहुत आकर्षण रखता है। अतः इस प्रसंग में इसका समन्वय भी अपेक्षित है ?

प्रा०– हमारे यहां चार आश्रम हैं, इनमें से जीवन के प्रथम भाग को ब्रह्मचर्य आश्रम कहा गया हैं। इसी स्थिति वाले को ब्रह्मचारी कहते हैं। इन दिनों शरीर की समृद्धि और ज्ञान की उपलब्धि विशेष उद्देश्य होते हैं। अतएव उपनिषद् के ऋषि ने इस प्रसंग में **'बलमुपास्व'** अर्थात् शरीर बल और विद्याबल के अर्जन का विशेष सन्देश दिया है। अतः ज्ञान के साथ शरीर विकास के मूलभूत तत्त्व के लिए भी ब्रह्म शब्द का अनेकत्र प्रयोग प्राप्त होता है। इन ब्रह्मों की साधना करने वाले को इस दृष्टि से ब्रह्मचारी कहा गया है।[2]

जीवनानन्द– गुरु जी ! पूर्वचर्चा में ज्ञान के लिए ब्रह्म का संकेत तो स्पष्ट हो चुका है, पर शरीर समृद्धि के लिए ब्रह्म शब्द का प्रयोग कैसे किया गया है। कृपया इस पर भी प्रकाश डालेंगे ?

प्रा०– शरीर एवं ज्ञान साधना से सिद्ध होने वाले मुख्य साध्य की दृष्टि से जहां ब्रह्म शब्द का प्रयोग विशेष अभीष्ट हैं, वहाँ इस जीवन साधना में क्रम की

१– स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः मनु० २,७, धर्म जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः; १३ ।।१२,९४
वेदोऽखिलो धर्ममूलम् मनु० २ ६; । तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म गीता ३,१५
पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षः सनातनम् । अशक्यं चाप्रमेयं च वेदशास्त्रमिति स्थितिः ।।९६
बिभर्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम् । तस्मादेतत्परं मन्ये यज्जन्तोरस्य साधनम् चातुवर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वार श्चाश्रमाः पृथक् । भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात्प्रसिध्यति ।।९७

२– ब्रह्म एव व्रतं, तत् चरितुं शीलं यस्य स ब्रह्मचारी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की रचनाओं में जो खड़ीबोली के आदि कवि समझे जाते हैं, मिलता है। लेकिन जब गुप्त जी ने खड़ीबोली में लिखना शुरू किया तो खड़ीबोली में कविता लिखकर निर्भीकतापूर्वक किन्तु अत्यन्त नम्रता से खड़े रहे। गुप्त जी ने एक तुतलाने वाली बोली को खड़ीबोली के रूप में साफ सीधी बात करना सिखाया और घुटने चलने वाली भाषा को अंगुली पकड़ कर ऊंचा उठाया जिससे वह राज – काज चलाने में समर्थ हो सके। आज राष्ट्र भाषा के पद पर हिन्दी को प्रतिष्ठित कराने के लिए जो प्रयत्न किया जा रहा है "भारत भारती" के माध्यम से वर्षों पूर्व उसे गुप्त जी सिंहासन पर अभिषिक्त करा चुके थे। तुलसी की तरह गुप्त जी ने लोक भाषा के रूप में हिन्दी को प्रतिष्ठा दिलाई।

मैथिलीशरण गुप्त के साहित्य के क्षेत्र में पदार्पण के समय खड़ीबोली निर्धन और अपुष्ट थी। मृदुता और कान्ति का उसमें अभाव था। एक अपरिमार्जित और क्षीण–कोशा भाषा उन्हें उत्तराधिकार स्वरूप मिली थी। यद्यपि खड़ीबोली के अस्तित्व का आभास अपभ्रंश काल से ही चला आ रहा है पर काव्य भाषा के रूप में वह आधुनिक काल से पूर्व गृहीत नहीं थी। बारहवीं शताब्दी के अनेक अपभ्रंश–कवियों की कृतियों मे खड़ीबोली का विशेष लक्षण 'आ' कार प्रामुख्य स्पष्टतः वर्तमान है। अपभ्रंश के पश्चात् रासो काव्य हिन्दी के प्रथम ग्रन्थ हैं जिनकी भाषा में खड़ीबोली की विशिष्ट प्रकृति परिलक्षित है। अमीर खुसरो ने खड़ीबोली के परिमार्जित रूप का प्रयोग किया है। भक्तिकाल में खड़ीबोली का आभास सन्तों की रचनाओं में मिलने लगता है। आगे के काव्य में भी खड़ीबोली का बराबर प्रयोग होता रहा है। रहीम, भूषण, सूदन आदि कवियों की रचनाओं में इसके प्रचुर उदाहरण सहज उपलब्ध हैं। मध्य काल में गद्य में खड़ीबोली का प्रयोग आरम्भ हुआ, लेकिन उसका निश्चित व्यवहार होने पर भी उसे काव्यभाषा का स्थान नहीं मिला और आधुनिक काल के प्रवर्त्तक भारतेन्दु ने भी खड़ीबोली का व्यवहार गद्य में ही किया। भारतेन्दु के जीवन काल तक इसका प्रयोग गद्य में ही होता रहा।

भारतेन्दु के पश्चात् खड़ीबोली का आन्दोलन पद्य के लिए बड़े जोर–शोर से चला। इसको पद्य की प्रमुख भाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी को जाता है। उनकी प्रेरणा और प्रोत्साहन से ही अनेक कवियों ने खड़ीबोली में लिखना प्रारम्भ किया जिनमें एक मैथिलीशरण गुप्त जी भी थे। खड़ीबोली को काव्योपयुक्त प्रमाणित करने वालों में गुप्त जी का सर्वाधिक महत्व रहा है। गुप्त जी के काल में तो खड़ीबोली लड़खड़ा रही थी और इसका कोई रूप स्थिर नहीं था। खड़ीबोली के नाम से, संस्कृत और ऊर्दू - फारसी प्रधान भाषा अभिहित थी। गुप्त जी का भाषा सम्बन्धी विचार निश्चित तथा संतुलित था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुप्त जी टकसाली भाषा के पक्षपाती थे। कविता में मिश्रण को गुप्त जी असमर्थता तथा हीनता का द्योतक मानते थे। फिर भी भाषा – विषयक उनका दृष्टिकोण समन्वयवादी था। हां इतना अवश्य था कि वे अपनी भाषा का परिमार्जित तथा ठोस रूप देखने के आकांक्षी थे।

अपने युग–जीवन और परिस्थितियों से उद्भूत करुणा का भाव उनके काव्य की प्राणधारा है। उनकी करुणा वस्तुतः मानव–हृदय के परिष्कार का साधना है। बीसवीं शदी के प्रथम चरण में उद्बुद्ध जागरण-सुधार – की नवचेतना की परिणति जिन जीवन मूल्यों में हुई थी, उन्हीं का पूर्ण प्रतिफलन हमें गुप्त जो की सर्जना में मिलता है। उनके जीवन मूल्यों में मानव मूल्य, सांस्कृतिक मूल्य और धार्मिक मूल्य परस्पर गुंथे हुए हैं जिनमें मानव मूल्य ही प्रमुख है किन्तु उन पर नैतिक सांस्कृतिक मूल्यों का गहरा प्रभाव है। उन्हें जीवन के प्रकृत, माननीय और मांगलिक तत्त्व प्रिय थे। उनकी उदात्त भावना मानव–सापेक्ष थी। जीवन – मूल्यों के अनुरूप उनके काव्य मूल्य भी मूलतः आदर्शवादी थे। इस आशीर्वाद का आधार था मानववाद, जो एक ओर सगुण भावना से पोषित था और दूसरी और जागरण सुधार युग की राष्ट्रीय चेतना से अनुशासित थे। वे उद्देश्य मूलक काव्य–कला की साधना करते रहे। उनके ही शब्दों में–'अर्पित हो मेरा मनुजकाय। बहुजन हिताय, बहुजन हिताय।'

गुप्त जी ने अपनी कविताओं में जीवन के कथन के प्रति ईमानदारी रखने में अद्भुत सफलता प्राप्त की थी। उन्होंने कविता के काल को सांसारिक रूचि के जड़व्याल के साथ नहीं बांधा। वे अपनी आराधना वृत्ति में इतने सजग रहे कि अपनी रचनाओं में सदैव उन्मेष और पूजा भावना प्रदान करने वाले व्यक्तियों, वस्तुओं और मर्यादाओं के प्रति ही अपने को व्यक्त किया। ब्रिटिश काल का काव्य–पुरुषार्थ जब सिसकियां ले रहा था और रीतिकालीन काव्य से हिन्दी-काव्य घबरा सा गया था और जब काव्य के नाम पर रति–विलास का निर्माण काव्य कला कहा जाता था, ऐसे समय में मैथिलीशरण गुप्त ने अतिचालित होकर अपनी लेखनी साहित्य के सात्विकता की ओर उठाई।

गुप्त जी हिन्दी के माध्यम से राष्ट्र को एकता के सूत्र में पिरोना चाहते थे। वे भाषा को एकता के सम्पादन का सबसे सबल साधन मानते थे। प्रथम–स्वतंत्रता-संग्राम के इतिहास में इन्होंने हिन्दी की महत्ता को देख लिया था। आज भाषा का जो रूप हमें देखने को मिलता है उसकी नींव गुप्त जी ने पुष्ट की थी। आज संसद–भवन भाषा के नाम पर अखाड़ा बनाया जाता है। गुप्त जी का भाषा सम्बन्धी दृष्टिकोण स्पष्ट था। अंग्रेजी के समर्थकों की खिल्ली उड़ाते हुए वे अपने 'अंग्रेजी' शीर्षक कविता में यहां तक कह गए हैं—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इंग्लिश को भारत की भाषा
अवश बना लेते हैं आप
तो उस गोरी सत्ता ने ही
किया कौन सा ऐसा पाप
मना लीजिये क्यों न उसे भी
और कीजिए मृदुलालाप
गांधी फिर थोड़े आवेगा
सो भी देने को अभिशाप।
अंग्रेजी चलती न एक पल
यदि वह बूढ़ा होता आज
निज भाषा के 'बना राष्ट्र क्या
हरि के हाथ हमारी लाज।
अब गोरे साहब ने पूरा
अंग्रेजी को ही साधा
उन्हें पात है पूरा मांगो
तब मिल पावेगा आधा।
कुछ ऐसी ही बात सुनी थी
आई थी जब खादी हाय।
अब भी कुछ पुंगव कहते हैं
हिन्दी यहां न लादी जाय।
किसने किस पर लादी हिन्दी
अंग्रेजी लादे रहिए
मां कह कर ही हम कृतार्थ हैं
आप यथेष्ट मम्मी कहिए।

(जनसत्ता–'दैनिक'–अगस्त–३, १९८६ से/गुप्त जी की अप्रकाशित रचना शीर्षक से जिस समय गुप्त जी का साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश हुआ उस समय राष्ट्रीय चेतना का क्रियात्मक रूप प्रारम्भ हुआ था। सामाजिक-दृष्टि से सुधारवादी-आन्दोलन की लहर फैल रही थी और साहित्यिक–दृष्टि से स्वच्छन्दतावादी भावनाओं का विकास और नैतिकता का साम्राज्य स्थापित होने लगा था। गुप्त जी ने खड़ीबोली के माध्यम से राष्ट्रीय चेतना को उभाड़कर जातीय गौरव तथा स्वाभिमान की भावना को पुष्ट किया। जनता की भावना को सही रूप में प्रकट करने के लिए जनभाषा का चिन्तन – मनन एवं प्रयोग करना पड़ता है। गुप्त जी की युग – चेतना विलक्षण थी, जिसे वे अपने मध्यकालीन संस्कारों तथा मानवोत्थानकारी आदर्शों से इस ढंग से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समान्वित रखते थे कि आश्चर्य चकित हो जाना पड़ता हैं। खड़ीबोली को उन्होंने भारतीय–सस्कृति का नवीन रूप में उद्घाटन कर तथा उसे राष्ट्रीयता से संपृक्तकर, उद्घाटित किया। खड़ीबोली में काव्य–रचनाकर उन्होंने वैचारिक क्रान्ति को गति प्रदान की।

आज हम जिस क्रान्ति युग में विचरण कर रहे हैं उसकी प्रारम्भिक जड़ गुप्त जी को संभालनी पड़ी। और स्पष्ट कहा जाय तो युग उनके कंधों पर बैठकर आज इतनी दूर आया है। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक खड़ीबोली, काव्य का उपयुक्त माध्यम बनाने में प्रायः असमर्थ ही थी। आधुनिक काव्य भाषा का निर्माण भी शेष था। गुप्त जी ने इस दुःसाध्य को साधने का कठिन कार्य आरम्भ किया और अपनी भाषा को निरन्तर विकासशील बनाए रखा तथा समस्त नवीन पीढ़ी का भोले भाव से संत जनोचित शब्दों में स्वागत किया—

'जो पीछे आ रहे उन्ही का, मैं आगे का जय-जयकार।' (समय के पांव-१९५७)

गुप्त जी खड़ीबोली की साहित्यिक चेतना को जागृत करने वाले भारत के उपेक्षित चैतन्य के चेता हैं। साहित्य जब व्यष्टि पे हटकर समष्टि की ओर प्रयाण करता है तभी वह लोक मंगल की भावना से अभिभूत हो उठता है। इस भावना को जागृत करने में लोक भाषा का अभिन्न भाग होता है। उसे दृढ़ करने के लिए गुप्त जी ने खड़ीबोली को लोक–भाव–भूमि पर अधिष्ठित किया। भारतीयों में युगों की परवशता एवं अभाव–जनित निराशा से हीनता, निरीहता एवं संकोच की भावना व्याप गई थी, जिससे वे एकता की वाणी के अभाव में मूक थे और घुटन का अनुभव कर रहे थे। गुप्त जी ने इस मूक भावना को वाणी दी। वे खड़ीबोली को वाणी देकर इसी आदर्श के साथ आगे बढ़े कि उसके द्वारा जन–जीवन की यथार्थता आदर्श की ओर उन्मुक्त हो सके। उन्होंने युग की आवाज को यथार्थवादी स्वरों में सुना और युगों से काव्य में उपेक्षित मानवता की करुण कराह को सुनाकर उन्हें शाश्वत स्वरों से सम्बद्ध कर दिया। गुप्त जी ने सदा ही समय की पुकार को सुना और उसे छन्द बद्ध किया तथा प्राचीन सुप्त भावनाओं को खड़ीबोली के माध्यम से पुनर्जागृत किया। अतः वे प्राचीनता के संदेशवाहक नवीन कवि है।

अतः स्पष्ट रूप से हम कह सकते हैं कि खड़ीबोली काव्य को गुप्त जी ने ही निश्चयात्मक रूप प्रदान किया। उन्होंने कविता की ज्योति समय समाज और आत्मा के भीतर देखी और नई काव्य धारा की अबाध गति से हिन्दी समाज को अभिसिंचित किया तथा तुतलाने वाली एव कठोर बोली में माधुर्य एव गति लाकर उसे, निरन्तर निखारने का महत्वपूर्ण कार्य करके, मुखरित किया।

अध्यापक, हिन्दी विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वैदिक युग में शूद्रों का वेदाध्ययन

डॉ० कान्ति लाल० शब्दवे
रीडर, स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग
सरदार पटेल विश्वविद्यालय
वल्लभ–विधान नगर (गुजरात)
(पिन ३८८१२०)

भारतीय धर्म समाज विद्या एवं दर्शन की गंगोत्री माने गए वेद केवल भारत की ही नही, समस्त मानवजात की विरासत है। सुप्रसिद्ध प्राच्यविद्याविशारद प्रॉ० मेकूसमूलर[1] ने वेद को 'मानव पुस्तकालय की प्राचीनतम पुस्तक' बताते हुए इस के बारे में लिखा है। ''विश्व के इतिहास में जो कार्य अन्य किसी भी भाषा के किसी भी ग्रन्थ द्वारा सिद्ध होना संभव नहीं था, उस कार्य को भारतीय हिन्दुओं के 'वेद' नामक ग्रंथों ने सिद्ध करके दिखाया है। अतः जिस मनुष्य के हृदय में अपने पूर्वजों का एवं इतिहास का किंचित् मात्र भी गौरव हो, और जो अपने बौद्धिक विकास की रचना भी कामना रखता हो—उसे अपने उस गौरव की सार्थकता के लिए तथा कामना की पूर्ति के लिए 'वेदो' के अध्ययन की परम आवश्यकता है।''

शूद्रों को इन महान ग्रंथों के अध्ययन का अधिकार है या नहीं इस विषय की चर्चा स्मृतिकाल से प्रारम्भ हुई है'' स्त्री शूद्रौ नाधीयाताम् इति श्रुतेः'' अर्थात् 'स्त्री और शूद्रों को अध्ययन (विशेषतः वेद का) न करना चाहिये' ऐसा श्रुति कहती है। इस प्रकार के कल्पित वचन श्रुति या वेद के नाम से स्वार्थ–परायण लोगों ने गढ़ लिए तथा इस आशय के कुछ वचन स्मृतियों आदि में मिला दिये। किन्तु आज तक एक भी विद्वान् को यह साहस नहीं हुआ कि मूल वेदी में से एक भी प्रमाण इस भाव का उद्धृत कर सके।''[2]

शूद्रों के वेदाध्ययन-अधिकार के विरोधी आचार्यों की अपने मत के समर्थन में प्रमुख दलील यह है कि शूद्रों को उपनयन संस्कार से दीक्षित होने का अधिकार नहीं है, इस लिए उन्हें वेदाध्ययन का अधिकार भी नहीं है। आचार्यों की यह दलील बे–बुनियाद है, क्योंकि पारस्कर गृह्यसूत्र जैसे मान्य प्राचीन ग्रन्थ में 'अथ शूद्राणामुपनयनम्

१– इन्डिया, व्होट केन रंट टीच अस, उद्धृत, डॉ० दिलीप वेदालंकार, वेदों में मानववाद, अमर भारती इन्टरनेशनल, बडोदरा, प्रथम संस्करण, १९८२, पृ. ८.

२– धर्मदेव विद्यावाचस्पति, स्त्रियों का बेदाध्ययन, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा देहली, प्रथम संस्करण, जनवरी, १९४८, पृ. १.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शीर्षक के अन्तर्गत, 'आपस्तम्बः— शूद्राणामदुष्टकर्मणामुपनयनम् । मद्यपान रहितानामिति कल्पतरुकार :।। अर्थात् मद्यपानादि दुष्ट कर्मों से रहित शूद्रों को उपनयन संस्कार से दीक्षित किया जाय' ऐसा स्पष्ट विधान प्राप्त होता है । पंडित रामकृष्ण भट्ट विरचित, पारस्कर गृह्यसूत्र की व्याख्या 'संस्कार-गणपति'[3] में इस विषय का विस्तृत प्रतिपादन है ।

वैदिक-काल में शूद्रों के उपनयन संस्कार से दीक्षित होने की एवं वेदाध्ययन के अधिकार की पुष्टि उपनिषत्कालीन राजा अश्वपति केकय की इस उक्ति से भी होती है, जिसमें वह डंके की चोट पर दावा करता है कि 'मेरे राज्य में कोई भी व्यक्ति अविद्वान् नहीं है ।' (छां. उप. ५/११/५) अर्थात् अश्वपति के राज्यों में सर्व नर-नारियों को शिक्षा का अधिकार प्राप्त था । और यह तो सवविदित तथ्य है कि वैदिक-काल में सामान्यत: उपनयन संस्कार से दीक्षित होने के पश्चात् ही व्यक्ति को वेदाध्ययन एवं वेद मन्त्रों के उच्चारण का अधिकार प्राप्त होता था । छांदोग्य उप० (४/२/३) में जानश्रुति पौत्रायण नामक शूद्र राजा को सयुत्वा रैक्व नामके ब्राह्मण द्वारा ब्रह्मविद्या (संवर्गविद्या) का उपदेश दिये जाने का स्पष्ट निर्देश है । यहां सयुक्वा रैक्व ने जान श्रुति को दो बार 'ऐ शूद्र !' शब्द से संबोधित किया । शंकराचार्य प्रभृति आचार्यों[4] का कहना है कि जानश्रुति 'जातिशूद्र, नहीं था 'शोक के कारण रैक्व के पास दौड़ने के कारण' उसे शूद्र कहा गया है ।" डॉ. दिलीप वेदालंकार, नर्मदाशंकर महेता, म० च० पटेल आधि विद्वानों[5] ने इस मत को समी चीन नहीं माना है । छांदोग्य उप (४/४/१-५) में भी दासीपुत्र सत्यकाम जाबाल की सत्य-वादिता से प्रसन्न आचार्य गौतम उन्हें वेदका ज्ञान देते हुए दर्शाये गएं है । ये सब प्रमाण वैदिकयुग में शूद्रों के वेदाध्ययन के अधिकार के स्पष्ट रूप से द्योतक है ।

वैदिक-काल में शूद्रों के वेदाध्ययन के अधिकार का समर्थन स्वयं वेद के मन्त्रों के द्वारा भी होता है । यथा ऋग्वेद (१०/१९/१३) में भगवान् का विश्व के सब नर—नारियों को सम्बोधित करते हुए स्पष्ट कथन है कि "तुम्हारे लिये ये मन्त्र समान रूप से दिये गये है तुम्हारी सभाएं सबके लिए समान रूप से खुली हुई हो, मैं तुम्हारा मन और चित्त समान और मिला हुआ हो, मैं तुम्हे समान रूप से मन्त्रों को देता हूं और

३— चौखम्बा ग्रन्थमाला, वाराणसी, प्रथम संस्करण पृ० ६४२.
४— द्रष्टव्य : ब्रह्मसूत्र (१/३/३४) पर शांकरभाष्य, अणुभाष्य
५— न० दे० महेता : उपनिषद् विचारणा, गुजरात वर्नाक्रियुलर सोसायटी, अहमदाबाद प्रथम संस्करण, १९३२, पृ. ३७, तथा ब्रह्म-मीमांसा ज्योति, प्रथम संस्करण, पृ० ५ आदि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समान रूप से ग्रहण करने योग्य पदार्थों को देता हूं ।" इसी प्रकार यजुर्वेद (२६।२) में भी ईश्वर द्वारा स्पष्ट रूप से कहा गया है 'हे मनुष्यों, मैं ईश्वर, जैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र अपने स्त्री सेवक आदि और उत्तम लक्षण युक्त अत्यज के लिए भी इस संसार में प्रगट हुई सुख देने वाली चारों वेद रूपी वाणी का उपदेश करता हूं, वैसे आप लोग भी अच्छे प्रकार उपदेश करें ।" यह अथघटन स्वामी दयाननन्द जी ने किया है, जिसका समर्थन पंडित सत्यव्रत सामश्रमीजी, स्वामी हरिप्रसाद जी एवं डॉ० दिलीप वेदालंकार ज्री प्रभृति विद्वानों[6] ने भी किया है ।

यहां यह बात खास स्मरण में रखने योग्य है कि शूद्रों के लिए जिन वेद मन्त्रों के अध्ययन का प्रतिषेध किया गया है, इनमें से कतिपय वेदमन्त्रों का तो दर्शन (रचना) ही कुछ शूद्र द्रष्टाओ ने किया है । उदाहरण के तौर पर कहा जाय तो ऋग्वेद के प्रथम मंडल के (११७ से १२७ तक के) बारह सूक्तों के द्रष्टा कक्षीवान्, दशम मंडल के 'अक्षसूक्त' के द्रष्टा कवष ऐलूष, जाबाल और ऐतरेय ब्राह्मण, ऐतरेय आराज्यक एवं ऐतरेय उपनिषद् के द्रष्टा महोदास ऐतरेय आदि शूद्र रहते हुए भी वेदमन्त्रों के द्रष्टा बन सके ।

इस संदर्भ में डॉ० गौतम पटेल[7] लिखते हैं, "शूद्रों को भी मन्त्रदर्शन ! यह वेद कालीन समाज का औदार्य है । जातिप्रथा के आज के दूषण तथा बन्धन वहां नहीं थे। अथर्ववेद (१६/६२/१) एवं यजुर्वेद (१८/४८) के निर्देश यह सूचित करते हैं कि तब शूद्र को समाज में नीच या अस्पृश्य नहीं माना जाता था। XXX उपनिषत्ग्रन्थो में क्षत्रिय ब्रह्मविद्या का ज्ञाता हो या शूद्र ब्रह्मविद्या का अधिकारी हो ऐसे दृष्टान्त अवश्य उपलब्ध होतें हैं। ज्ञान पर केवल ब्राह्मणों का इजारा और सेवा शूद्र का कर्तव्य, यह विचार परवर्ती है यह सुस्पष्ट है और विद्वानों की मजूरी की मुहर भी उस पर लगी हुई है।"

शूद्र अपनी निचली स्थिति में ही पड़ा न रहे, अपने आत्मतत्व का विकास करें, इस लिए उसे कहा जाता है-- 'शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्' (मनु० १०/६५) शूद्र भी ब्राह्मण बन सकता है। जब तक वह उन्नत नहीं होता, तभी तक वह

६— ऐतरेयालोचन पृ० १७, स्वाध्याय संहिता पृ० ८२. उद्धृत, धर्मदेव विद्यावाचस्पति, स्त्रियों का वेदाध्ययन, पृ० १४४.

७— वैदिक साहित्य अने संस्कृति, युनिवर्सिटी ग्रन्थ-निर्माण बोर्ड, अहमदावाद, द्वितीय संस्करण, १९९०, पृ० ३४०.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शूद्र है, उसके उन्नति के मार्ग पर चलने में कोई समाज उसके सामने बाधा बनकर नहीं खड़ा हो सकता ।[8]

यह दुर्भाग्य की बात है कि वेदों के अध्ययन में शूद्रों के अधिकार की बात इतनी सुस्पष्ट होने पर भी शंकराचार्य-प्रभृति आचार्यों ने ब्रह्मसूत्र (१/३/३८)[9] का आधार लेकर शूद्रों के वेदाध्ययन, वेद श्रवण एव वेद के अर्थज्ञान के अधिकार का निषेध किया है । इस सदर्भ में वेद के मर्मज्ञ आचार्य लक्ष्मीदत्त दीक्षितजी[10] लिखते हैं । ''वस्तुत : इस सूत्र में अथवा इसके आसपास कहीं भी इस दूषित कल्पना का लेश भी नहीं है । XXX अधिकार का आधार कुछ विशिष्ट गुण है न कि किसी वर्ण विशेष में जन्म शूद्र वर्ण में जन्म लेने के कारण किसी को वेदाध्ययन का अधिकारी न होने का कहीं संकेत तक नहीं है । इस सूत्र को न समझ कर पौराजिक आचार्यों ने अपनी दूषित भावना को आरोपित कर डाला । XXX सबसे अधिक खेद और आश्चर्य का विषय यह हैं कि इस अनर्थ के प्रयोजक चराचर जगत् को एक ब्रह्म का ही रूप मानने वाले जगद्गुरु शंकराचार्य थे । XXX इन सब अर्थ इन प्राचार्यों की निकृष्ट एवं अवैदिक विचार धारा के परिचायक है । XXX यह स्वार्थी तथा धूर्त लोगों की ही कपोल कल्पना है । जिसके आधार पर विश्व की लगभग तीन चौथाई मानव जाति को वेद ज्ञान से वंचित रखने की घृणित चेष्टा की जाती रहा है ।

'न मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किंचित्' यह व्यासप्रोक्त आदश के मूर्तिमत् स्वरुप ग्रन्थ राट् वेद'' किसी भी देश और काल की सीमा में नही आता, वह सम्प्रदाय से अतीत है, इतिहास और भूगोल की सीमाएं उसे नहीं बांधती । वेद का उ देश और सन्देश किसी जाति विशेष या देश विशेष के लिए नहीं है —मानव मात्र के लिये हैं । XX यही कारण है कि वेद' मानव मात्र को 'अमृतपुत्र' कहकर पुकारता है । वेद कहता है श्रुण्वन्तु सर्वे अमृतस्य पुत्रा : अर्थात् हे अमृत के पुत्रों ! सब के सब सुनों ।[11]

वेद की ज्ञान राशि पर शूद्रों सहित समस्त मानव जाति के स्वयं श्रुति प्रोक्त अधिकार का प्रतिपादन करने वाले यह वचन के उपरान्त भी किसी को कुछ कहना बाकी है ! ?

सुरोषु किं बहुना ?

—०—

८– पं. धर्मदेव विद्यावाचस्पति : वैदिक कर्त्तव्य शास्त्र, गुरुकुश कांगड़ी, प्रथम संस्करण, पृ. १५२-१५३.

९– 'श्रवणाध्ययनार्थ प्रतिषेधात्स्मृतेश्च ।'

१०– वेद-मीमांसा, ईस्टर्न बुक लिन्कर्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९४०,पृ.१९८-२०१

११– डॉ. दिलीप वेदालंकार, वेदों में मानववाद, पृ. १९.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुरु जम्भेश्वर वाणी में व्यक्तिगत नैतिकता

रोहताष कुमार सुनार
दर्शन विभाग
कु० वि० कुरुक्षेत्र हरियाणा

वस्तुत : भारतीय संस्कृति में सारी नैतिकता का आधार धर्म का पर्यायवाची शब्द 'रिलजन'' नही है। उसे तो हम ईश्वरवाद कह सकते हैं। भारतीय जीवन में जो चतुर्गर्ग फल प्राप्यर्थ सभी वर्णो और आश्रमों के सदस्यों द्वारा अपने-अपने कर्त्तव्यो का पालन रूपी ही धर्म है। यह समस्त आचार का भी आधार है। वैदिक काल से लेकर अब तक व्यक्ति और समाज को धर्म इस प्रकार की प्रेरणा देता चला आ रहा है कि जिससे हमारी अन्तरातमा पुष्ट होकर बुराई तथा नैतिक अशुभ से संघर्ष करने में हमारी सहायता करती रही है। धर्म के तत्व, काम क्रोध मोह, लोभ आदि दुर्गुणों को निरस्त करके हमें नैतिक बल प्रदान करते हैं अर्थात् धर्म मानव के कायिक, वाचिक तथा मानसिक क्रियाकलापो को लोकहित अथवा मानवता के महान आदर्शों के साथ जोड़कर व्यष्टि और समष्टि के बीच नित्य सम्पर्क की स्थापना करता है। धर्म कोई कर्म–काण्ड या उपासना पद्धति नहीं हैं वह तो मानव की सुचेष्टाओं और सद्वृतियों का फल है और जीवन की अमिट कामनाओं तथा अदृष्ट की अस्पष्ट भावनाओं को पाने का एक अचूक साधन है। यह तो मानव जीवन की नैतिक प्रगति का मापदण्ड है। इस लिए कहा जा सकता है कि धर्म और मानवता का अन्योन्याश्रम सम्बन्ध है। भारतीय संस्कृति में धर्म की व्याख्या सर्वत्र इसी प्रकार की गई है कि यह मानव को उसके वास्तविक एवं विशाल हित के सम्पादन करने वाले कर्तव्यों की ओर प्रेरित करता है। धर्मं में कुछ ऐसे सप्राण मूल्य होते हैं जो ईश्वर के ज्ञान में प्रेममय और कल्याणमय स्वरुप के परिणाम होते हैं। इन्ही मूल्यों के आधार पर आचरण के व्यावहारिक नियमों का महत्व विश्वव्यापी हो जाता है जब मनुष्य किसी आवेश से भावित होता है उस समय नैतिक भावना ही उसकी अभिव्यक्ति के लिये मार्ग निर्देशन करती है और उसी के कारण से सत्य, अहिंसा, प्रेम, उदारता आदि नैतिक सिद्धान्त मानव मन में पुण्य के समान विकसित होकर उसे महान सन्तोष प्रदान करते हैं। विविध शास्त्रकारों ने धर्म के विविध शास्त्रकारों ने धर्म के विविध लक्षण बताये हैं। ''महाभारत'' के वनपर्व में धर्मव्याध के मुख से न्याय युक्त कर्मों को धर्म कहलवाकर उसे तीन प्रकार से प्रतिपादित किया गया है वेद प्रतिपादित, धर्म-शास्त्र वर्णित, सत् पुरुषों के आचरण। इसी प्रकार अन्य पुरुषों तथा भागवत में धर्म की बड़ी विस्तार से व्याख्या की गई है। स्मृतिकारों ने इसे वर्णधर्म, आश्रम धर्म, निमितधर्म, साधारण धर्म आदि नाम भेदों से वर्गीकृत किया है। मनुष्य अपनी योग्यतानुसार समाज में कर्म–विभाजन करता है और उसके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वारा उसे अपना कर्त्तव्य पालन में सुविधा हो जाती है। इस कर्म-विभाग तथा कर्माधिकार के सुदृढ़ आधार पर वर्णधर्म की व्यवस्था की गई है। इसका कर्मयोग रुपी धर्म की संज्ञा देकर गीता में इसका विवेचन किया गया है।[1] और इसी को परम सिद्धि का साधन माना गया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक काल से लेकर सभी कालों में धार्मिक नीति ऐसे स्कन्धों पर आधारित है जिनका सम्यक सन्तुलन ही सामाजिक एवं राष्ट्रीय व्यवस्था की सुचारुता का प्रतीक रहा है। जम्भ जी धर्म का मूल वेद को ही मानते हैं।

स्मृतिकारों ने जिनको वर्णधर्म, आश्रम धर्म, निमित्त धर्म और साधारण धर्म आदि नाम भेदों से वर्गीकृत किया था और वेद ने इन्हीं प्रकारों को प्रवृति लक्षण तथा निवृतिमूलक धर्म माना था। जम्भो जी ने वर्णाश्रम धर्म का वर्णन अपने जम्भ सागर में न "सामान्य धर्म" की चर्चा बड़े ही सुन्दर एवं विस्तृत ढंग से की हैं। क्योंकि उनके युग में इनकी अत्यन्त आवश्यकता थी, कि कारण यह था लोग बाहरी जातियों के आने के कारण अपने कर्तव्य भूल गए थे। मैं यहां पर यह कहना चाहूंगा कि जम्भ जी ने अपने ग्रन्थ में भाव बुद्धि और नीति का जो समन्वय किया है वह एक प्रशंसनीय कार्य है। उसकी उपयोगिता और समीचीनता युगों युगों तक व्यक्ति को प्रेरणा देती रहेगी। जम्भ जी के नायक विष्णु का अवतार लेना धर्म की मर्यादा की स्थापना करना है। वे स्वयं कहते हैं कि जब भी धर्म की हानि होती है तो मैं (विष्णु) धर्म रक्षा हेतु अवतार लेता हूं।

तेतीसां कीवरग वहां म्हे, वांस काजै आयों,
वारा थाप घणा न ठाहर, मतांतो डीले डीले कोड़ रचायो ॥
म्हे ऊंचे मण्डल का रायो।[2]

रावण, दुर्योधन, कीचक, हिरण्याकश्यप आदि का वध का कारण अधर्म ही था।

वस्तुतः भारतीय संस्कृति की यह मान्यता है कि जब-जब संसार में धर्म का प्रभाव घटने लगता है और पृथ्वी पर अधर्म छा जाता है तब युग-युग में भगवान का अवतार होता है। जम्भ जी ने इसी मान्यता को प्रतिष्ठित किया है।

१— यतः प्रवृतिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानव ॥
गीता अध्याय १८ श्लोक ४६.

२— शब्दवाणी जम्भसागर, २६/७, कृष्णानन्द आचार्य, प्रिंटर्स ऋषिकेश हरिद्वार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जम्भ जी का धर्म कोई खोखला आडम्बरवाद नही है। वे सदाचार की प्राप्ति के लिए तथा धार्मिक जीवन बिताने के लक्ष्य से राग द्वेष आदि अवगुणों की निवृति को परमावश्यक समझते थे। जिन धर्मसूलक आदर्शों को अपनाने का संकेत उन्होने जगह-जगह पर किया है। उनका स्रोत वेद पुराण स्मृतियां आदि धर्म ग्रन्थ ही रहे हैं। वे स्वयं स्वीकार करते हुये कहते हैं कि "भोरा उपरुयान वेद्" शब्द, १४ सामान्य धर्म की जो चर्चा स्मृतिकारों ने की है जम्भ जी ने बड़े सुन्दर ढग से अपने ग्रन्थ में उनका वर्णन किया है।

सामान्य धर्म : जो मनुष्य अभ्युदय और निःश्रेयस की कामना करते है, उनके लिए सामान्य धार्मिक आदर्शों का परिपालन करना आवश्यक है। जम्भ जी ने शाश्वत आदर्शों का परिपालन करना आवश्यक बताया है जम्भ जी ने शाश्वत आदर्शों को एक व्यक्ति विशेष के सामने रखकर प्रस्तुत नहीं किया बल्कि जो व्यवित उत्कण्ठा से भरा हो, या संगोष्ठि रुप में उनसे कुछ पूछता है वे उन्हें उसी प्रकार इनका वर्णन उनके सम्मुख प्रस्तुत करते है। जो उन्होंने समाज के सम्मुख सामान्य धर्म बताये हैं वे इस प्रकार हैं— सत्य, अहिंसा, शील, बल, विवेक, दम, परहित क्षमा, दया, समत्व भाव, धैर्य, वैराग्य, सन्तोष, दान, बुद्धि, विज्ञान, निर्मल मन, शम, यम–नियम, ईश्वर भजन तथा गुरु पूजा को जीवन के समरांगण में रावण, कीचक, हिरणाकश्यप रुपी अधर्म पर विजय प्राप्त करने का साधन बताया है। इन सभी आदर्शों में लोक-कल्याण की भावना और आत्मोत्थान अन्तर्निहित है। इन्हीं आदर्शों को जम्भ जी स्थान-स्थान पर प्रतिपादित करते दिखाई पड़ते हैं।

सत्य : सभी धर्म ग्रन्थों में सत्य को धर्म का स्तम्भ माना गया हैं। उपनिषदों में "सत्यमेव जयते नानृतम् का उद्घोष किया है। जम्भ जी भी उसी आदर्श का प्रतिपादन जगह-जगह पर करते हैं।

सुवचन बोल सदा सुहलाली।[3]

चोरी निन्दा झूठ बरजियो, वाद न करणो कोय।[4]

चन्द सूर दोय बैल रचीलो, गुङ जमन द्रोय रासी।

सत सन्तोष दोय बीज बीलीलो, खेती खड़ी अकासी।[5]

जम्भ जी कहते हैं कि व्यक्ति को देश का भला सोचते हुये सत्य मार्ग पर अडिग रहे जैसे राजा हरिश्चन्द्र।

३— वही ७८/१

४— वही २९ नियमों में १३ वां भाग

५— वही १०८/१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

—तारा दे रोहितास हरिश्चन्द्र, काया दशबन्ध दीयों।

शील:— शील धर्म का प्रमुख अंग और परम भूषण है। समस्त प्राणियों के प्रति अद्रोह की भावना और व्यवहार में शालीनता तथा शिष्टाचार को ही शील कहा जाता है। जम्भ जी कहते हैं कि शील हर व्यक्ति में होना चाहिए—

ओऽम सहजे शीले सेज विछायों, उनमन रहया उदासूं।[6]

शील स्नाने संजमें चालो, पाणी देह पखाली।

गुरु के वचने निव खिव चालो, हाथ जपो जप माली।[7]

तिरया दानू कछु न मानूं, मानू एक सुचील सिनानूं।[8]

सेरा करो स्नान्, शील शन्तोष शुचि प्यारो।[9]

जिस व्यक्ति में शील भावना नही है वह यमपुरी मे भी सताता जाता है इस पर जम्भ जी कहते हैं कि—

शील विवरजित दुहेलो, यमपुरी में संताईये।[10]

आगे कहते है कि बिना शील का व्यक्ति कुटिलता से भरा होता है—

जां जां पाले न शोलू. तां तां कर्म कुचीलूं।[ए]

बल : बल के अन्तर्गत शरीर बुद्धि तथा आतमा तीनों के बल को ही गिना जाता है। बलहीन व्यक्ति न पाप से संघर्ष कर सकता है न ही अकिंचन होकर धर्म का पालन कर सकता है। जम्भ जी ने अपने ग्रंथ में राम कृष्ण युधिष्ठिर का जगह-जगह सन्दर्भ देकर बल का वर्णन दर्शाया है।[11]

६— वही शब्द १०७

७— वही ८६/५.

८— वही १०४/१

९— २९ नियम का ३

१०— वही ३०/१०.

ए— वही—५८/१२.

११— वही शब्द १०.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विवेक : सत् और असत् को पहचान कर सत् को ग्रहण करना ही विवेक का लक्षण है और लौकिक तथा पारलोकिक दोनों प्रकार के धर्मों में इसका विशेष महत्व है। जम्भ जी ने जगह-जगह इसके उदाहरण प्रस्तुत किये हैं— एक राजा को जम्भ जी ने कहा कि यह धन दौलत सब झूठी है परमात्मा ही सत्य है।

ओऽम सासूं, तईया मांसूं, रक्तूं रुहींयूं, खीरु नीरु ज्यूं कर देखूं।

ज्ञान अन्देसू भूला प्राणी कहे सो करणों। [12]

दम : मनुस्मृति में धर्म के लक्षणों में दम को धर्म का लक्षण माना है। दूसरों के प्रति अपनी बुरी भावनाओं का दमन करना, अपवित्र विचारों को मन में न आने देना और निर्भयतापूर्वक मानसिक रोगों से बचे रहना ही दम कहलाता है। व्यर्थ कामनाओं की निवृति से मनुष्य दम का अभ्यासी हो जाता है और उसके अन्दर त्याग वृति उत्पन्न हो जाती है जम्भ जी ने इसका उदाहरण उस समय प्रस्तुत किया है।

जब नरेश लूणकरण ने अपने बेटे प्रताप को तो युद्ध के लिए घोड़ा दे दिया पर बड़े बेटे जेतसी को नहीं दिया तब वह जम्भ जी के पास आकर पूछता है कि यह सब क्या है तब जम्भ जी कहते हैं किसी के प्रति द्रोह न रखो बस यही सन्देश है। [13]

परहित : महर्षि वेदव्यास ने १८ पुराणों का निचोड़ निकालकर धर्म का सार बताते हुये परोपकार को समस्त पुण्यों का मूल बताया है। जम्भ जी ने अपनी वाणी में जगह जगह इसकी चर्चा की है।

सता सन्तोषी सत उपकरणां, म्हे तजिया मान अभिमानूं। [14]

संसार में उपकार ऐसा, ज्यूं घण वरषंता नीरु।

संसार में उपकार ऐसा, ज्यूं रूही मध्ये खीरूं॥ [15]

अतः यही सन्त लोगों की पहचान है कि वे हमेशा परहित में लगे रहते हैं परोपकार ही परम धर्म है।

क्षमा : सामर्थ्यवान् व्यक्ति अपराधी को दण्ड न देकर उसको क्षमा करके सुधार देता है, नैतिक दृष्टि से यह बड़ा महत्व शाली गुण माना गया है। महाभारत में।

१२- वही—१७/१.

१३- वही—विस्तृत दृष्टव्य—वही शब्द ६४/१३.

१४- वही, शब्द, ६९.

१५- वही, ६६/४.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तुष्टिर्मोक्षबाधिका

लेखकः— डा० विजयपाल शास्त्री
रीडर एवं अध्यक्ष
दर्शन विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

योगाभ्यास भूमिकायां सन्तोषः परमं साधनम् । सन्तोषजलेन क्षालिता चित्त भूमि निर्मलत्वमापन्ना समाधियोग्यत्वमधि गच्छति । समाहितं चित्तं सत्व पुरुषान्यता-ख्याति रूप विवेक साक्षात्काराय समर्थो भवतीति पातञ्जल योग वादिनामभिमतम् । "सन्तोषः परमं सुखम्" "सन्तोषादनुत्तमः सुखलाभः" इत्यपि च योगतत्त्व विदां मतम् किन्तु मोक्षभूमिकायां स एव सन्तोषो महान् प्रत्यूहः' इति साख्यानां बचनम् । तुष्टि र्मोक्षस्य परिपन्थिनी योगसिद्धीनां चांकुशरूपिणी विद्यते । 'सिद्धेः पूर्वोऽकुंशस्त्रिविधः" इति सांख्याचार्य ईश्वर कृष्णो ब्रूते ।

मोक्षबाधिका तुष्टिरियं नवधा सांख्यैः समुद्दिष्टा । प्रकृत्युपादान काल भाग्याः पञ्च आध्यात्मिक्यस्तुष्टयः । शब्दोपरमः, स्पर्शोपरमः, रूपोपरमः रसोपरमः गन्धोपरमश्चेति पञ्च बाह्यास्तुष्टयः इति नव तुष्टयो भवन्ति । एता एव तुष्टयः, क्रमशः — अम्भः सलिलं मेघो वृष्टिः पारं सुपारं पारापारं अनुत्तमाम्भः उत्तमाम्भश्च कथ्यन्ते । एतास्तुष्टयो योगसाधकस्य चित्तं सम्मोह्य मोक्षमार्गात् प्रच्यावयन्ति । एतासां स्वरूपं तत्त्वतो विज्ञाय साधकेन सावधानेन भवितव्यम् ।

१- प्रकृति तुष्टिः— कश्चिदनाप्तः पुरुषः स्वशिष्यायोपदिशति — "विवेकसाक्षात्कारो बुद्धेः परिणाम विशेषो विद्यते, प्रकृतिरेव तं करोति, तस्मात् को लाभः श्रवणादि-भिरुपायैः ? एवमेव सन्तुष्टो भूत्वा तूष्णीमास्स्वेति" । इत्थं श्रुत्वा उपदेष्टव्यस्य शिष्यस्य या तुष्टिः सा प्रकृतिरुच्यते । इयमेव तुष्टिरम्भोनाम्नाऽपि व्यपदिश्यते । अम्भो जलनाम । यथा जलं निमज्जने हेतुः तथैवेयं तुष्टिरपि संसारपातने हेतुः । तत्सादृश्यात् प्रकृति तुष्टिः अम्भ इत्युच्यते ।

२- उपादानम्— "विवेकख्यातिः प्रकृतिमात्रान्न भवति । यदि प्रकृतिरेव विवेक साक्षात्कारे हेतुर्भवेत् तदा तु तस्याः सर्वान् प्रत्यविशेषात् सर्वस्य सर्वदा सममेव विवेक ख्यातिरुदियात् । तस्मान्न केवलं प्रकृत्याः विवेकसाक्षात्कारः अपितु प्रव्रज्यैव केवलं विवेक प्राप्तौ हेतुः । "यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेदिति श्रुतिरत्र प्रमाणम् । तस्मात् हे वत्स ! प्रव्रज्यैव केवलमुपादेया । त्यज ध्यानाभ्यासादीनि साधनानि" इति केनापि उपदिष्टे सति उपदेष्टव्यस्य शिष्यष्य या तुष्टिः सा उपादान तुष्टिः ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अस्याभिप्रायो यत् प्रव्रज्ययाऽपि न विवेक ख्याति रुदेति । य प्रव्रज्यामेव, मोक्ष-साधनं मन्यमानः ध्यानाभ्यासादीन् विहाय सन्तुष्टो भूत्वा विरमति, स परम पुरुषार्थं न प्राप्तुं शक्नोति । सेयं तुष्टिः सलिल नाम्नाऽप्यभिधीयते । सलिलं यथांऽकुरं प्रति सहकारि कारणं भवति तथैव प्रव्रज्याऽपि विवेक-साक्षात्कारस्य सहकारि कारणं विद्यते । साक्षात्कर्तृभिः उपादीयमानत्वात् इयमुपादान तुष्टि निगद्यते ।

३– कालतुष्टिः– "सन्न्यासेनापि केवलेन न सद्यः मोक्ष प्राप्तिः सम्भवति । सन्न्यासोऽपि कर्म परिपाकमपेक्ष्यैव समुचिते काले समागते एव विवेक साक्षात्कारं कारयिष्यति । कृषिरिव सर्वाणि कार्याणि कालमेव अपेक्षन्ते । "समय एव करोति बलाबलम्" इति स्मृतिरत्र प्रमाणम् । तस्मात् हे वत्स ! त्वया विवेक साक्षात्कारे त्वरा न विधेया । कालं प्रतीक्षमाणस्तूष्णीमास्स्व । काले स्वयमेव निर्वाणं भविष्यति" इत्युपदेशे या तुष्टि र्जायते सा कालाख्या तुष्टिः । इयं तुष्टिः मेघापरपर्याया । यथा मेघो वृष्टेः साधनम्, तथैव कालोऽपि मोक्षस्य साधारणं कारणमिति सादृश्यात् इयं तुष्टिर्मेघ उच्यते ।

४– भाग्य तुष्टिः– न प्रकृतेर्न सन्न्यासात्, नापि कालात् मुक्ति र्भवति, अपितु भाग्यादेव सा भवति । यदि भाग्ये विवेक साक्षात्कारो भविष्यति तदा स स्वयमेव अनायासेनैव लब्धो भविष्यति, अलं पुरुषार्थेन । "भाग्यं फलति सर्वत्र न बुद्धि र्न च पौरुषम्" "यत्पूर्व विधिना ललाट लिखितं तन्मार्जितुं कः क्षमः इत्यादि स्मृति बलात् भाग्यमेव मोक्ष साधनंसिध्यति । अत्र मदालसायाः पुत्रा उदाह्रियन्ते । "त्वं शुद्धोऽसि, बुद्धोऽसि मा रुदिहि, दुःख नात्मधर्मः" इति मदालसाया उपदेशेन तस्या एक हायनाः पुत्रा विवेकख्याति - लाभात् मुक्ता बभूवुः । भाग्येनैव सर्वमिदं जातम् । भाग्यादेव एतादृशी माता समुपलब्धा, भाग्येनैव च तादृश उपदेशो जातः । तस्मात् भाग्यमेव विवेक साक्षात्कारस्य मुख्यं साधनम्" इत्युपदेशे सति शिष्यस्य या तुष्टि र्जायते सा भाग्याख्या तुष्टिः । इयं तुष्टिः वृष्ट नाम्नाऽपि भण्यते । अकस्मात् विवेकख्यातिवर्षणादियं वृष्टिरित्याख्यायते । इति प्रकृत्युपादान कालभाग्याख्याः चतस्र आध्यात्मिक्यस्तुष्टयः ।

५– पारा तुष्टिः– वैराग्यस्य पञ्च हेतवः

१— धनादीनामर्जने दोषदर्शनम् ।

२— रक्षणे दोषदर्शनम् ।

३— क्षये दोषदर्शनम् ।

४— भोगे दोष दर्शनम् ।

५— हिसायां च दोष दर्शनम् ।

एतै हेंतुभिः पञ्च विषयेभ्यो या उपरतिः सैव पञ्चविद्या बाह्यास्तुष्टयः । यथा—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रथमा पारनाम्ना तुष्टिः धनार्जनोपायेषु सेवादिषु दोषदर्शनाद् भवति । धनोपार्जने सेवकानां महान् क्लेशो जायते । भृत्याः स्वामिनः सकाशाद् अपमानं सहन्ते, दण्डधारिणां: दण्डै राहता भवन्ति । को वै प्राज्ञः तादृशीषु सेवासु सज्जो भवेत् कथितं शास्त्रेषु–

दृप्यद् दूरीश्वर द्वाःस्थ
दण्डिचण्डार्ध चन्द्रजाम् ।
वेदनां भावयन् प्राज्ञः
कः सेवास्वनु षज्जते ॥

इत्थं धनार्जनोपायेषु सकलेष्वपि दोषदर्शनाद् बाह्यविषयेषु वैराग्य बुद्धि र्जायते । एतेन वैराग्येन या तुष्टिः साधकस्य मनसि समुत्पद्यते सा पारा तुष्टिः कथ्यते । धनार्जन दुःखस्य पारं गमयति, इत्यस्मात्कारणादियं पारसंज्ञां लभते ।

६– सुपारा तुष्टिः– "महता प्रयत्नेनोपार्जितानि धनानि राजा आहरति, चौरश्चोरयितुं शक्नोति, लुण्ठका लुण्ठन्ति भूकम्प जलौधादिमि दैवसंकटै र्नष्टा भवन्ति । इत्थं धनानां रक्षणे महान् कष्टो जायते । को न्वेषां विषयाणां रक्षणेऽनुषज्जेत" इत्थं भावयतो योगिनः चेतसि या वैराग्य बुद्धि र्जायते, तयैव चेत् स्वात्मानं कृतकृत्यं मन्यमानस्तुष्टिं भजन् साधको ध्यानाभ्यासादीन् प्रजहाति सैषा तुष्टिः सुपारा निगद्यते । सुतरां दुःखपारं गमयितृत्वादियं सुपार संज्ञां भजते ।

७– पारापारा तुष्टिः – विषयाणां क्षयदोषदर्शनात् पारापारा तुष्टिरुत्पन्ना भवति । अर्जितं रक्षितं चापि धनं शनैः शनै र्भुज्यमान क्षयमापद्यते । एवं भावयतो योगिनो विषयोऽपरमे या तुष्टिः सा पारापारा । यदा विषयेषु अप्रवृत्ति स्तदा स दुःखस्य पारं यदा च प्रवृत्ति स्तदा स दुःखस्यापारः । इत्थमियं पारागार संज्ञां दधाति ।

८– अनुत्तमाम्भ तुष्टिः– विषयाणां भोगेषु दोष - दर्शनाद् विषयोपरमे या तुष्टिः सा अनुत्तमाम्भः संज्ञा लभते । विषयाणां भोगात् कामाः न शाम्यन्ति किन्तु घृतेनाग्निरिव प्रतिदिनं वर्धन्त एव । विषया यदा न प्राप्यन्ते तदा कामी दुःखमनु भवति । इत्थं भोगेषु दोषदर्शनात् योगिनश्चेतः विषयेभ्य उपरमति । तैनेवोपरमेन चेत् साधकस्तुष्टो भूत्वा मोक्षानुसन्धान विजहाति, सेयं तुष्टिः अनुत्तमाम्भः कथ्यते ।

निरन्तरं भोगान् भुञ्जाना अपि सुधियो जनाः तेषु दोषदर्शनेनापि तेभ्यो न विरमन्ति । इत्थमियं दोष दृष्टिः सुतरां भोगेषु घृणां वैराग्तबुद्धिं वा न जनयति, तस्मात् कारणादियं विषयोपरतिरुत्तमा न विद्यते । तेनेयं अनुत्तमाम्भ इत्यन्वर्थां संज्ञां दधाति ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

९- **उत्तमाम्भः तुष्टिः**- विषयेषु हिंसा दोषदर्शनात् विषयोपरमे या तुष्टिः सा उत्तमाम्भा तुष्टिः कथ्यते। हिंसां विना विषयोपभोगो न सम्भवति। अस्माभिः भुज्यमानेषु घृत दुग्धान्नपानादिषु बहवः प्राणिनो वसन्ति। कृष्यादि साधनेष्वपि प्राणि हिंसा दुर्निवारा। हिंसया पातकमेव भवति। पातकाच्च दुःखमेव जायते। इत्थं विचित्य हिंसादोषदर्शी साधकः विषयेभ्य उपरमति। एतेन विषयोपरमेन या तुष्टि जायते सा उत्तमाम्भ संज्ञां लभते। अहिंसा कारणादियमस्यान्वर्थ संज्ञा।

एवमेता नव तुष्टयो मोक्षपरिपन्थिन्यः। एताः साधकस्य यौगिनश्चेतांसि मोहयन्ति मोक्षाभिरुचिं च प्रतिवध्नन्ति। तुष्टि जाल निबद्धाः साधकाः श्रवण मनन निदिध्यासनादीनि साधनानि त्यजन्ति, पुनरेवते संसारकूपे एव पतान्ति। तस्मान्मोक्षाधिगतिपर्य्यन्तं साधकेन सावधानेन निज चेतः तुष्टिभ्यः परिहर्त्तव्यम्।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुरुकुल-पत्रिका

मासिक शोध पत्रिका

MONTHLY RESEARCH MAGAZINE

सम्पादक
डा० जयदेव वेदालंकार

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुरुकुल पत्रिका

मासिक शोध पत्रिका

MONTHLY RESEARCH MAGAZINE

सम्पादक :
डा० जयदेव वेदालंकार
न्यायाचार्य, पी-एच०डी०, डी०लिट्०
सीनियर प्रोफेसर– दर्शन विभाग
एवं
अध्यक्ष– (डीन) प्राच्य विद्या संकाय

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

वैशाख से भाद्रपद	वर्ष ४५	संयुक्तांक - अप्रैल से सितम्बर, ९३ तक

मूल्य–१५ रुपये मात्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकाशक :—

कुलसचिव
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

मूल्य— २५ रुपये (वार्षिक)

मुद्रक :– किरण प्रिंटिग प्रैस, निकट गुरुकुल काँगड़ी फार्मेसी, हरिद्वार फोन-४२५६७५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्पादक मण्डल :

मुख्य संरक्षक : **डा० धर्मपाल**
कुलपति

संरक्षक : **प्रो० रामप्रसाद वेदालंकार**
आचार्य एवं प्रो-वाइसचान्सलर

परामर्शदाता : **डा० विष्णुदत्त राकेश**
प्रोफेसर- हिन्दी विभाग

सह सम्पादक : **डा० विजयपाल शास्त्री**
रीडर एवं अध्यक्ष— दर्शन विभाग

व्यवसाय प्रवन्धक : **डा० जगदीश विद्यालंकार**
पुस्तकालयाध्यक्ष

प्रबन्धक : **श्री हंसराज जोशी**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रुति सुधा

रथे तिष्ठन्नयति वाजिनः पुरो यत्रयत्र कामयते सुषारथिः ।

अभीशूनां महिमानं पनायत मनुः पश्चादनु यच्छन्ति रश्मयः (यजु० पृ०२९ म० ११-४३)

पदार्थः— हे विद्वानों (सुषारथिः) सुन्दर सारथि घोड़ों वा अग्न्यादि को नियम में रखने वाला रमण करने योग्य पृथिवी जल वा आकाश में चलाने वाले यान में (तिष्ठन्) बैठा हुआ (यत्रयत्र) जिस जिस संग्राम वा देश में (कामयते) चाहता है वहां वहां (वाजिनः) घोड़ों वा वेग वाले अग्न्यादि पदार्थों को (पुरः) आगे (नयति) चलाता है जिनका (मनः) मन अच्छा शिक्षित (रश्मयः) लगाम की रस्सी वा किरण हस्तगत है (पश्चात्) पीछे से घोड़ों व अग्न्यादि का (अनु यच्छन्ति) अनुकूल निग्रह करते हैं उन (अभीशूनाम्) महत्व की तुम लोग (पनायत) प्रशंसा करो ।

भावार्थः— जो राजा और राजपुरुष चक्रवर्ती राज्य और निश्चल विजय चाहें तो अच्छे शिक्षित मन्त्री अश्व आदि तथा अन्य चलाने वाली सामग्री अध्यक्षों शस्त्र अस्त्रों और शरीर आत्मा के बल से अवश्य सिद्ध करें ।

(महर्षि दयानन्द के यजुर्वेद भाष्य से)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डा० धर्मपाल
कुलपति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्पादकीय

विश्वविद्यालय के नये परिद्रष्टा

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की शिष्ट परिषद् ने अपनी बैठक दिनांक १६-४-९३ को सर्व सम्मति से जस्टिस श्री महावीर सिंह को विश्वविद्यालय का परिद्रष्टा नियुक्त किया है। जस्टिस श्री महावीर सिंह जी इलाहाबाद उच्च न्यायालय के अवकाश प्राप्त न्यायाधीश हैं। श्री महावीर सिंह जी को न्याय प्रियता के लिये जहां-जहां पर वे न्यायाधीश रहे, आज भी सम्मान के साथ याद किया जाता है। आपकी आर्य समाज के सिद्धान्तों में गहरी निष्ठा है। इसीलिये आप सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा की न्यायार्य सभा के अध्यक्ष हैं। न्याय-आर्य सभा में आर्य समाजों एव आर्य प्रतिनिधि सभाओं के विवादों का निपटारा किया जाता है। इन सभाओं के विवादों के निपटारे भी आप "दूध का दूध और पानी का पानी" की कहावत के अनुसार करते हैं। आप के उन निर्णयों को दोनों पक्ष सहज रूप में स्वीकार करते हैं।

जस्टिस महावीर सिंह जी ने भारतीय संविधान का हिन्दी अनुवाद अपनी विद्वतापूर्ण टिप्पणियों सहित किया है। बड़े–बड़े विधि विशेषज्ञ भी आप के अनुवाद की प्रशंसा करते हैं। आप अत्यधिक सरल व्यक्ति हैं, कानून के पोषक, सत्य, न्याय प्रिय और गम्भीर व्यक्तित्व के महापुरुष हैं।

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के परिद्रष्टा के रूप में "गुरुकुल पत्रिका" परिवार आपका हार्दिक स्वागत करता है।

नये कुलपति का स्वागत

विश्वविद्यालय के परिद्रष्टा जस्टिस महावीर सिंह जी ने डा॰ धर्मपाल, मन्त्री आर्यप्रतिनिधिसभा दिल्ली को दिनांक ३०-६-९३ को गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय का कुलपति नियुक्त किया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डा० धर्मपाल जी दिल्ली के आर्यसमाजी क्षेत्रों में लगभग २० वर्ष से समाज सेवा में दिन रात लगे हुये हैं। दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के आप सर्वप्रिय नेता माने जाते हैं, इसलिये ही आपने आर्य प्रतिनिधि सभा दिल्ली के प्रधान एवं मन्त्री पदों को अनेक बार सुशोभित किया है और अभी भी कर रहे हैं।

आप महर्षि दयानन्द के अनन्य भक्त हैं। महर्षि दयानन्द के निर्वाण एवं उनके अनेक कार्यक्रमों को प्रकाश में लाने के लिये टी०वी० पर कार्यक्रमों में सक्रिय भाग लेते रहे एवं कार्यक्रमों का आयोजन करते रहे हैं। डा० धर्मपाल जी आंग्ल भाषा एवं हिन्दी साहित्य से एम०ए० हैं। हिन्दी साहित्य के गम्भीर विषय में आपने डाक्टरेट (पी०एच०डी०) की उपाधि दिल्ली विश्वविद्यालय से प्राप्त की है। आप लगभग ३० वर्षों से शिक्षा जगत् से जुड़े हुये हैं। एन०सी०ई०आर०टी० आदि के पाठ्यक्रम एवं शिक्षा सुधारों में विषय विशेषज्ञ के रूप में सक्रिय भाग लेते रहे हैं। सम्प्रति आप दिल्ली विश्वविद्यालय में हिन्दी साहित्य के उद्भट्ट विद्वान् के रूप में माने जाते हैं, वहीं पर सेवारत थे। आर्य समाज के नेता, शिक्षा शास्त्री, अपने विषय के उद्भट्ट विद्वान् होने के साथ - साथ आप विनयशील एवं श्वेत वस्त्रों में साधु व्यक्ति है।

आप गुरूकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के कुलपति नियुक्त हुये हैं. आप पर यह एक गुरुतर भार भी है। आप से यह आशा की जाती है कि गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय जहां प्राच्य विद्याओं का प्रतिष्ठान एवं अर्वाचीन विषयों के संस्थान के रूप मे प्रसिद्ध है वहां यह सस्था अन्य सामान्य विश्वविद्यालयों से विशिष्ट चरित्र रखती हुई राष्ट्रीय चेतना एवं वैदिक मूल्यों के थाती के रुप में प्रख्यात होगी। आप के कार्यकाल में यह विश्वविद्यालय दिन दुगनी रात चौगुनी उन्नति के शिखर पर प्रतिष्ठित हो, ऐसी हमारी कामना है।

आप का नये कुलपति के रूप में "गुरुकुल पत्रिका" परिवार को ओर से हार्दिक स्वागत एवं अभिनन्दन है।

जयदेव वेदालंकार
सम्पादक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्रह्मदर्शन

प्रा० भद्रसेन वेद-दर्शनाचार्य (होशयारपुर) १४६०२१

दर्शनाचार्य का जब नया सत्र समारम्भ हुआ, तो वेदान्त[1] के दर्शन के पाठ्यक्रम में प्राध्यापक ब्रह्मानन्द जी ने दर्शन के अर्थ, परिभाषा के प्रसंग में वेदान्द शब्द के अभिप्राय और सम्बन्ध को समझाते हुए ग्रन्थ का एक सामान्य परिचय दिया। अगले दिन जब छात्र पुनः अध्ययन के लिए बैठे, तो ब्रह्मदेव ने कहा–गुरु जी! कल आपने बताया था, कि वेदान्त दर्शन में ब्रह्मजिज्ञासा का समाधान है। यह ब्रह्म शब्द साहित्य में अन्यत्र भी आया है। अतः ग्रन्थ के शुभारम्भ से पूर्व उस-उस विषय के ग्रन्थों में आए ब्रह्म के विवेचन से परिचित करा दें, तो हमारे लिए विषय बोध सरल हो जाएगा ?

प्राध्यापक– ब्रह्मदेव ! तेरी यह जिज्ञासा बहुत ही उपयुक्त है। अतः आइए। पहले इसी पर ही विचार करें। जैसा कि तुम सब जानते हो, कि संस्कृत भाषा की दृष्टि से मूलशब्द है- ब्रह्मन्। जो कि बृह धातु से मनिन् प्रत्यय के होने पर सिद्ध होता है। अतः ब्रह्म शब्द की मूल धातु है– बृह, जो कि वृद्धि के अर्थ में आती है। इस लिए इसका तात्पर्य है– **बड़ा।**

ब्रह्मप्रकाश– गुरु जी! कल के पाठ के पश्चात् में पुस्तकालय गया था। वहां मैंने एक नई पुस्तक बड़ी सुन्दर जिल्द वाली देखी। जब मैंने उसको खोलकर देखा, तो वह शब्दकोष था और उसमें ब्रह्म, ब्रह्मन् शब्द के– 'सच्चिदानन्द-स्वरूप परमात्मा, जगत् का मूलतत्त्व, हिरण्यगर्भ, वेद, सत्य, प्रणव, योग, तप, तत्त्व, विप्र, ऋत्विग् विशेष [ब्रह्मा] आदि अनेक अर्थ लिखे हुए थे ?

प्राध्यापक– इन सभी अर्थों पर जब हम विचार करते हैं तो एक बात स्पष्ट होती है, कि जो जिस-जिस प्रकरण, क्षेत्र, विषय में बड़ा है। उस को वहां तदनुरूप

१- वेदान्त शब्द वेद+अन्त इन दो केमेल से बनता है। अन्त शब्द यहां सिद्धान्त के अर्थ में है। अर्थात वेद के मुख्य सिद्धान्त [प्रतिपाद्य विषय, ब्रह्म] का जिस में विचार है, वह वेदान्त दर्शन है। सर्वे वेदा यत्पदम् कठ उप. २,१५ के अनुसार वेद का मुख्य प्रतिपाद्य ब्रह्म ही है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्रह्म कहा गया है। जैसे कि भारतीय साहित्य के वैदिक वाङ्मय में विशेष-विशेष यज्ञों को कराने वाले चार व्यक्ति [ऋत्विक] होते हैं- होता, उद्गाता, अध्वर्यु और ब्रह्मा। इन सब का मुखिया ब्रह्मा होता है।[2] अन्य उसकी अनुमति से ही अपना अपना कार्य करते हैं। अतएव इस बड़ेपन के कारण उस को उस प्रकरण में ब्रह्मा [बड़ा] कहा जाता है। ब्रह्मा के स्वरुप की चर्चा में मन के साथ उसका सम्बन्ध एवं तुलना दर्शाई गई है।[3] जैसे आँख, कान आदि इन्द्रियों की अपेक्षा मन इनका नियन्त्रक है।[4] यही कुछ स्थिति यज्ञ में अन्यों की अपेक्षा ब्रह्मा की होती है। इस लिए इस विश्लेषण में मूलसूत्र है- बड़ापन। संसार में जिस-जिस आधार से जहां कहीं जो कोई बड़ा है, वह वहां ब्रह्म कहलाता है। अतः अकेले या समस्त पद के रूप में जहां-जहां ब्रह्म शब्द प्रयुक्त हुआ है, वहां सर्वत्र यही भावना है।

ब्रह्म स्वरूप- गुरु जी! आपने इस विश्लेषण में ब्रह्म का जो मोटा सा अर्थ — **बड़ा** बताया है। उससे मुझे हिन्दी का एक पद्यांश स्मरण आ रहा है। यदि अनुमति हो, तो मैं वह अंश अभिव्यक्त कर दूं?

प्राध्यापक- मैं भी यही चाहता हूं, कि यह जिज्ञासा की भावना तुम सब में प्रस्फुटित हो, क्योंकि जिज्ञासा की स्थिति में विचार चर्चा का विशेष आनन्द आता है। अतः वह पद्यांश अवश्य सुनाओ!

ब्रह्मस्वरूप- सब से बड़ा रुपय्या न कोई भैय्या, न कोई मैय्या।

प्राध्यापक- हां, एक अन्य कवि श्री गिरिधर ने भी कहा है--

सांई सब संसार में पैसे का व्यवहार, जब तक पैसा पास में तब तक ताको यार।
तब तक ताको यार-यार संग ही संग डोले पैसा रहा न पास यार मुख से नहीं बोलै॥

२- ऋ. १०,७१।।ऋचांत्वः पोषमास्ते-और इसकी व्याख्या निरूक्त १,३ तथा सायणभाष्य में द्रष्टव्य हैं।

३ - मनसा एव ब्रह्मा यज्ञस्य अन्यतंर पक्ष संस्करोति-गोपथ ब्राह्मण ३,२

४- एकादशं मनो ज्ञेयं स्वगुणेनोभयात्मकम्। यस्मिञ्जिते जितावेतौ भवतः पञ्चकौ गणौ।।मनु. २,९२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कह गिरिधर कविराय

हाँ, कवि के समय यह बात कितनी स्पष्ट थी, यह तो वही जाने, पर आज तो यह बात शत प्रतिशत चरितार्थ हो रही है। आज तो उच्चपदों पर आसीनों और करोड़ों में खेलने वालो के निन्यानबे के जो घटनाचक्र सामने आ रहे हैं। उन्होंने भर्तृहरि के भावों को पूर्णतः चरितार्थ कर दिया है—

'निश्चय ही जग में गुण सारे कंचन में करते हैं वास' [5]
'बिना एक जिस के गुण सारे हैं तृण के टुकड़े समव्यथ' [6]

गोपाल दास गुप्त

ऐसी स्थिति में ब्रह्म स्वरूप ! तेरी पंक्ति यथार्थ ही है, कि सबसे बड़ा रुपय्या— क्योंकि आज की दुनिया और जीवन में धन ही परम ब्रह्म प्रतिभासित होने लगा है। तभी तो गोपाल प्रभाकर ने लिखा है—

'अर्थ की धुरी पर	पैसा
घूम रही है दुनिया	जीवन है, संस्कृति है
अर्थ के आकर्षण से बन्धे हुए	आरम्भ है इति है
सारे लोग	सुरक्षा है, गति है
द्वार दरीचों से तकते हैं	सब कुछ है पैसा इस पैसे के खम्भे पर ही
दूसरों का अर्थ	खड़े हैं रिश्तों के मेहराब

ब्रह्मेन्द्र– गुरु जी ! एक दिन में रुपये की आत्मकथा पढ़ रहा था, उसमें भी इसका अच्छा विवेचन था। उसको भी इस प्रसंग में प्रस्तुत कर दिया जाए, तो प्रकरण की स्पष्टता के लिए उपयुक्त रहेगा ?

प्राध्यापक– एक विचारक ने उस आत्मकथा को इस प्रकार लिखा है-

रूपये की आत्मकथा

हां ! हां ! मैं रुपया हूं, दुनिया में सबसे बड़ा, मुझसे बड़ा कोई नहीं। सभी लोग मेरे नाम की माला जपते हैं। मेरी चमक-दमक क आगे सभी लोगों की आंखे

५– सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति नीतिशतक–४१
६– ये नै केन विना गुणास्तृणलव प्रायाः समस्ता इमे नीति. ३६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चुंधिया जाती हैं, राजा क्या, रंक क्या, सभी मुझे प्यार करते हैं। मुझे पाकर कौन व्यक्ति खुशी से फूला नहीं समाता और बिछुड़ने पर कौन सर्द आहें नहीं भरता। मेरी चमक-दमक के कारण पिता-पुत्र का, पुत्र-पिता का, भाई-भाई का शत्रु बन जाता हैं। मैं दुनिया में हर एक वस्तु के खरीदने की शक्ति रखता हूं। एक भिखारी से लेकर भगवान् के चरणों तक घूमता रहता हूं। बाहर से इतनी शान होते हुए भी मेरी आन्तरिक कथा इतनी करुणाजनक है कि उसे याद करके आज भी मेरी आंखे छलछला आती हैं।

सदियां बीत गई, मैं लगातार पृथिवी की गोद में पड़ा रहा। एक दिन भयानक कोलाहल से मेरी नींद खुल गई। ज्यों ही मैंने दृष्टि घुमाई अनेकों मजदूर कुदालियां लिए खड़े थे। थोड़ी देर के पश्चात् दनादन मेरे ऊपर चोटें पड़ने लगीं। कठिन परिश्रम के पश्चात् मजदूरों ने मुझे धरती मां की गोद से निकालकर अलग कर दिया मेरे ऊपर कई प्रकार की तह जमी हुई थीं। वहां से ट्रकों में भरकर शुद्ध करने के लिए ले जाया गया। रास्ते भर की यात्रा हमें बहुत आनन्ददायक लगी। यह आनन्द शीघ्र ही गायब हो गया, जब कि हमें बड़े भट्टों में डाला गया। इसके पश्चात् अनेक तेजाबों से हमारी शुद्धि की गई। अब मेरा रूप काफी निखर आया था। मुझे अपने ऊपर गर्व होने लगा। लोग अब प्यार से मुझे शुद्ध चांदी कहने लग पड़े।

मैं समझने लगा था, कि मेरे दुखों का अन्त हो गया। लेकिन यह मेरी भूल थी। अभी परीक्षा शेष थी। मुझे अन्य धातुओं सहित पिघला कर सांचों में ढाला गया। सांचों में ढल जाने पर मेरी शकल गोल हो गई थी। मेरे एक ओर तीन शेर तथा दूसरी ओर मेरी पुण्य तिथि अंकित की गई। मैं प्रसन्नता से झूम उठा, अब मुझे गाड़ी की यात्रा करने को मिली। यात्रा में मैं आराम से सो गया। धीरे-गाड़ी चलती रही। अन्त में एक बड़े नगर में पहुंच कर मुझे अपने बन्धुओं सहित बैंक में पहुंचा दिया गया।

बैंक बहुत बड़ा था। मैं अपने आपको स्वतन्त्र अनुभव कर रहा था। बैंक में बहुत से लोग आते, वे रुपये लाते और जमा करा जाते। अनेक सज्जन तो रुपये लेने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के लिए आते थे। कुछ लोग ऐसे भी आते जो केवल नोटों की अदला बदली ही करते। एक दिन एक बनिया आया, उस ने शायद सौ रुपये लेने थे। बैंक के बाबू ने सौ के नोट लेकर बनिए को सौ रुपये दे दिए। बनिया भी अजीब आदमी था, पर मेरा मालिक था। इस लिए निन्दा तो नहीं करनी चाहिए। इतना जरूर कहूंगा कि अव्वल दर्जे का मक्खी चूस था। उसने पहले तो इतने जोर से जमीन पर मारा कि मेरी तो बस जान ही निकल गई। फिर उसने हमें एक मैली-कुचैली पोटली में बांधकर पेटी में बन्द कर दिया। मुझे तो उस पेटी में सांस लेना दूभर हो गया। बनिया कभी-कभी पेटी को खोलता। जब भी पेटी खुलती तो वह पोटली को खोलता मुझे हवा के ठंडे झोकों के साथ लाला जी के मुख से श्रीराम के स्वर भी सुनने को मिलते। प्रभु का नाम सुनकर मेरा मन प्रसन्न हो जाता। बनिया फिर हमें पेटी में बन्द कर देता, यह उसका क्रम था।

एक दिन बनिया कहीं बाहर गया हुआ था। उसकी पत्नी ने हमें पेटी से खोल कर निकाला मैं तथा मेरे चार साथी उस के हाथ लगे। उस दिन शायद मंगलवार था और उसका व्रत था। चार साथी रुपये तो उसने प्रसाद में खर्च कर डाले और मुझे लेकर उसके कदम मन्दिर की ओर बढ़ गए। मन्दिर में भीड़ थी। लोग भगवान् के दर्शन करके आनन्दित हो रहे थे। मेरी मालकिन ने भगवान् के दर्शन करके प्रसाद तथा मुझे साथ में रख दिया। भगवान् के चरणों में पहुंच कर मैं अपने भाग्य पर प्रसन्न हुआ। पर पुजारी जी ने मुझे यहां टिकने नहीं दिया। दूसरे दिन मैं प्रसाद बेचने वाले की दुकान पर भेज दिया गया। यह कभी समाप्त न होने वाली मेरी आत्म कथा है।

ब्रह्मेश- हां, स्वामी विद्यानन्द जी विदेह ने अपनी आत्मकथा में एक स्थल पर इस प्रसंग का बड़ा सुन्दर चित्रण किया है।

वे लिखते हैं, कि मैं एक नगर में कथा करने गया हुआ था। कथा से पूर्व प्रतिदिन मैं- **'नमो ब्रह्मणे नमस्ते वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि–** अर्थात् ब्रह्म के लिए नमस्कार है, वायो! आप के लिए नमनभाव है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तुम ही प्रत्यक्ष ब्रह्म हो, तुमको ही स्पष्ट ब्रह्म कहूंगा — इस मन्त्र का उच्चारण करता था। कथा कई दिन से चल रही थी। जिस परिवार में मैं ठहरा हुआ था, वहां एक दिन उसी परिवार का एक पांच वर्ष का बालक अपने माता – पिता के साथ बैठा था। वह उन के साथ कथा में नियमित उपस्थित रहता था। जब उस के माता-पिता मेरे साथ वार्तालाप में व्यस्त थे, कुछ देर तो बालक शान्तिपूर्वक बैठा रहा। पुनः बाल स्वभाव वश खेलने लगा। खेलते - खेलते उस ने मेज से सौ रुपये का नोट उठाया और दोनों हाथों में लेकर उस नोट को देखते हुए अकस्मात् गाने लगा — त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि, त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि — कुछ क्षण पश्चात् मेरा उस ओर ध्यान गया। बालक की क्रिया को देखकर और शब्दों को सुनकर मस्तिष्क में एकदम आया, कि इस बालक ने तो इस मन्त्र की अनूठी संगति सुझाई है। आज अधिकतम का जीवन व्यवहार वस्तुतः यही पाठ कर रहा है। कि **पैसा ही असल में भगवान् है।**

प्रा०– इस सारी चर्चा से स्वतः स्पष्ट हो गया, कि धन भौतिक पदार्थों के आदान – प्रदान का मानदण्ड तथा मूल्यांकन और प्राप्ति का आधार होने से प्राचीन काल में तो कम, अपितु आज पूर्ण ब्रह्म चरितार्थ हो रहा है। आज की स्थिति को देखकर, स्वतः मुख से निकलता है —

टका धर्मष्ठ का कर्म टका हि पपमं पदम् ।
यस्य गृहे टका नास्ति हा टका टकटकायते ॥

अर्थात् पैसा ही धर्म, कर्म और परम पद है, जिसके पास यह नहीं, वह केवल दूसरों को ताकता रह जाता है।

ब्रह्मदत्त– यह चर्चा तो बड़ी रोचक हो गई है। इस रोचकता से मुझे भी एक लोकोक्ति स्मरण आ रही है, कि 'ढिड्ड न पइयां रोटियां तै सब्बे गल्लां खोटियां' क्योंकि बड़े के सामने छोटा या उसके अभाव में सब कुछ फीका ही लगता है या वह वह कार्य असम्भव बन जाता है। तभी तो कहते हैं —

'भूखे न होय भजन गोपाला'
यह लो अपनी कण्ठी माला'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रा०– ब्रह्मदत्त ! तूने व्यवहार के आधार पर जो तात्पर्य लिया है। वह केवल अभिप्राय ही नहीं अपितु उपनिषद् के ऋषि ने भी स्पष्ट शब्दों में अन्न को ब्रह्म कहा है। इस दृष्टि से 'अन्नं ब्रह्मोपासते तै. २,२ तथा अन्नं ब्रह्मेति व्याजानात् तै ६,२ वचन द्रष्टव्य है।[1]

हम सब अपने प्रतिदिन के जीवन में स्पष्ट रूप से देखते हैं, कि भोजन एक बहुत बड़ी चीज है। जब तक यह प्राप्त होता रहता है तभी तक जीवन के हर कार्य में रस आता है, अन्यथा मोटा – ताजा शरीर भी असमर्थ तथा हर कार्य को करना उस के लिए कठिन हो जाता है। भोजन के बिना कोई विकल्प भी वहां कारगर नहीं होता। तभी यो एक विद्वान् ने कहा है, भूखों की भूख व्याकरण से और प्यासों की पिपासा काव्यरस से शान्त नहीं होती। अतः इन भौतिक भोजनादि द्रव्यों या इन की प्राप्ति के मानदण्ड [धन] के बिना सब कुछ निष्फल, वेकल हो जाता है।[2] अर्थात् भाषा शास्त्र, शब्दानुशासन के विशेषज्ञों का भी पेट अपने विषय के बिश्लेषण से नही भरता। कविकुल गुरु कालिदास जैसे कवियों की काव्य प्रतिभाजन्य काव्य रस से किसी की प्यास शान्त नहीं होती। अपितु बड़े – बड़े धार्मिकों की भी भूख में नैतिकता खो जाती है।[3] अतः यह स्थिति अन्न को स्वतः

१— अन्नं हि भूतानां ज्येष्ठम्, तस्मात्सर्वौषधमुच्यते।
सर्वं वै तेऽन्नमाप्नुवन्ति। येऽन्नं ब्रह्मोपासते।
अन्नाद् भवन्ति भूतानि जातान्यन्नेन वर्धन्ते। अद्यतेऽत्तिच भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यते। तै० २,२
अन्नमूर्जस्करं लोके प्राणाश्चान्ने प्रतिष्ठिताः। अन्ने धार्यते सर्वं विश्वं जगदिदं प्रभो ।।महा० १३,६२,७
अन्नं ह्यमृतमित्याह १३,६२,३१, अन्नतः सर्वमेनाद्धि यत्किन्चित्स्थाणु जङ्गमम् १३,६२,३४
अन्नं वै परमं द्रव्यमन्नं श्रीश्च परा मता। अन्नात्प्राणः प्रभवमि ते जो वीर्यं वलं तथा ।। १३,६५,५७

१— बुभुक्षितैर्व्याकरणं न भुज्यते, पिपासितैः काव्यरसो न पीयते।
न छन्दसा क्वापि समुद्धृतं कुलम्, हिरण्यमेवाश्रय निष्फला गुणाः ।।

३— त्यजेत्क्षुधार्ता महिला स्वपुत्रं, खादेत्क्षुधार्ता भुजगी स्वमण्डम्।
बुभुक्षितः किन्न करोति पापम्, क्षीणा नरा निष्करुणा भवन्ति ।।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्रह्म सिद्ध करती है। और तब यही परिणाम सामने आता है—

न कुछ देखा ज्ञान ध्यान में, न कुछ देखा पोथी में।
कहत कबीर सुनो भाई साधो जो देखा वो रोटी में॥

ब्रह्मगुप्त– 'सब से बड़ा रुपय्या'— वाक्य के आधार पर बाजार वाले बड़े की भी बात हो जाए, तो इस का एक और पहलू भी प्रकट हो जाएगा।

प्रा०– ब्रह्म शब्द के व्यापक अर्थ के विचार के साथ उस के मूल स्वारस्य की खोज की दृष्टि से हम इस चर्चा को चर्चित कर रहे हैं। हां व्यापक अर्थ के प्रसंग से ब्रह्मगुप्त ने पूर्व प्रसंग के अनुरूप एक अन्य पहलू की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है। यह **'बड़ा'** किसी की ब्रह्मत्व प्राप्ति की प्रक्रिया को विशेष रूप से प्रकट करता है। क्योंकि प्रत्येक पाककला विशेषज्ञ और बड़ा प्रेमी अच्छी प्रकार से जानता है, कि यह रुचिकर 'बड़ा', वही बढ़िया होता है। जिस की दाल अच्छी, स्वच्छ, पूरी भीगी हुई, खूब पिसी, उचित तली हुई और फिर यथार्थ ढंग से उबालकर यथासमय दही में डाला गया 'बड़ा' ही स्वादु, रुचिकर होता है। जैसे कि बड़े के बनाने वाले सारे के सारे इस प्रक्रिया को अपनाते हैं, पर सब के बड़े एक जैसे रोचक स्वादु नहीं होते। इस भेद का कारण कहीं न कहीं किसी कमी का रह जाना है या किसी न किसी अन्तर का आ जाना है। जो भी इन सभी पहलुओं पर पूरा ध्यान देता है। उसी के हाथ में विशेषता आती है। उसी का 'बड़ा' अच्छा, स्वादु, रुचिकर तथा बढ़िया होता है, जो उसकी बनावट अर्थात् सारी प्रक्रिया के प्रति सजग होता है। क्योंकि प्रत्येक नगर में बड़े बनाने वाले तो बहुत होते हैं, पर प्रसिद्ध तो दो-चार के ही होते हैं। **'बड़े'** की तरह जो भी किसी क्षेत्र में आगे बढने की प्रक्रिया पर ध्यान देता है, वही वहां बडा बनने में सफल होता है।

हां ब्रह्म के व्यावहारिक पक्ष या ब्रह्मदर्शन की साधना की ओर यह **'बड़ा'** हमारा ध्यान अवश्य ही आकर्षित करता है। जैसे कि मनुस्मृति [२,२४,१२,१०२,१२, १२५] में आया है, कि वेद [आदि धार्मिक ग्रन्थों] के अध्ययन और उनके तत्त्वों को समझने, नियमों के पालन, अन्तः बाह्य शोधक यज्ञीय प्रक्रिया के अनुष्ठान, मर्यादा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूर्वक सन्तानों के संवर्धन–संरक्षण सदृश कर्मों से और पंचमहा यज्ञ [आत्मविकास, व्यावहारिक शुद्धि, पितृ सेवा, अतिथि सत्कार, प्राणी संरक्षण] तथा सभी प्राणियों में समारत हुए परमात्मा को अपने आपे द्वारा संदर्शन करने से व्यक्ति ब्रह्म प्राप्ति के योग्य होता है।[1]

ब्रह्मेश्वर– यह ठीक है, कि जीवन–धन, अन्न के विना अधूरा–अधूरा ही रहता है, पर यह सारी चर्चा अपने आप में अनोखापन ला रही है और इसका आनन्द तो हमें धन, अन्न के विना भी मिल रहा है। हम तो यहां केवल ज्ञान चर्चा ही कर रहे हैं। यह ठीक है कि धन, अन्न के विना अनेकवार सब कुछ फीका ही रह जाता है। पुनरपि चाहे कितने ही अंश की बात हो, पर जीवन में ज्ञान का महत्त्व भुलाया नहीं जा सकता। धन, अन्न आदि का उत्पादन, अर्जन, विकास, निवेश भी तो विद्या के विना कठिन है। इसी लिए हमारे प्रत्येक कार्य के कार्यान्वयन का मूलमन्त्र ज्ञान ही है अतएव ['न हि ज्ञानेन सदृश पवित्रमिह विद्यते–गीता ४,३८ सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते–मनु० ४,२३३] सदृश उक्तियां किस से छिपी हुई हैं।

प्रा० मनुष्य के विचारशील होने से उसके प्रत्येक व्यवहार में यत्र–तत्र सर्वत्र ज्ञान का योगदान सर्वथा स्पष्ट है। अतएव विद्वान् सर्वत्र पूज्यते और किं किं न साधयति कल्पलतेव विद्या सदृश सूक्तियां सबके सामने हैं। तभी तो तैत्तिरीय उपनिषद् के ऋषि ने अपनी चर्चा को उत्तरोत्तर चलाते हुए कहा है– विज्ञानं ब्रह्मेति व्याजानात् [३,५] अर्थात् अनुभव और विचार–विमर्श के बाद ऋषि ने विज्ञान को एक महान् तत्त्व के रूप मे समझा क्योंकि भक्ति की प्रक्रिया दुनियावी कार्य, बौद्धिक और

१– स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥मनु. २,२८॥
वेदशास्त्रार्थ तत्त्वज्ञो यत्र यत्राश्रमे वसन्।
इहैव लोके तिष्ठन्स ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ १२,१०२॥
एवं यः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना।
स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माभ्येति परं पदम् ॥१२,१२५॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शारीरिक कार्य ज्ञान–विज्ञान से ही सम्पन्न होते हैं।[1] सबसे बडी बात तो यह है, कि विज्ञान सम्पन्न व्यक्ति किसी भी क्षेत्र में पिछड़ता नहीं।[2]

मनुदेव– मनुस्मृति में भी तो ब्रह्म शब्द का प्रयोग हुआ है ?

प्रा० मनुस्मृतिकार ने अपने विवेचन का मूल वेद को ही स्वीकार किया है।[3] और अपने विश्लेषण मे अनेक बार वेद के लिए ब्रह्म शब्द का प्रयोग किया है।[4]

भारत की **साहित्यिक परम्परा, धार्मिक कर्मकाण्ड की प्रक्रिया** की समीक्षा से भी स्पष्ट होता है, कि वेद के आधार पर ही ये दोनों पल्लवित, पुष्पित एवं फलित हुई हैं। इस सारे का भाव यह है कि हमारे पुराने साहित्य मे अध्यातम, राजनीति, अर्थशास्त्र, भौतिक विज्ञान और चिकित्सा शास्त्र आदि के ग्रन्थ हैं वे सारे यही कहते हैं कि हमने अपने–अपने विषय का ज्ञान वेदों से ही प्राप्त किया है तथा हमारे सारे धार्मिक पूजा–पाठ, संस्कार, यज्ञ आदि वेद के मन्त्रों से ही हाते हैं। वैसे तो वेद का एक प्रमुख अर्थ ज्ञान भी है, अतः कार्यों के कार्यान्वियन से जहां ज्ञान बहुत बड़ी चीज सिद्ध होता है, वहां भारतीय साहित्य, धर्म संस्कृति, सभ्यता का मूल होने से भी

१– विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च।
विज्ञानं देवा सर्वे ब्रह्म ज्येष्ठभुपासते ॥ तै. २,५

२– विज्ञानं ब्रह्म चेद्वेद **तस्माच्चेन्न प्रभाद्यति** ॥ तै. २,५
ऐसा व्यक्ति कहीं पिछड़ता नहीं

३– त्वमेको ह्यस्य सर्वस्य विधानस्य स्वयम्भुवः। अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य कार्यतत्त्वार्थवित प्रभो ॥ १,२

४– ब्रह्मारम्भेऽवसाने च पादौ ग्राह्यो गुरोः सदा। मनु० २,७१
ब्रह्मणः प्रणवं कुर्यादादाबन्ते च सर्वद। २,७४,
ओङ्कार पूर्विका स्तिस्रो महाव्याहृतयोऽव्ययाः। त्रिपदा च सावित्री विज्ञेयं ब्रह्मणो मुखम् ॥२,८१
कर्मब्रह्मोद्धवं विद्धि ब्रह्माक्षर समुद्धवम्। तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥गीता ३,१५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वेद को ब्रह्म शब्द से अभिहित किया गया है । हां, वेद सर्वज्ञानमय[1] होने से सर्वथा ब्रह्मः शब्द का सार्थक पर्यायं है अर्थात् ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद इन चारों के लिए भी ब्रह्म नाम हमारे साहित्य में अनेक जगह आया हैं ।

वर्णी- गुरु जी ! भारतीय साहित्य और जीवन में ब्रह्मचारी शब्द भी तो बहुत आकर्षण रखता है । अतः इस प्रसंग में इसका समन्वय भी अपेक्षित है ?

प्रा०— हमारे यहां चार आश्रम हैं, इनमें से जीवन के प्रथम भाग को ब्रह्मचर्य आश्रम कहा गया हैं । इसी स्थिति वाले को ब्रह्मचारी कहते हैं । इन दिनों शरीर की समृद्धि और ज्ञान की उपलब्धि विशेष उद्देश्य होते हैं । अतएव उपनिषद् के ऋषि ने इस प्रसंग में **'बलमुपास्व'** अर्थात् शरीर बल और विद्याबल के अर्जन का विशेष सन्देश दिया है । अतः ज्ञान के साथ शरीर विकास के मूलभूत तत्त्व के लिए भी ब्रह्म शब्द का अनेकत्र प्रयोग प्राप्त होता है । इन ब्रह्मों की साधना करने वाले को इस दृष्टि से ब्रह्मचारी कहा गया है ।[2]

जीवनानन्द— गुरु जी ! पूर्वचर्चा में ज्ञान के लिए ब्रह्म का संकेत तो स्पष्ट हो चुका है, पर शरीर समृद्धि के लिए ब्रह्म शब्द का प्रयोग कैसे किया गया है । कृपया इस पर भी प्रकाश डालेंगे ?

प्रा०— शरीर एवं ज्ञान साधना से सिद्ध होने वाले मुख्य साध्य की दृष्टि से जहां ब्रह्म शब्द का प्रयोग विशेष अभीष्ट हैं, वहाँ इस जीवन साधना में क्रम की

१— स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हिसः मनु० २,७, धर्म जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः; १३ ॥१२,९४
वेदोऽखिलो धर्ममूलम् मनु० २ ६; । तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म गीता ३,१५
पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षः सनातनम् । अशक्यं चाप्रमेयं च वेदशास्मिति स्थितिः ॥९९
बिभर्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम् । तस्मादेतत्परं मन्ये यज्जन्तोरस्य साधनम् चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वार श्चाश्रमाः पृथक् । भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात्प्रसिध्यति ॥९७

२— ब्रह्म एव व्रतं, तत् चरितुं शीलं यस्य स ब्रह्मचारी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिशा से सर्वप्रथम ज्ञेय यह ही है, कि हम खाद्य, पेय, चोष्य, लेह्य रूप में जो भी भोजन ग्रहण करते हैं। उसका शरीर में परिपाक होता है, जो कि शरीर विज्ञान की निर्दिष्ट प्रक्रिया से विविध रूपों में हमारे शरीर का अंग–संग होता है। अर्थात् हम अपनी काया में जो चर्म, रक्त, मांस आदि देखते हैं। ये सब हमारे द्वारा खाए गए भोजन के ही परिणाम हैं। अतएव आयुर्वेद के विशेषज्ञ बतलाते हैं, कि हम जो भी भोजन खाते हैं वह परिपाक की प्रक्रिया के अनुरूप रस, रक्त, मांस, मज्जा, मेद, अस्थि, वीर्य सदृश सप्त धातुओं में परिणत होता है। आयुर्वेद के आचार्य वीर्य को जीवन का मूलतत्त्व, तेज–बल–बुद्धि का आधार मानते हैं।[1] परिपाक की इस प्रक्रिया से भी स्पष्ट होता है, कि रस से रक्त रक्त से मांस अर्थात् इन सप्त धातुओं [शरीर धारकों] का वीर्य सार रूप है। अतः इस आधार से वह इस प्रसंग में ब्रह्म ही है। ऐसे ब्रह्म की संभाल एक महत्त्वपूर्ण साधना है, जिससे शरीर का स्वास्थ्य स्पष्ट रूप से समृद्ध होता है। शरीर के स्वास्थ्य पर ही अन्य सारी गतिविधियां टिकी हुई हैं।[2] अतः शरीर समृद्धि के इस तत्त्व को ब्रह्म कहना सर्वथा संगत है।

विवेक– इस चर्चा में कहीं संभाल और कहीं शरीर की समृद्धि के तत्त्व शब्द का आपने संकेत किया है। अतः इससे आपका अभिप्राय क्या है ?

प्रा०– ब्रह्मचारी के प्रकरण में ये दोनों शब्द वर्ते गए हैं। अतः शरीर की इन धातुओं की खजाने की तरह सम्भाल, व्यवस्था से ही यहां अभिप्राय है। तभी तो 'ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति। आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥ अथर्व ११,५,१७ ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम ११ ५.१८ के प्रसंग में जैसे ब्रह्मचर्य शब्द अपने–अपने प्रकरण के अनुरूप वहां की व्यवस्था, दिनचर्या, साधना की सिद्धि का वाचक है। ऐसे ही शरीर की समृद्धि के सार तत्त्व की **सभाल, संयम** ही इस प्रकरण का मूल अभिप्राय है।

१– मृत्युण्याधिजरानाशि पीयूषं परमौषधम्।
ब्रह्मचर्यं महद् रत्नं सत्यमेव वदाम्यहम् ॥

२– धर्मार्थ काममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्। चरक–सूत्र. २८,३८
शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम् कुमारसम्भव ५,३३ अतः सर्वमन्यत् परित्यज्य शरीर मनु पालमेत् चरक–निदान ६,७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्रह्मप्रिय– गुरुजी ! पिछली चर्चा में उपनिषदों का वारम्बार संकेत आया है। अतः कल की चर्चा के पश्चात् मैंने पुस्तकालय में जाकर तैत्तिरीय का अवलोकन किया, तो वहा ब्रह्म का विस्तृत वर्णन देखा। अतः उस प्रकरण पर भी कुछ प्रकाश डाल दिया जाए तो 'सोने में सुहागा' वाली बात हो।

प्रा०– यह बड़ी प्रसन्नता की बात है, कि तुम सब की जिज्ञासा भावना इस चर्चा की रूपरेखा में सुन्दर से सुन्दर रंग भर रही है। अतः आइए ! ब्रह्म की परिपुष्ट होती हुई चर्चा में उपनिषद् के उस प्रसंग पर भी एक दृष्टिपात कर लें।

भारतीय साहित्य में उपनिषद् एक उल्लेखनीय ग्रन्थराशि हैं। गुरु या विषय की निकटता से जो ज्ञान 'गहरे पानी पैठ' होता है, वह ही उपनिषद् कहलाता है। वैसे तो आज उपनिषदों की संख्या लगभग दो सौ है, पर उन में से अठारह, कुछ की दृष्टि से ग्यारह प्राचीन तथा सर्वमान्य हैं। इन्हीं में से एक तैत्तिरीय उपनिषद् है, जिसके पहले प्रकरण का नाम शिक्षावल्ली है। जिसमें शिक्षा के विविध पहलुओं पर विचार किया गया है। दूसरी वल्ली का नाम ब्रह्मानन्द है, इस में शरीर से जुड़े अन्न, प्राण मन, विज्ञान [मय कोशों] पर विचार है। इन को क्रमशः ब्रह्म रूप में संकेतित करते हुए, इनकी उत्तरोत्तर उत्कृष्टता बताई है।

तीसरी वल्ली का नाम भृगुवल्ली हे क्योंकि भृगु अपने पिता के पास जाकर चर्चा करता है। वहां का प्रसंग है कि भृगु अपने पिता वरुग के पास आया और कहा, भगवन् ! ब्रह्म का उपदेश दीजिए। तब वरुण ने कहा – अन्न, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन, वाणी जिससे उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न होकर जिसके आधार पर

१— मनो ब्रह्मेत्युपासीत इत्यध्यात्मम्

अथाधिदैवतम्। आकाशो ब्रह्म।

इत्युभयमादिष्टं भवत्यध्यात्मं चाधिदैवतं छ छान्दोग्य ३,१८,१

तदेतच्चतुष्पाद् ब्रह्म वाक्पादः प्राणः पादश्चक्षुः पादः श्रोत्रं पादः। इत्यध्यात्मक अअथाधिदैवतम्। अग्निपादो वायुपादः आदित्य पादो दिशः पादः इत्युनमेवादिष्टं ३,१८,२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीवित रहते हैं। तथा जिस में विलीन होते हैं, **उसको ही ब्रह्म समझो।** इस पहचान के आधार पर भृगु ने जब विचार किया, तो स्पष्ट हुआ, कि सब से स्पष्ट ऐसा तत्त्व अन्न ही है। इस विषयका और विमर्श करने पर स्पष्ट हुआ कि प्राण [३,३] भी ऐसा तत्त्व है, जिस पर जन्म, जीवन टिका हुआ है। इस के पश्चात् क्रमशः मन [३,४], विज्ञान [३,५] और आनन्द [३,६] की उत्तरोत्तर चर्चा आई है।

छन्दोग्य उपनिषद् [३,१८] में भी ब्रह्म की चर्चा आई है, वहां पिण्ड और ब्रह्माण्ड के आधार पर ब्रह्म को समझाने का प्रयास किया है। शरीर में मन को ब्रह्म बताकर मन के साथ वाक् प्राण [नासिका], चक्षु, श्रोत्र का तथा ब्रह्माण्ड में आकाश को ब्रह्म बताकर उसके साथ अग्नि, वायू, आदित्य, दिशा रूपी चार चरणों में है। इस प्रकार अपने – अपने क्षेत्र के बड़े को समझा कर उसके आधार पर प्रकरणगत विषय को स्पष्ट किया गया हैं।

वैसे भी जैसे कि तुम सबने वैशेषिकादि दर्शनों में पांच भूतों का विवेचद पढा है। उनमें से आकाश अपनी व्यापकता से बड़ा होने के कारण यहां ब्रह्म कहा गया है।

सिद्धब्रह्म– गुरु जी ! अभी ऊपर की समीक्षा में आपने कहा है, कि शरीर एवं ज्ञान रूपी साधना का भारतीय परम्परा के अनुरूप एक विशेष साध्य हैं। अतः ब्रह्मचारी शब्द का ब्रह्म कुछ विशेष अर्थ को भी संकेतित करता है। उसको भी स्पष्ट करने की कृपा करेंगे ?

प्रा०– प्रिय छात्रों ! हमारी यह मीमांसा स्वाभाविक रुप से अपने मूल विषय की ओर प्रवाहित हो रही है। यह वाक्य मैं ने केन्द्रबिन्दु की ओर लाने के लिए ही प्रयुक्त किया है। आपने देखा, कि ब्रह्म शब्द जहां शरीर समृद्धि के तत्त्व एवं ज्ञान का संकेत करता है, वहां ज्ञान के आगार वेद का भी वाचक है। अतः ब्रह्मचारी की ये तीनों जहां साधनायें, हैं वहां इन साधनाओं का भारतीयता के अनुरूप परमब्रह्म ही ही साध्य हैं[1]। करे जो साधना ब्रह्म की वह ब्रह्मचारी कह लाता है। वस्तुतः वही

१– यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमि स ब्रह्म परमभ्येति मनु० २,८२; एकाक्षरं परं ब्रह्म मनु० २,८३ त्येतत् कठ० २,१५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रत्येक प्रकार से सबसे बड़ा और पूर्ण ब्रह्म है।[1]

ब्रह्मस्वरूप– क्या वेदान्तदर्शन की ब्रह्मजिज्ञासा का अभिप्राय इसी से है ?

प्रा०– हां, हमारी चर्चा और इस दर्शन का प्रतिपाद्य यही ही है। यतोहि वेदान्त का प्रथम सूत्र है– 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' अर्थात् पूर्वोक्त सब कुछ ज्ञान लेने के बाद अब ब्रह्म को जानने की इच्छा है। इस सूत्र में जिस ब्रह्म की जिज्ञासा अभिव्यक्त की है, उस ब्रह्म की पहचान को बताते हुए दूसरे सूत्र में कहा– [जन्माद्यस्य यतः] कि हमारे चारों ओर जो भौतिक पदार्थ सूर्य आदि दृश्य तथा जो अदृश्य रूप में विधमान है और जिन का कर्ता–धर्ता वारम्वार विचारने पर भी हम में से कोई सिद्ध नहीं होता है। अतः यह जगत् जिसके कारण पैदा होता और फूलता फलता है—**वही ब्रह्म है**।[2]

इस विषय को मनन की कोटी की ओर ले जाते हुए तीसरे सूत्र में कहा है, कि यह केवल युक्ति, अनुमान की ही बात नहीं, अपितु सारे सारे शास्त्र एक स्वर से ब्रह्म को ही इस संसार का स्रष्टा, व्यवस्थाकर्ता निर्दिष्ट करते हैं [शास्त्रयोनित्वात्]। हां, इस सूत्र का दूसरा अर्थ यह भी है, कि ब्रह्म न केवल प्राकृतिक पदार्थों का रचयिता है, अपितु इसके साथ शास्त्र–ज्ञान का दाता भी ब्रह्म ही है। इससे अगले सूत्र में यह भाव गूंथा है, कि जैसे एक कलाकृति अपने कलाकार के साथ समन्वित होती है। अपने कर्ता की योग्यता का सर्वथा परिचय देती है, ऐसे ही इस सृष्टि रूपी अपनी कलाकृति में वह ब्रह्म सर्वत्र समाया हुआ है [तत्तु समन्वयात् १,१,४] अर्थात् इस स्रष्टि की सर्जना, व्यवस्था, एक रूपता अपने कलाकार को अभिव्यक्त कर रही है।

१– ओ३म् खं ब्रह्म यजु. ४,१७ अक्षरं दुष्करं ज्ञेयं ब्रह्मचैव प्रजापतिः। २,८४
वेद शास्त्रार्थ तत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे बसन्।
इहैव लोके तिष्ठन्स ब्रह्मभूयाय कल्पते ।।मनु. १२,१०२
एवं यः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना।
स सर्वता मेत्य ब्रह्माभ्येति परं पदम् ।।१२,१८

२– यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसं-
विशन्ति ।। तै. ३,१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्रह्म का ऐसा वर्णन शास्त्रों में किसी एक स्थल पर ही नहीं, अपितु सर्वत्र प्राप्त होता है, अर्थात् सारे शास्त्रों का इन दृष्टियों से मुख्य प्रतिपाद्य ओम् नाम वाच्य ब्रह्म ही है।[1]

निकष– वेद उपनिषद् आदि में जगत् का कर्ता, धर्ता, संहर्ता केवल ब्रह्म ही तो वर्णित नहीं हैं, क्योंकि वहां कहीं विष्णु का, तो कहीं प्राण, आकाश, अन्न, आनन्द आदि का इस रूप में चित्रण मिलता है ?

प्रा०–निः सन्देह शास्त्रों में अन्न, प्राण, आकाश आदि से भी जगत् के कर्तृत्व आदि को दर्शाया गया है। इन सब शब्दों का वाच्य क्या है ? यह एक विशेष विचारणीय प्रश्न है, इसीलिए वेदान्त दर्शन के अगले सूत्रों में विचार–विमर्श करते हुए बताया है, कि इन–इन शब्दों द्वारा ब्रह्म की ही चर्चा है, क्योंकि उस-उस प्रकरण में जो विशेषण आए हैं, वे सब ब्रह्म में ही घटते हैं। अतः प्राण आदि शब्दों से निर्दिष्ट जगत् कर्तत्व आदि क्रियायें केवल ब्रह्म की ही हैं। प्राण, आकाश आदि शब्द अलग-अलग होने से ये अलग-अलग कर्ता सिद्ध नहीं होते, अपितु भिन्न-भिन्न नामों से प्रकरण के अनुरूप गुण का निर्देश करते हुए एक ब्रह्म का ही संकेत है।

हां, ब्रह्मसूत्र में सर्वांगीण रूप से ब्रह्म के इस रूप और स्वरूप को स्पष्ट किया है। यह सब तुम ब्रह्मसूत्र के अध्ययन में स्वतः पढोगे ही। हां ब्रह्म से अभिहित जितने भी तत्त्व हैं, वे सभी सर्वथा सर्वदा परगब्रह्म के नियन्त्रण संचालन के अन्तर्गत ही आते हैं। अतः सबसे बड़ा तथा पूर्ण परमब्रह्म परमेश्वर ही है। अतः ब्रह्म का निजी स्वरुप जहां सच्चिदानन्द[2] [सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म तै. २,१] है, वहां वह तुलनात्मक या अपने सर्वनियामक के रुप में सर्वव्यापक, सर्वत्र सर्वद्रष्टा सर्वशक्तिमान् सर्वान्तर्यामी आदि गुणों वाला है और अतएव ब्रह्मत्व सर्वातिशायी है।

१– सर्वे वेदा यत्पद मामनन्ति तपांसि सर्वाणिच यद् वदन्ति ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् कठ उप. २,१५

२– सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् ।
सोऽश्नुते सर्वान् कामान् । सह ब्रह्मणा विपश्चितेति तै. २,१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक महत्व पूर्ण शोध पत्र

मैंडम ब्लैवेट्स्की के स्वामी दयानन्द विषयक संस्मरण

ले० प्रो० भवानीलाल भारतीय रत्नाकर ८/४/२३
नन्दन वन, जोधपुर (राजस्थान)

विगत कई वर्षों से स्वामी दयानन्द के समकालीन देशी-विदेशी लेखकों के स्वामी जी के सम्बन्ध में लिखे गये उद्‌गारों, संस्मरणों तथा विचारों को ढूंढने, तलाशने तथा उन्हें दयानन्द विषयक अनुसंधान में रूचि रखने वाले पाठक समुदाय के समक्ष रखने की चेष्टा कर रहा हूं। यह एक इतिहास सम्मत तथ्य है कि थियोसोफिकल सोसाइटी के संस्थापक द्वय कर्नल हेनरी स्टील ऑल्काट तथा श्रीमती हेलेना पेट्रोवना ब्लैवेदद्स्की (१८३१-१८९१) स्वामी दयानन्द के सम्पर्क में आये थे। इनका स्वामी जी से पत्र व्यवहार तो तभी आरम्भ हो गया था जब वे अमेरिका में उसी वर्ष थियोसोफिकल सोसाइटी की स्थापना कर चुके थे, जिस वर्ष (१८७५) में स्वामी जी ने १० अप्रैल १८७५ को बम्बई में आर्य समाज की स्थापना की। तत्पश्चात् पारस्परिक विचार विमर्श करने तथा आर्य समाज और थियोसोफिकल सोसाइटी के भावी कार्यकलापों में एकतानता तथा समन्वय स्थापित करने की दृष्टि से उक्त दोनों महानुभाव १६ फरवरी १८७९ को भारत आये और बम्बई के समुद्र तट पर उतरे।

कर्नल और मैंडम ने अपनी भारत यात्रा का विस्तृत विवरण अपने ग्रन्थों में लिखा है। कर्नल ऑल्काट की ओल्ड डायरी लीव्ज और मैंडम का फ्राम दि केव्ज एण्ड जंगल्स आफ हिन्दोस्तान ऐसे ग्रन्थ हैं जिनमें उनके भारत प्रवास का वर्णन अंकित है। ओल्ड डायरी लीव्ज के दयानन्द विषयक संदर्भों और प्रसंगों को अपनी टिप्पणी सहित हम पाठकों के समक्ष अन्यत्र प्रस्तुत कर चुके हैं। पर्याप्त समय से हमें मैंडम के उपर्युक्त ग्रन्थ 'फार्म दि केव्ज एण्ड जंगल्स' की तलाश थी। इस ग्रन्थ का प्रथम अंग्रेजी संस्करण लंदन, न्यूयार्क और मद्रास से (१८९२) मैंडम की मृत्यु के बाद छपा था और यह बर्षों से अनुपलब्ध था। यह ग्रन्थ मूल रूप में लेखिका की मातृभाषा रूसी में लिखा गया था इसे उसने धारावाही लेखों के रूप में रूसी पत्र पत्रिकाओं के लिये लिखा था और १८८३ में ही इसका प्रथम भाग मास्को से प्रकाशित हुआ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१९१२ में इसका दूसरा संस्करण सेंट पीटर्स वर्ग से छपा। हमारे पाठकों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि श्रीमती ब्लैवेटस्की ने रूसी पत्रों में अपने ये लेख 'राधा बाई' के नाम से लिखे थे।

८६ वर्ष पश्चात् केव्ज एण्ड जंगल्स का दूसरा परिशोधित अंग्रेजी संस्करण बोरिस डिजिरकोफ के द्वारा अनूदित और सम्पादित होकर १९७५ में प्रकाशित हुआ। इसका नवीनतम संस्करण १९८३ में अमेरिका से मुद्रित हुआ है। हमें यह दुर्लभ ग्रन्थ हमारे मित्र श्री आदित्यपाल सिंह (भोपाल) ने उपलब्ध कराया, एतदर्थ हम उनके आभारी हैं।

मैंडम ब्लैवेट्स्की ने अपनी भारत यात्रा के रोचक संस्मरणों को अत्यन्त विस्तार पूर्वक नितान्त रोचक शैली में लिखा है। उनके इस यात्रा विवरण में केवल घटनाओं और व्यक्तियों का ही उल्लेख नहीं है, किन्तु वह यत्र तत्र प्रसंगोपात्त भारतीय धर्म, दर्शन, पूजा-पद्धति, एतद्देशीय स्थापत्य, कला और साहित्य पर भी अपने विचार प्रस्तुत करती है। जैसा कि हम जानते हैं और स्वयं उनके ही सहयोगी और साथी कर्नल आल्कट ने भी इसकी साक्षी दी है, मैंडम की वर्णन शैली में अतिशयोक्ति, अतिरंजना, दूर की उड़ान तथा यत्र तत्र कल्पना का अतिशय भी रहता है। अतः पाठकों को इस ग्रन्थ को पढ़ते समय यह तथ्य अपनी दृष्टि से ओझल नहीं करना चाहिए कि उसकी लेखनी से निकला प्रत्येक शब्द या वाक्य सत्य नहीं है। इस निर्देश के पश्चात् हम 'फ्राम दि केव्ज एण्ड जंगल्स आफ हिन्दोस्तान' के स्वामी दयानन्द विषयक संदर्भों का सटिप्पणी हिन्दी अनुवाद पाठकों के लिये प्रस्तुत करते हैं।

संदर्भ-१ 'अमेरिका से प्रस्थान करने से कोई दो वर्ष पूर्व हम एक विद्वान् ब्राह्मण से निरन्तर पत्र व्यवहार कर रहे थे। यह विद्वान् यूरोप वासियों में भी सुपरिचित था तथा वर्तमान समय में भारत में इसकी ख्याति सर्वोपरि है। यह ब्राह्मण पं० दयानन्द सरस्वती स्वामी हैं। हम इनके मार्गदर्शन में आर्यों के प्राचीन देश (भारत) वेद तथा कठिन भाषा संस्कृत का अध्ययन करने आये थे। दयानन्द सरस्वती समकालीन भारत में संस्कृत के सर्वोच्च ज्ञाता माने जाते हैं तथा इनका व्यक्तित्व भी हर एक के लिये रहस्यपूर्ण पहेली के तुल्य हैं। केवल पांच पूर्व ही ये सुधार के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्षेत्र में आये हैं। इससे पूर्व वे एक तपस्वी की भांति अरण्यवासी थे। तत्पश्चात् उन्होंने रहस्यवादी योगियों तथा एकान्त सेवी साधकों की सहायता से आर्यावर्त के प्रधान दार्शनिक सम्प्रदायों का अध्ययन किया तथा वेदों के निगूढ़ रहस्यों को जाना सामाजिक जीवन में आगमन के प्रथम दिन से ही उनका जो प्रभाव लोगों पर पड़ा वह उल्लेखनीय था। उन्हें भारत का लूथर नाम दिया गया। एक नगर से दूसरे नगर में देश के एक छोर से दूसरे छोर तक भ्रमण करते हुए, आज दक्षिण में तो कल उत्तर में उन्होंने अविश्वसनीय द्रुत गति से यह पर्यटन किया. इस प्रकार उन्होंने सम्पूर्ण भारत प्रायद्वीप का भ्रमण किया, कुमारी अन्तरीप से हिमालय तक तथा कलकत्ता से बम्बई तक।[1] वे एक ईश्वर का उपदेश देते रहे तथा वेदों को हाथ में लेकर लोगों को यह बताते रहे कि इन प्राचीन ग्रन्थों में एक भी ऐसा शब्द नहीं है जिससे बहुदेवतावाद की पुष्टि होती हो।

मूर्तिपूजा के प्रति वज्र निक्षेप करते हुए यह महान वाग्मी अपनी सम्पूर्ण शक्ति से जाति प्रथा, बाल विवाह तथा अंध विश्वास से संघर्ष कर रहा है भारत में शताब्दियों से जो बुराइयां पनपी हैं, उनके लिए यह विद्वानों के वितण्डावाद तथा वेदों के गलत अर्थ करने को ही दोषी ठहराता है। इसके लिए वह पूर्ण निर्भीकता के साथ एक मात्र ब्राह्मणों को ही उत्तरदायी मानता है। वह अपनी सभाओं में उन्हें स्वदेश की अवमानना के जिम्मेदार घोषित करता है और कहता हैं कि इन्हीं के कारण हमारा देश जो एक समय महान् तथा स्वाधीन था, आज पतित एवं परतंत्र है। तथापि ग्रेटब्रिटेन की दृष्टि में दयानन्द सरस्वती मित्र ही हैं, शत्रु नहीं। न केवल यही कि वे लोगों को विदेशी शासन से विद्रोह करने के लिए नहीं कहते, इसके विपरीत वे खुले आम कहते हैं-यदि आप अंग्रेजों, को निकाल बाहर करेंगे तो उसके दूसरे ही दिन हम और आप जो ब्राह्मणों की मूर्तिपूजा और मुस्लिम तानाशाही का विरोध करते हैं, सुरक्षित नहीं रह सकेंगे। भेड़ों की तरह हमारे गले काट डाले जायेंगे। मुसलमान लोग मूर्तिपूजकों से अधिक शक्तिशाली हैं, किन्तु ये मूर्तिपूजक हमसे भी अधिक शक्तिशाली हैं।"........ तथापि अंग्रेज अपने लाभ के प्रति

१ स्वामी दयानन्द का दक्षिण भ्रमण महाराष्ट्र तक ही था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इतने निरासक्त हैं कि दो वर्ष पूर्व जब स्वामी दयानन्द को लेकर पूना की जनता दो वर्गों में विभाजित हो गई थी, ये वर्ग थे सुधारक तथा मूर्तिपूजक पुराण पन्थी और जब सुधारक वर्ग के लोगों ने विजयी एवं वाग्मी दयानन्द का सत्कार उन्हें गजारुढ़ करके किया तो पुराण पन्थियों ने उन पर कीचड़ तथा पत्थर बरसाये अंग्रेजों ने दयानन्द को सुरक्षा प्रदान करने के स्थान पर उन्हें नगर से बाहर भेज दिया और पूना में उनके पुनः प्रवेश पर पाबन्दी लगादी ।[1]

इस पण्डित [दयानन्द] ने जन समाज के धोखेबाज शत्रु ब्राह्मणों से अनेक बार जोशीले शास्त्रार्थ किये और सदा विजय प्राप्त की । बनारस में उन्हें मारने के लिए गुप्त हत्यारों को भेजा गया किन्तु इन प्रयत्नों में उन्हें सफलता नहीं मिली । बगाल के एक छोटे कस्बे में जब कि वे अधिक कठोरता के साथ जड़ पूजा का खण्डन कर रहे थे, एक कट्टरपंथी ने एक बड़े सांप को बहुत दक्षता के साथ उनके नंगे पांवो पर फेंका । यदि यह सांप किसी को काट ले तो तीन मिनट में ही उसकी मृत्यु हो सकती है । इस विष का प्रतिकार करने वाली कोई औषधि भी नहीं हैं । इस शिव-पूजक ने चिल्ला कर रहा, "वासुकि नाग देवता ही इस बात का फैसला करेंगे कि हममें से कौन सत्य है ।" इसे पक्का विश्वास था कि शैव मत के रहस्यों को प्रस्तुत करने के लिए विशेष रूप से प्रशिक्षित यह सांप उसके विरोधी के जीवन को अविलम्ब समाप्त कर देगा ।

स्वामी दयानन्द ने शान्त भाव से कहा, "अच्छी बात हैं" और अपने पांव को कुण्डली मारकर जकड़ लेने वाले कोबरा सांप को एक ही झटके से दूर कर दिया और सुदृढ़ पांव के नीचे साँप के मस्तक को कुचलते हुए, कहा– "देखो तुम्हारा देवता तो बड़ा सुस्त निकला, मैंने ही इस सारे झगड़े का फैसला कर दिया है ।" और इसके पश्चात् उपस्थित भीड़ को सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा, "आप जाकर लोगों को बतायें कि झूठें देवताओं का किस प्रकार विनाश हो जाता है ।"[2]

१– स्वामी स्वतः ही पुना से चले गए थे ।

२– मैडम द्वारा उल्लिखित घटना यद्यपि अन्य जीवनचरितों में नहीं मिलती, किन्तु इसे अविश्वसनीय भी नहीं कहा जा सकता ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पण्डित दयानन्द के उत्कृष्ट संस्कृत ज्ञान का ही धन्यवाद करना चाहिए कि वे वेदों के एकेश्वरवाद को लेकर जनता में प्रचलित अज्ञान का निवारण तो कर ही रहे हैं वे विज्ञान की भी सेवा कर रहे हैं। वे बताते हैं कि वास्तव में ब्राह्मण कौन हैं। भारत मे यही वह जाति रही है जो शताब्दियों तक संस्कृत साहित्य का अध्ययन करने और वेदों की व्याख्या करने का अधिकार अपने पास रखती रही और इस जाति ने अपने इस अधिकार को मात्र अपने हित के लिए ही स्वायत्त किये रखा। बरनफ, कोलबुक तथा मैक्समूलर जैसे विद्वान् प्राच्य विदों के काफी पहले भारत में ऐसे अनेक एतद्देशीय सुधारक हुए हैं जिन्होंने वेदप्रतिपादित विशुद्ध एकेश्वरवाद को सिद्ध किया ऐसे नवीन सम्प्रदाय प्रवर्तक भी हुए जिन्होंने इन शास्त्रों को ईश्वरादिष्ट मानने से इन्कार किया। कलकत्ता निवासी राजा राममोहनराय तथा उनके बाबू केवचन्द सेन इसी श्रेणी में आते हैं। किन्तु इनमें से किसी को भी निश्चित सफलता नहीं मिली, इन्होंने भारत में पहले से ही प्रचलित अनेक सम्प्रदायों में अपने द्वारा प्रवर्तित नये सम्प्रदायों को जोडा। बहुत अल्प उपलब्धि प्राप्त कर राममोहन राय इग्लैंड में ही दिवंगत हुए जब कि उनके उत्तराधिकारी केशवचन्द सेन ने ब्रह्म समाज की स्थापना की।[1] यह संख्या बाबू केशवचन्द्र सेन की स्वकल्पनाओं से प्रसूत मत ही हैं।

इस प्रकार भारतवर्षीय आर्यों के प्राचीन एवं पवित्र एकेश्वरवाद को पुनः स्थापित करने के सभी प्रयास न्यूनाधिक रुप से असफल रहे हैं। ये प्रयास ब्राह्मणवाद तथा पूर्वाग्रहों की उस चट्टान से टकराने वाली लहरों के तुल्य ही थे, जो शताब्दियों से अपनी नीव में दृढ़ता से चिपकी हुई हैं। किन्तु देखो, अप्रत्याशित रूप से दयानन्द सरस्वती का प्रादूभार्व हुआ। उनके निकट के शिष्य भी, दूसरों की तो बात ही रहने दें यह नहीं जान सके कि वे कौन हैं और कहां से आये है। वे अपने श्रोताओं के समक्ष खुले आम स्वीकार करते हैं कि आज वे जिस नाम से जाने जाते हैं, वह भी उनका अपना नहीं है, किन्तु उनको संन्यास में दीक्षित करते समय योगी गुरुद्वारा दिया गया था। किन्तु एक बात निश्चित है— भारत में शंकराचार्य के समय से अब

१— केशव ने नव विधान की स्थापना की थी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तक दयानन्द के समान संस्कृत का विद्वान् गम्भीर दार्शनिक, आश्चर्य जनक वक्ता, तथा प्रत्येक बुराई का निर्भीक आलोचक अन्य कोई नहीं हुआ ।

दयानन्द की बाह्याकृति भी प्रभावशाली है । वे असाधारण रूप से लम्बे हैं, उनका रग यद्यपि किंचित श्याम[1] किन्तु पीत (वे भारतीय की अपेक्षा यूरोपीयन से लगते हैं) उनकी आंखे दीर्घ तथा अग्नि के समान दीप्ति युक्त हैं । उनकी आवाज स्पष्ट है, और प्रभावशाली है, उनकी वाणी विभिन्न स्तरों पर गूंज उठती है और प्रत्येक प्रकार के भावों को व्यक्त करने में समर्थ है । कभी तो वे बहुत मधुर वाणी में बुराई की भर्त्सना करते हैं तो कभी निन्दनीय पुरोहितवाद के दुष्कृत्यों और मिथ्या-वादों पर उनकी वाणी वज्र की भांति शेष वृष्टि करती है । इस प्रकार उनकी यह प्रभावपूर्ण वाणी अतिसंवेदनशील तथा मननशील हिन्दुओं पर अप्रतिरोध्य प्रभाव उत्पन्न करती है ।

जहां कहीं दयानन्द जाते हैं, लोग उनकी चरणधूलि का अनुसरण करते और उसे नमन करते चलते हैं । बाबू केशवचन्द्र सेन की भांति वे किसी नये धर्म की शिक्षा नहीं देते और न किसी नवीन मतवाद की ही स्थापना करते हैं वे उन्हें अपने प्रायः विस्मृत संस्कृत साहित्य की ओर जाने के लिये ही कहते हैं तथा उन्हें भारतवर्षीय पुरातन आर्य पूर्वजों के सिद्धान्तों की वर्तमान हिन्दू ब्राह्मणों के मत से तुलना करने के लिए भी कहते हैं ताकि लोग अग्नि, वायु, आदित्य तथा अंगिरा जैसे पुरातन ऋषियों द्वारा प्रतिपादित ईश्वर के पवित्र स्वरूप की और पुनः लौट आयें । वे अन्य मतावलम्बियों की भांति यह भी उपदेश नहीं देते कि वेद किसी ऊर्ध्वलोक निवासिनी शक्ति के द्वारा प्रकट किये गये हैं अपितु उनका कहना हैं कि वेदों का प्रत्येक शब्द सर्वोच्च ईश्वरीय प्रेरणा से युक्त हैं जो पृथ्वी निवासी मानव जाति को प्रदान की गई है । यही दैवी आदेश मानवता के इतिहास में, जब भी आवश्यकता हुई, अन्य राष्ट्रों को भी मिला है ।

विगत पांच वर्षों में स्वामी दयानन्द को लगभग २० लाख अनुयायी, मुख्यतः उच्च जातियों से प्राप्त हुए हैं । उनकी आकृति से ही जाना जा सकता है कि वे

१– स्वामी दयानन्द गौर वर्ण के थे ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वामी दयानन्द के आदर्शों की पूर्ति के लिए अपना जीवन, अपनी आत्मा, यहां तक कि अपनी सांसारिक सम्पदा भी, जो कि हिन्दूओं को अपने जीवन से भी अधिक मूल्यवान् लगती है, न्योछावर कर सकते हैं। किन्तु दयानन्द एक सच्चे योगी की भांति धन का स्पर्श भी नहीं करते, आर्थिक समस्याओं के प्रति विरक्त रहते हैं, तथा दिन मे दो मुठ्ठी चावलों से ही संतुष्ट रहते है। इस उल्लेखनीय हिन्दू महापुरुष का जीवन जादू भरा सा लगता है। वह अपने विरोधियों की भावनाओं की तनिक भी परवाह नही करते और उनकी कठोर समीक्षा करते हैं। भयानक खतरों मे शायद ऐसे क्षणों मे भी अविचलित रहते हैं। हमने उन्हें एक बार कार्यरत देखा। उन्होंने अपने सभी आज्ञाकारी अनुचरों को दूर भेज दिया। उन्हें इसके लिए भी मना कर दिया कि वे न तो उनकी रक्षा करने अथवा बचाने के लिए ही आयें। इसके पश्चात् वे क्रुद्ध भीड के समक्ष अकेले ही खड़े हो गये वे अपने उन विरोधियों का अत्यन्त धैर्य के साथ सामना करते रहे तो इतने क्रुद्ध थे मानों उनके शरीर के टुकड़े–टुकड़े कर देंगे।[1] ....।

दो वर्ष पूर्व उन्होंने वेदों का अनुवाद करना आरम्भ किया। वे इन का संस्कृत और हिन्दी में सर्वथा नूतन भाष्य लिख रहें हैं। हिन्दी में भाष्य लिखना इसलिये आवश्यक समझा है, क्योंकि यह इस देश की अत्यन्त प्रचलित भाषा है। जर्मन संस्कृतज्ञ मैक्समूलर के लिये, जो स्वयं वेदों का अनुवाद कर रहा है, स्वामी जी के ये भाष्य असीम सहायता स्रोत हैं। वह स्वयं दयानन्द से निरन्तर पत्राचार द्वारा सम्पर्क बनायें रखता है।[2] आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय मे प्रोफेसर तथा प्राच्य विद्याओं का एक अन्य प्रकाश पुत्र मोनियर विलियम्स भी स्वामी दयानन्द का बहुत अधिक आभार स्वीकार करता है। भारत में रहते समय वह स्वयं स्वामी दयानन्द तथा उनके शिष्यों से सुपरिचित हो गया था।

मैडम ब्लैवेदस्की द्वारा प्रदत्त उपयगी पाद टिप्पणियां

१– यह घटना किस स्थान की हैं, यह अन्वेषणीय है।

२– स्वामी दयानन्द और मैक्समूलर का पत्र व्यवहार अभी प्रकाश में नहीं आया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपर्युक्त संदर्भ के कतिपय स्थलों पर लेखिका ने जो टिप्पणियां दी हैं वे इस इस प्रकार है—

१. "केशवचन्द्र सेन के सम्बन्ध में वे लिखती है– वर्तमान में ऐसा लगता है कि केशव सेन का दिमाग ही कुछ विक्षिप्त सा हो गया है और वे नृत्य करने वाले फकीर की भांति हो गये हैं। वे अपने आपको पैगम्बर कहते हैं और एक गंदे तालाब में बैठकर चैतन्य, कुरान और बुद्ध की प्रशंसा के गीत गाते हैं। स्त्रियोचित वेशभूषा धारण कर वे अपने साथियों के साथ एक रहस्य पूर्ण नृत्य करते हैं जिसे वे मां दुर्गा के प्रति अपनी भक्ति प्रकट करने का हेतु बताते हैं। इस देवी को वे माता, पिता तथा भ्राता कह कर सम्बोधित करते हैं।" केशव की यह दशा उस समय हो गई थी जब वे ब्रह्मसमाज के एकेश्वरवाद के सिद्धान्त से हट कर परमहंस रामकृष्ण के सम्पर्क में आये और मां काली के भक्त बने। उस समय वे साकारोपासना का भी समर्थन करने लगे और विभिन्न पौराणिक देवी देवताओं को परमात्मा के ही विभिन्न दिव्य गुणों का साकार प्रतीक मानने लगे थे। वे चैतन्य के द्वारा प्रतिपादित नृत्य गान मय वैष्णव भक्तिवाद के भी समर्थक बन गये। भ० ला० भारतीय

२. स्वामी दयानन्द के वेद भाष्य पर मैडम की टिप्पणी

'यह वेद भाष्य बम्बई से मासिक अंकों के रूप में सम्पादित और प्रकाशित होता और इसके द्वारा संगृहित धन आर्यसमाज बम्बई द्वारा संचालित स्कूलों और पुस्तकालयों के संचालन में व्यय होता है। पं० दयानन्द ने इस समय तक सारे भारत में ६० से अधिक स्कूल और पुस्तकालय स्थापित किये हैं। इन पाठशालाओं में संस्कृत का अध्ययन अनिवार्य है तथा ये स्वावलम्बी है।" उक्त कथन में कई बातें तथ्य के विपरीत हैं। वेद भाष्य की बिक्री से प्राप्त धन का उपयोग भाष्य के आगे के अंश के छपने में ही व्यय होता था। स्वामी दयानन्द द्वारा स्थापित विद्यालयों की संख्या ६० कभी नहीं रही। सम्भवतः मैडम का आशय उस समय तक सारे भारत में स्थापित आर्यसमाजों की संख्या रही हो जो ६० के लगभग हो सकती है। भ० ला० भारतीय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

३. मोनियर विलियम्स पर मैडम की टिप्पणी

प्रो० विलियम्स ने अपने दो वर्ष के भारत के निवास काल में संस्कृत के ग्रन्थों अपने अनुवाद कार्य में एक सहायक की सेवायें प्राप्त की। अन्ततः उन्हें स्वामी दयानन्द के सर्वश्रेष्ठ शिष्य युवक पं० श्याम जी कृष्ण वर्मा सहायक के रूप में मिले। यह नव युवा हिन्दू अभी हाल ही में आक्सफोर्ड गया है और उसने अंग्रेज संस्कृतज्ञ मोनियर विलियम्स को यशस्वी बनाया है और स्वयं ने भी ओक्सफोर्ड में प्रशंसा अर्जित की है। दो वर्षों में ही उसने ग्रीक और लैटिन पर अधिकार प्राप्त कर लिया है और इन भाषाओं की परीक्षा में युवक अंग्रेज विद्यार्थियों को भी पीछे रख दिया है। अंग्रेजी समाचार पत्रों में इस युवक की प्रायः चर्चा रहती है। विस्तार के लिये द्रष्टव्य– पं० श्याम जी कृष्ण वर्मा का जीवन चरितः– ले० डा० भवानीलाल भारतीय : प्रकाशक गोविन्दराम हासानन्द दिल्ली।

संदर्भ–२ "थोडे समय बाद थियोसोफिकल सोसाइटी की शाखायें भारत तथा श्रीलंका में भी स्थापित हो गई। यूरोपीयनों की अपेक्षा इस सोसाइटी में बौद्ध और ब्राह्मण सदस्यों की संख्या कहीं अधिक है। सोसाईटी के नाम के साथ निम्न उपशीर्षक जोड़ दिया गया – 'मानवता का भ्रातृसंघ'। स्वामी दयानन्द द्वारा स्थापित आर्यसमाज के साथ, जो एक धार्मिक और सुधारक संगठन है, सोसाइटी का जीवन्त पत्र व्यवहार हुआ और दोनों संस्थानों के बीच परस्पर सहयोग करने का समझोता भी हुआ। तत्पश्चात् न्यूयार्क की थियोसोफिकल सोसाइटी की प्रमुख समिति ने निश्चय किया कि एक विशिष्ट प्रतिनिधि मण्डल को भारत भेजना चाहिए जो वहां जाकर संस्कृतज्ञों के मार्गदर्शन में वेदों की पुरातन भाषा, वहां की पाण्डुलिपियों तथा योग के चमत्कारों का अध्ययन करें। इसके लिये उन्होंने न्यूयार्क की सोसाइटी के अध्यक्ष, दो सचिवों तथा दो सभासदों को चुना। १७ दिसम्बर १८७८ को इस प्रतिनिधि मण्डल ने न्यूयार्क से लंदन होते हुए बम्बई के लिये प्रस्थान किया और अपने गन्तव्य स्थल (बम्बई) पर फरवरी १८७९ में पहुंचा।

संदर्भ–३ 'ज्यों ही हमने बम्बई की धरती पर कदम रखा, हमने स्वामी दयानन्द की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक तार देकर अपने आगमन की सूचना दे दी। क्योंकि हम उनसे प्रत्यक्ष भेंट करने के लिये अतीव उत्सुक थे। तार के उत्तर में उन्होंने हमें सूचित किया कि वे इस समय हरिद्वार जा रहे हैं जहां उस वर्ष (कुम्भ के कारण) हजारों लाखों तीर्थ यात्री एकत्र होंगे। उन्होंने यह भी कहा कि हम हरिद्वार न जावें, क्योंकि वहां हैजा फूट पड़ने की पक्की संभावना है। उन्होंने हमें हिमालय के पाद प्रदेश में पंजाब में एक स्थान पर आने के लिये कहा, जहां एक मास के भीतर उनसे हमारी भेंट होनी थी।'

इस अनुच्छेद को लिख कर मैडम ने इस पर निम्न पाद टिप्पणी लिखी है – 'हा शोक, यह बात तो १८७९ की है। उसके पश्चात् तो सेतु के नीचे से बहुत सा जल बह चुका है। एक अंग्रेजी मुहावरा—

स्वामी दयानन्द का हमारे प्रति रूख बदल गया है। तब तो वे हमारे मित्र और सहयोगी थे किन्तु अब थियौसोफिकल सोसाइटी के दोनों संस्थापकों – कर्नल आल्काट तथा इद पंक्तियों की लेखिका के घोषित शत्रु हैं। ऐसा लगता है कि थियोसोफिकल सोसाइटी से सुरक्षात्मक दोनों प्रकार का गटबन्धन करने के पश्चात् स्वामी दयानन्द को आशा थी कि सोसाइटी के सभी सदस्य – ईसाई, ब्राह्मणगत वाले तथा बौद्ध उन्हें सर्वोच्च नेता तथा शास्ता के रूप में स्वीकार कर लेंगे तथा वे लोग आर्य समाज के सदस्य बन जायेंगे। यह कहना अनावश्यक ही है कि ऐसा होना असम्भव ही था।

थियोसोफिकल सोसाइटी अपने सदस्यों के धार्मिक विश्वासों में हस्तक्षेप न करने के सख्त नियम पर टिकी हुई है। इस संस्था में सहिष्णुता की सर्वोच्च मात्रा पाई जाती है यहां तक कि थियोसोफिकल सोसाइटी पूर्णतया दार्शनिक उद्देश्यों को ही स्वीकार करती है। यह जाति, विश्वास या वर्ण (या राष्ट्रीयता) से निरपेक्ष मानवता के भ्रातृभाव के सिद्धान्त में विश्वास रखती है तथा लोगों के व्यक्तिगत धार्मिक विश्वासों से उसका कुछ लेना देना नहीं है। स्वामी दयानन्द को यह अनुकूल नहीं पड़ता। वे चाहते हैं कि या तो सोसाइटी के सभी सदस्य उनकी अधीनता स्वीकार करें या उन्हें वहां से निष्कासित कर दिय जाय। यह स्पष्ट ही था कि न तो सोसाइटी के अध्यक्ष और न उसकी समिति को ही यह मांग स्वीकार हो सकती थी। सोसाइटी के सभी सदस्यों ने चाहे वे ईसाई, स्वतंत्र तर्क करने वाले, बौद्ध तथा विशेषतया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्राह्मण थे, इसके विरूद्ध विद्रोह कर दिया और आग्रह किया कि आर्यसमाज तथा सोसाइटी के गठबन्धन को भंग कर दिया जाय। यह देखकर कि उनके हाथों से सत्ता और अधिकार फिसलता जा रहा है, स्वामी दयानन्द ने सोसायटी के खिलाफ फतवा दे दिया तथा उनके साथी सहयोगी हर गली के छोर पर उसके अपशब्दों की वर्षा करने लगे। इसका परिणाम यह निकला कि आर्यसमाज में विद्यमान प्रबुद्ध तत्व ने कट्टरपन्थी स्वामी से अपने सम्बद्ध तोड़ लिये और सोसाइटी से जुड़ गये। स्वामी दयान्नद हमारी सोसायटी को विश्वासहीन फिरन्गियों की जमात कहते थे।

इस पादटिप्णी पर ग्रन्थ के सम्पादक ने लिखा है– "स्वामी दयानन्द और थियोसोफिकल सोसाइटी के आरम्भिक सम्बन्धों के बारे में कर्नल हेनेरी स्टील आल्काट ने अपनी पुस्तक ओल्ड डायरी लीव्ज खण्ड १ अध्याय २५ में लिखा है।"

हमारा विचार– यह कहने की आवश्यकता नहीं कि मैंडम की स्वामी दयानन्द और आर्यसमाज विषयक उपर्युक्त ठिप्पणी नितान्त भ्रामक तथा पूर्वाग्रहयुक्त है। आर्य समाज का सोसाइटी से सम्बन्ध विच्छेद किन परिस्थितियों में हुआ, इसकी यथार्थ जानकारी के लिये द्रष्टव्य– नवजागरण के पुरोधा : दयानन्द सरस्वती का प्रांसगिक स्थल'

संदर्भ–४ "पाताल" शब्द का अर्थ अधो लोक होता है। इस शब्द के विषय में संस्कृत के एक विद्वान् स्वामी दयानन्द सरस्वती ने, जिनके बारे में मैंने अपने द्वितीय पत्र में लिखा है, एक नया रोचक अनुसंधान किया है। यदि इसका समर्थन भाषा वैज्ञानिक कर देते हैं, जिसकी पूरी आशा है, तो इस शब्द के अर्थ की यह शोध और भी रोचक बन जायेगी। दयानन्द यह बताते हैं कि प्राचीन आर्यों को न केवल अमेरिका का पता ही था, वे वहां पर गये भी थे।[1] इसी अमेरिका को प्राचीन ग्रन्थों में पाताल कहा गया है जिस का अर्थ होता है निम्न लोक, किन्तु कालान्तर में पाताल का अर्थ विकृत होकर नरक वाची बन गया। स्वामी दयानन्द अपनी धारणा का समर्थन प्राचीन शास्त्रों के अनेक उद्धरणों से करते हैं, खास तौर से कृष्ण तथा उनके प्रिय शिष्य अर्जुन के उपाख्यानों

१— सत्यार्थ में ऐसे प्रमाण दिये गये हैं जिनसे प्राचीन आर्यों का अमेरिका गमन सिद्ध होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से । अर्जुन जो पांच पाण्डवों में से एक था, कि उनके बारे में प्राप्त इतिहास में कहा गया है कि चन्द्रवंश का यह राजकुमार अपनी यात्रा के दौरान पाताल गया था और वहां के राजा नागराज की विधवा पुत्री उलोपी से विवाह किया था। पिता और पुत्री के नामों की तुलना करने से हम निम्न निष्कर्षों पर पहुंचते हैं और इनसे स्वामी दयानन्द की धारणाओं की ही पुष्टि होती है।

अमेरिका के मूल निवासी मैक्सिकन इण्डियन जादूगरों को आज भी 'नागुआल' नाम से पुकारा जाता है। असीरिया और चालिडया के नागगलों की भांति जो वहां के मंगाई लोगों के मुखिया कहलाते थे, मैक्सिको के नागुआल भी पुरोहित और जादूगर दो के काम एक साथ अंजाम देते हैं। इनकी सेवा में कोई दैत्य रहता है जो प्राय: सांप या मगर का वेश धारण किये रहता है। यह उस नागुआल का वंशज माना जाता है, जो सांपों का राजा था। मैक्सिको के बारे में लिखने वाले लेखक एबे ब्रासियर डि बौरबोर्ग ने अपने ग्रन्थ में पर्याप्त लिखा है। वह कहता है कि नागुआल दुष्टात्माओं के सेवक होते हैं और ये आत्मायें थोड़े समय तक उनकी रक्षा करती है। संस्कृत में सांप को नाग कहते हैं और बुद्ध के इतिहास तथा पुराणों में नागराज' का बहुश: उल्लेख मिलता है। परम्परा से यह प्रसिद्ध है कि अर्जुन ने ही पाताल लोक में नागपूजा की प्रथा प्रचलित की थी। इस प्रकार एक ही केन्द्र पर आने वाले प्रमाण यथा नामों में मिलने वाली समानता वस्तुत: आश्चर्यजनक है और यह आश्चर्य तब बढ जाता है जब हम देखते हैं कि नागराज को लेकर प्राप्त यह शब्द साम्य धरती के दो पृथक् तथा विपरीत छोरों में उपलब्ध होता है। हमारे भाषा वैज्ञानिकों का ध्यान निश्चय ही इस ओर जाना चाहिये।

अर्जुन की पत्नी 'उलोपी' का नाम तो विशुद्ध प्राचीन मैक्सिकन है। अब यदि हम स्वामी दयानन्द की उपर्युक्त आपत्ति को अस्वीकार करते हैं तो ईसा के बहुत पूर्व संस्कृत पाण्डुलिपियों में मिलने वाले इस शब्द की कोई संतोषप्रद व्याख्या करना हमारे लिये कठिन हो जायेगा ...... इस प्रकार के शब्द साम्य को आकस्मिक बताना तो अतिवादिता ही होगी। अत: जब तक कि कोई भाषा वैज्ञानिक उपर्युक्त उपपत्ति का खण्डन न करें, स्वामी दयानन्द की उपर्युक्त धारणा को सर्वाधिक तर्क

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूर्ण मानना ही होगा। इनके अतिरिक्त स्वामी दयानन्द यह भी कहते हैं कि ५००० वर्ष पूर्व जब अर्जुन अमेरिका गया था तो उसका मार्ग साइबेरिया और बेरिंगस्टेट्स होकर ही था।

स्वामी दयानन्द के द्वारा वर्णित अर्जुन उलोपी विवाह प्रसंग और भारत अमेरिका के प्राचीन सम्बन्धों की पुष्टि में लिखी गई मैंडम की उपर्युक्त टिप्पणी निश्चय ही पर्याप्त तथ्यपूर्ण एवं विश्वसनीय है।

सदर्भ–४ 'प्रो० मैक्समूलर ने भारत की एक झलक भी नहीं देखी है, किन्तु वही एक निर्णायक की भांति बैठकर भारतीय इतिहास के कालक्रम का स्वयं की धारणा के अनुसार निर्धारण करता है, और यूरोप के लोग उसके निर्णयों को देवी वाणी मानकर स्वीकार कर लेते हैं। इस प्रशंसित जर्मन संस्कृतज्ञ द्वारा निर्धारित काल क्रम की प्रामाणिकता पर विचार करते समय मैं यह कहने से विरत नहीं हो सकती कि मैक्समूलर की स्थापनायें कितने दुर्बल आधार पर टिकी हुई हैं और जब वे इस या उस पाण्डुलिपि के लेखन काल का निर्धारण करते हैं तो उनके निष्कर्षों को हम विश्वसनीय क्यों नहीं समझते ? भारत का जो वर्णन मैं प्रस्तुत कर रही हूं उस प्रसंग में शायद पाठकों को मेरी यह टिप्पणी अप्रासगिक ही लगती होगी, किन्तु यह स्मरण रखना होगा कि यूरोप के अन्य देशों की ही भांति रूस के लोग भी भाषा विज्ञान के इस पण्डित (मैक्समूलर) के प्रति अत्यन्त प्रशंसा भाव रखते हैं और इसका कारण है इस विद्वान् (मैक्समूलर) के चाटुकार अनुयायियों द्वारा व्यक्त किये गये वे प्रशंसापूर्ण उद्गार जो सर्वत्र प्रचारित किये गये हैं।

उदाहरणार्थ, जहां तक स्वामी दयानन्द के वेद भाष्य का सम्बन्ध है प्रथम तो उसे कोई पढ़ता नहीं, सम्भवतः उसके बारे में बहुत कम लोगों की जानकारी है, और इसी कारण मैं प्रो० मैक्समूलर को भाग्यशाली मानती हूं। मैं यथा सम्भव अत्यन्त संक्षेप से एतद्विषयक मूल बिन्दुओं को प्रस्तुत करूंगी।

अपने साहित्य (ग्रन्थ) में प्रो० मैक्समूलर ने अपनी स्थापना प्रस्तुत करते हुए कहा है कि भारतवासी आर्यो को ईश्वर विषयक ज्ञान बहुत धीरे–धीरे तथा क्रमशः

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राप्त हुआ था और ऐसा कह कर वे यह सिद्ध करना चाहते हैं कि वेद उतने प्राचीन नही हैं जैसा कि उनके कुछ साथियों का मानना है। अपने इस नवीन सिद्धान्त की पुष्टि में कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण साक्षियां प्रस्तुन करने के पश्चात् वे जिस तथ्यात्मक निर्णय पर पहुंचे है वह उनकी दृष्टि में निर्विवाद है। वे मंत्र संहिता में प्रयुक्त शब्द "हिरण्यगर्भ" की ओर संकेत करते हैं जिसका अर्थ वे स्वर्ण करते हैं और कहते हैं कि वेदों का वह भाग जो छन्दस कहलाता है ३१०० वर्ष पहले प्रादुर्भूत हुआ, इसलिए मंत्र भाग की रचना का काल २९०० वर्ष से पहले मानना ठीक नहीं है। इतना ही नहीं, वह मंत्र भाग का भी भाषा वैज्ञानिक और कालक्रम के अनुसार विभाजन करता है। और इस मंत्र भाग में "हिरण्यगर्भ" शब्द के प्रयोग को देखकर मंत्र संहिता को इससे भी अधिक प्राचीन मानने वालों के मत को असंगत कहता है और स्वयं की धारणा की विजय घोषणा करता है। उसके अनुसार प्राचीन आर्यों को स्वर्ण का कोई ज्ञान नहीं था, अत: यदि मंत्र में स्वर्ण का उल्लेख है तो मानना होगा कि इस मंत्र का रचनाकाल अपेक्षाकृत नवीन है।

किन्तु इस प्रसंग में इस विख्यात संस्कृतज्ञ का मत बहुत कुछ दोष पूर्ण है। स्वामी दयानन्द और दूसरे पण्डित, यहां तक कि वे भी जो अब स्वामी जी के विरोधी हैं, यह सिद्ध करते हैं कि मैक्समूलर ने 'हिरण्यगर्भ" पद के अर्थ को पूरे तौर पर गलत ही समझा है। मूलत: 'हिरण्य' का अर्थ सोना नही होता और जब हिरण्य के साथ 'गर्भ' शब्द जुड़ जाता है तब भी यह उक्त और वेदों की प्राचीन संस्कृत में यह कहीं नही मिलता। इस प्रकार प्रोफेसर मैक्समूलर का प्रतिभाशाली पाण्डित्य प्रदर्शन व्यर्थ गया। इस शब्द का अर्थ प्रकाश के अर्थ में लिया जाना चाहिए जिसे रहस्यात्मक अर्थ में ज्ञान का प्रतीक कहेंगे, जिस प्रकार कि कीमियागरों को दृष्टि में प्रकाश को सूक्ष्म स्वर्ण को प्रतीक माना जाता है जिसकी किरणों से वे स्थूल धातु को प्राप्त करने की आशा रखते हैं। "हिरण्य" के साथ 'गर्भ" पद जुड़ कर वह प्रकाशमान या 'दिव्य गर्भ' का वाचक हो जाता है जो वेद के अनुसार आद्य तत्व का संकेत देता है। जिसके गर्भ में (जिस प्रकार स्वर्ण की स्थिति धरती के गर्भ में होती हैं) दैवी ज्ञान तथा सत्य का प्रकाश रहता है। इसे ही संसार के पापों से मुक्त आत्मा का सार तत्व कहा जाता है।[1]

१– विवेचन 'हिरण्यगर्भ समवर्तताग्रे' मंत्र के संदर्भ में है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आर्य शिक्षा पद्धति और स्वामी दयानन्द

डा० सत्यवीर विद्यालंकार, ७८-एम०सी० कालोनी, हिसार।

१. **प्रस्तावना**– सृष्टि के रचयिता परमात्मा ने इस दुनिया में असंख्य पदार्थों का निर्माण किया है। इनमें सबसे सुन्दर तथा बुद्धिमान् रचना मनुष्य के रूप में की है। इस मानव की योनि में प्राणी को कर्म और भोग दोनों का अवसर मिला है जब कि और कोई योनि (रचना) ऐसी नहीं है। हां, उन्हें केवल भोग योनि कह सकते हैं। प्रश्न पैदा होता है कि यह मनुष्य कौन है? ''मत्वा कर्माणि सीव्यति इति मनुष्य:'' जो बुद्धिपूर्वक विचार करके कार्य करे वह मनुष्य है। इस मनुष्य की बुद्धि के विकास का क्या साधन है? उत्तर है, इस मनुष्य की बुद्धि के विकास के लिए तथा उसके सम्यक् प्रयोग के लिये शिक्षा आवश्यक है, क्योंकि यही एक साधन है जो मनुष्य को ज्ञानवान् बनाकर उसे वास्तव में मनुष्य कहलाने के योग्य बनाती है। जो मनुष्य होकर भी विद्या नहीं पढ़ा वह पशुओं के समान है। इस लिये कहा है–''विद्या विहीन: पशु[1]। अत: स्पष्ट है कि विद्या पढ़ना प्रत्येक का कर्त्तव्य है।

२. **शिक्षा की परिभाषा**– स्वामी दयानन्द के अनुसार शिक्षा ''जिससे विद्या सभ्यता, धर्मात्मता, जितेन्द्रियता आदि की वृद्धि होवे और अविद्या आदि दोष छूटें, उसको शिक्षा कहते हैं।[2] शिक्षा ग्रहण करने से मनुष्य में अच्छे और बुरे के चिन्तन के साथ-साथ धार्मिकता आ जाती।[3] जिससे मानव का सर्वांगीण विकास अर्थात् शारीरिक विकास, मानसिक विकास तथा बौद्धिक विकास हो सके वही उत्तम शिक्षा कहलाती है।

३ **शिक्षा का उद्देश्य**– बालक के शरीर, मन और बुद्धि का उचित विकास के प्रकाश में सृष्टि को समझकर उसमें अपनी भूमिका निभाने का आत्मविश्वास, अपनी आजीविका के लिये परोपजीवी बनने की अपेक्षा स्वयं आत्मनिर्भर अर्थात् अपने पैरों पर खड़े होने का साहस अन्याय–अत्याचार तथा शोषण रहित समता-

१— नीतिशतकम्

२— स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश

३— ''विद्या का फल यही है कि जो मनुष्य को धार्मिक होना अवश्य है।'' व्यवहार भानु।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूलक प्रबुद्ध समाज का निर्माण, किसी भी व्यक्ति विशेष या वर्ग विद्वेष से सर्वथा दूर रहकर सर्वभूतहित की कामना, मानवता, मानवीय मूल्य और मानवीय संवेदना का आदर सम्मान तथा अपनी राष्ट्रीयता और अस्मिता का उचित अभिमान तथा उपयुक्त गौरव अनुभव करना है। चिन्तन पूर्वक बुद्धि का प्रयोग करते हुए, बुद्धि विरुद्ध अन्धविश्वासों तथा प्रदर्शन व पाखण्ड से दूर रहते हुये तर्क वितर्क पूर्वक विज्ञान सम्मत विचारधारा तथा तथ्यों को ही अंगीकार करना भी शिक्षा का उद्देश्य है। गुण-दोष, सत्-असत्, हानि लाभ, कर्त्तव्य अकर्त्तव्य पाप-पुण्य का विवेक उत्पन्न करने का सामर्थ्य पैदा करना भी शिक्षा का उद्देश्य माना जाता है। अर्थात् जितने भी उत्तम गुण, कर्म, स्वभाव और पदार्थ हैं वे सब विद्या अथवा शिक्षा से ही प्राप्त किये जा सकते हैं। भाव यह है कि मनुष्य को मानसिक और बौद्धिक दोनों दृष्टियों से समर्थ बनाना ही शिक्षा का उद्देश्य है। वेद में शिक्षा का उद्देश्य बताते हुये लिखा हैः-

अपामीवामप स्निधमपसेधत दुर्मतिम्।
आदित्यासो युयोतना नोऽहंसः ॥[1]

छात्र अपने अखण्ड शक्ति सम्पन्न आचार्य से प्रार्थना करता हैं कि आप शिक्षा के द्वारा हमारे शारीरिक रोगों व दुर्व्यसनों को हिंसा आदि की वृत्तियों से पूर्ण मानसिक प्रवृत्तियों को, बौद्धिक अज्ञान के अन्धकार को दूर कर दीजिये। जिससे मै पापमयी भावनाओं से सर्वथा पृथक् रहकर अच्छी शिक्षा को पाकर श्रेष्ठ मानव बन जाऊं।

विद्या की परिभाषा बतलाते हुये लिखा है 'वेत्ति यथावत्तत्वं पदार्थ स्वरूपं यथा सा विद्या,"[2] अर्थात् जिससे पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को बोध होवे वह विद्या कहाती है। संस्कृति का अर्थ शुभ गुणों, पवित्र संस्कारों तथा मानवीय मूल्यों का ग्रहण और अशुभ गुणों तथा कुसंस्कारों का त्याग है। सभ्यता का अर्थ सद्व्यवहार तथा शिष्टता

१— सामवेद-३-९५
२— सत्यार्थप्रकाश, नवम समुल्लास

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का ग्रहण तथा अशिष्टता का त्याग है। जो पक्षपात रहित, न्यायाचरण, सत्य भाषणादि युक्त आचरण है वह धर्म है। इन्द्रियों को विषयों के सुख में न फंसाना, इन्द्रियों को सर्वथा नियन्त्रण में रखना जितेद्रियता कहलाती है। जिससे तत्त्व के स्वरूप का ठीक ज्ञान न हो अन्य में अन्य बुद्धि होवे वह अविद्या है। इस अविद्या से उत्पन्न दोषों को छुड़ाने वाली शिक्षा कहलाती है।

विद्या के सम्बन्ध में उपनिषद् में कहा है — "सा विद्या या विमुक्तये."[1] अर्थात् मानव को आवागमन के चक्र से मुक्ति दिलाने वाले साधन का नाम विद्या है। विद्या वही है जिससे मुक्ति मिल जावे। वेद में लिखा है 'विद्ययाऽमृतमश्नुते"[2] अर्थात् विद्या से अमृत अर्थात् मोक्ष प्राप्त होता है। विद्या ग्रहण की पूर्णता के सम्बन्ध में व्याकरण के प्रसिद्ध ग्रन्थ महाभाष्य में लिखा है 'चतुर्भिः प्रकारैः विद्योपयुक्ता भवति, आगम कालेन, स्वाध्याय कालेन, प्रवचन कालेन, व्यवहार कालेनेति ।"[3] इसका भाव यह है कि विद्या चार प्रकार से पूरी होती हैं। प्रथम गुरुमुख के द्वारा पढ़ने से विद्या का एक भाग पूरा होता है। दूसरा गुरु के द्वारा जितना पढ़ा उतना स्वयमेव पढ़ना। तीसरा जितनी विद्या गुरु से पढ़ी है उतना ही समय निकाल कर किसी को पढ़ा देना। चौथा जितना गुरु से पढ़ा है और जो पढ़ाया है, उसको अपने व्यवहार में क्रियान्वित करना। इन चार विधियों से विद्या की पूर्णता होती है तथा वह व्यक्ति विद्वान् कहलाने का अधिकारी बनता है। यह बात सर्वमान्य है कि शिक्षा चरित्र निर्माण, समाज निर्माण, आर्थिक एवं भौतिक उन्नति का साधन है, तथापि पुरातन ऋषियों के अनुसार शिक्षा वह है जो मनुष्य के पशुत्व को मिटाकर उसे देवत्व प्रदान करें। जो मनुष्य की शारीरिक, मानसिक व भौतिक उन्नति करके उसके जीवन का सर्वांगीण विकास करें।

भाव यह है कि शिक्षा का महत्व सदा रहा है और रहेगा। मनुष्य के सफलता-पूर्वक जीवन यापन तथा राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय सन्दर्भों से जोड़कर शिक्षा मानवता

१—

२— यजुर्वेद ४०/१४

३— महाभाष्यम्, यस्यशाह्निक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का हित सम्पादन करती है। स्वामी दयानन्द के अनुसार 'विद्या विलास मनसो धृतशील शिक्षा,''[1] विद्या के विलासी, धैर्यशील व्यक्ति पैदा करना ही शिक्षा की सार्थकता है।

४. मानव-निर्माण– मनुष्य जब तक वास्तव में मनुष्य नहीं बने तब तक देश का अथवा विश्व का निर्माण करना असम्भव है। मनुष्य के ठीक प्रकार से निर्माण के बिना विश्व में शान्ति की स्थापना की कामना करना भी व्यर्थ है। क्योंकि संसार में जो कुछ अशान्ति या छीना झपटी मची है उसका कारण वस्तुतः मनुष्य स्वयं है। कारण यह है कि संसार का जितना लाभ या हानि मनुष्य कर सकता है इतना दूसरा कोई प्राणी नहीं कर सकता।

यह बात ठीक है कि बाल्यावस्था में बच्चे पर पड़ा हुआ छोटा सा संस्कार भी अमिट रहता है और वह यौवनावस्था में बहुत दृढ़ बन जाता है। यही कारण है कि बचपन को उत्तम बनाने के लिए १६ में से ११ संस्कार बचपन में करने का विधान किया गया है। ऋषियों ने मानव जीवन के आधार शिशु जीवन' को सुन्दर एवं पवित्र बनाने की तरफ पूरा ध्यान दिया था। जब बचपन की प्रत्येक क्रिया पर विशेष ध्यान दिया जाता था तभी मनुष्य का ठीक निर्माण होता था। यह मानव निर्माण की प्रक्रिया आर्य प्रणाली के अन्तर्गत आश्रम जीवन पद्धति में ही निहित है। यहां के जीवन में वेद शास्त्र आदि की आस्तिकता, सात्विकता तथा संयम का प्रभाव बालकों के मन तथा बुद्धि पर डाला जाता हैं। वेद में लिखा हैं, 'मनुर्भव,'[2] अर्थात् हे बालक तू उत्तम विद्या को प्राप्त करके मनुष्य के लिए उपयोगी सब गुणों को धारण करके अच्छा मनुष्य बन। राष्ट्र को सब प्रकार की उन्नति के लिये मनुष्य के निर्माण की सर्वप्रथम आवश्यकता है।

५. पात्रता या दीक्षा– वैसे तो विद्या पढ़ने का सबको अधिकार है तथापि पात्र (योग्य) को ही विद्या पढ़ानी चाहिये। पात्रता अर्थात् शिक्षा ग्रहण करने के योग्य

१— सत्यार्थप्रकाशः, तृतीय समुल्लास

— ऋग्वेद १०/

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

या पात्र बनना। यह शिक्षा ग्रहण करने से प्रथम आवश्यकता है। शिक्षा तो ज्ञान विज्ञान का प्रकाश है। यह विद्या का प्रकाश द्विविधा तथा भ्रान्ति से रहित हो और इसमें किसी भी प्रकार की मलिनता या धुन्धलापन न आवे इसलिये पूर्ण विद्वान् आचार्य के पास ही विद्या ग्रहण करनी चाहिये। जिस गुरु को स्वयं स्पष्ट ज्ञान नहीं है, वह शिष्य को क्या सिखायेगा ? इस सन्दर्भ में एक कहावत प्रचलित है– "गुरु कीजे जान पानी पीजे छान।" अर्थात् अच्छे गुरु की खोज करनी चाहिये, तभी किसी को गुरु धारण करें। इस कार्य में माता पिता या अभिभावक सहायक होते हैं। सम्भवतः यही कारण था कि गुरुओं की प्रसिद्धि होती थी तथा गुरु परम्परा का विशिष्ट महत्व चलता था।

विद्या प्रदान करने के लिए शिक्षा से पहले दीक्षा आवश्यक है। बिना दीक्षित हुये जो शिक्षा प्राप्त की जाती है, वह अपवित्र पात्र में पवित्र वस्तु डालने के समान अपवित्र हो जाती है। इसलिये गुरु आश्रम में प्रवेश के समय ही उपनयन संस्कार तथा वेदारम्भ संस्कार के द्वारा सर्वप्रथम छात्र को दीक्षा दी जाती हैं। इस दीक्षा के सम्बन्ध में मनु ने लिखा है—

उपनीय गुरुःशिष्यं शिक्षयेच्छौचमादितः।
आचार मग्नि कार्यं च सन्ध्योपासन मेव च ॥[1]

इसका भाव यह है कि सबसे पहले आचार्य अपने भावी शिष्य का यज्ञोपवीत संस्कार करे और उसके बाद उसको शुद्धि का ढंग सिखाये। छात्र की शारीरिक शुद्धि के साथ, वाचिक और मानसिक शुद्धि के द्वारा उसके मन, वचन तथा क्रिया कलाप अथवा कर्म में शुद्धि लावे। उसके आहार-विहार अर्थात् भोजन तथा रहन-सहन के सब दोषों का निवारण करके उसे सदाचार पूर्वक जीवन व्यतीत करने की शिक्षा देवे। इसके पश्चात् उसको सन्ध्या, उपासना तथा यज्ञ आदि की शिक्षा देवे। ईश्वर जो सबका परमगुरु है व विद्या और बुद्धि का प्रदाता है, इसलिये उसकी उपासना की पद्धति सिखलाये। छात्र की बुद्धि और विवेक उत्पन्न करने के लिये यम तथा नियम

१-- मनुस्मृति-२-६९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आदि की शिक्षा देवे । आचार्य यास्क ने शिक्षा के इस रहस्य को निम्नलिखित प्रकार से प्रकट किया है—

विद्या वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि ।
असूय कायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम् ।।

यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम् ।
यस्ते न द्रुह्येत् कतमच्चनाह तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन् ।।[1]

आचार्य यास्क कहते हैं कि योग्य शिष्य को ही विद्या पढाने से विद्या की सफलता है। यहां आलंकारिक रूप में योग्य शिष्य का वर्णन किया है। वास्तव में ब्राह्मण का अक्षय कोष विद्या होती है। उस योग्य शिष्य को पढ़ाना चाहिये जो मनसा, वाचा कर्मणा शुद्ध हो, कुटिलतादि दोषों से रहित हो, मेधावी, जितेन्द्रिय हो, द्रोह बुद्धि न रखता हो, गुणों में दोषारोपण की बुद्धि न रखता हो, सरल स्वभाव का हो, गुरूभक्त हो और विद्या प्राप्ति के लिए यत्न करने वाला हो। इसीलिये शिष्य के लिये एक सुन्दर शब्द का प्रयोग प्राचीन शास्त्रों में मिलता है— "जिज्ञासु ।" जिसमें कुछ सीखने अभ्यास करने की उत्कट इच्छा हो उसको सिखाने से ही लाभ होना सम्भव है और वही कुछ सीख भी सकता है।

यह तथ्य है कि विद्या कभी गुरु द्वारा घोटकर नहीं पिलायी जा सकती। इस पर भी इतना अवश्य है कि जिज्ञासु को सरलता से कम परिश्रम में ही बहुत अधिक सिखाया जा सकता है। छात्र को जिज्ञासु बनाना ही दीक्षा का तात्पर्य है। इसके साथ ही इस कथन में तनिक भी सन्देह नहीं कि पात्र को दी हुई विद्या फलती-फूलती है तथा कुपात्र को विद्यादान की कोई उपयोगिता नहीं। शास्त्रों के अनुसार "सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते" अर्थात् विद्या दान सर्वश्रेष्ठ दान हैं। तथापि यह विद्या का दान पात्र को ही देना श्रेयस्कर है। इस कथन का तात्पर्य किसी पर विद्या ग्रहण की पाबन्दी लगाना या किसी को विद्या अध्ययन से रोकना नहीं है।

१— निरुक्त २-४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपर्युक्त से स्पष्ट होता है कि वैदिक शास्त्रों में विद्या पढ़ने का अधिकार तो मानव मात्र को उसी प्रकार है, जिस प्रकार परमेश्वर प्रदत्त वायु, जल, भूमि आदि पर सबको समान अधिकार है। फलतः यह पौराणिक मान्यता सर्वथा अवैदिक है कि स्त्रियों व शूद्रों को वेदादि शास्त्रों को पढ़ने का अधिकार नहीं है। किन्तु जन्म किसी भी कुल में हुआ हो, विद्या का अधिकारी वही है, जो शिक्षा प्राप्ति से पूर्व दीक्षा को प्राप्त कर लेता है। बिना दीक्षा के किसी भी कुल में उत्पन्न शिष्य को कदापि नहीं पढ़ाना चाहिए।

६. प्रारम्भिक परीक्षा : जिज्ञासु छात्र की यह परीक्षा गुरु के द्वारा प्रारम्भ में ही ली जाती थी। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि जो शिष्य बनकर पढ़ने के लिए गुरुकुल में प्रवेश लेना चाहता है, उसकी गुरु क्या परीक्षा लेता होगा ? स्पष्ट है कि यह प्रवेश के समय ली जाने वाली परीक्षा किसी विषय विशेष की जानकारी से सम्बन्धित न थी अपितु प्रवेशार्थी की पात्रता की परीक्षा थी। इस समय शिष्य के गुरु के प्रति समर्पण भाव की परीक्षा ली जाती थी। प्रत्येक प्रवेशार्थी को इस परीक्षा से गुजरना पड़ता था, क्योंकि गुरु भी वर्तमान काल की भांति हर एक को न तो प्रवेश देते थे और न पढ़ाते थे। इस समय फीस के लोभ से प्रवेश नहीं दिया जाता था, अपितु विद्या पढाने के लिये प्रवेश दिया जाता था। गुरुजन पूर्ण रूप से परीक्षा करके ही शिष्य के लिए अपने अगाध ज्ञान के भण्डार को उद्घाटित करते थे। इस विषय में आचार्य यास्क ने लिखा है—

नावैयाकरणाय, नानुपसन्नाय, अनिदंविदे वा नित्यं ह्यविज्ञासुविज्ञानेऽसूया।
उपसन्नाय तु निर्ब्रूयात् यो वाऽलं विज्ञातुं स्यात् मेधाविने तपस्विने वा॥[1]

अर्थात् जो व्याकरण का ज्ञाता न हो, जो गुरू के पास आकर न सीखना चाहता हो, जो इस निरूक्तशास्त्र को समझने की योग्यता न रखता हो। उसे विद्या न दे क्योंकि विद्या प्रसंग में मूर्ख की सदा निन्दा होती है। जो गुरु के पास श्रद्धा, भक्ति से आया हो और जो मेधावी हो ऐसे शिष्य को ज्ञान देना चाहिए।

१— निरूक्त २—१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

७. उपाध्याय तथा आचार्य : पुरातन शिक्षा पद्धति का विश्लेषण करने से पता चलता है कि शिक्षा प्रदान करने वाले गुरुओं की भी श्रेणी बनी होती थी। यह श्रेणी या विभाजन उनकी योग्यता के आधार पर होता था। इसमें किसी विशेष स्थान पर रहने या राजदरबार आदि में रहने अथवा अन्य किसी प्रकार की भौगोलिक परिस्थिति में रहने से तात्पर्य नहीं था. यह तो केवल विशुद्ध योग्यता पर आधारित था। इसीलिये साधारण शिक्षक के लिये उपाध्याय और विशेष योग्यता वाले शिक्षक के लिये आचार्य शब्द का प्रयोग किया जाता था। इसी प्रकार गुरुकुल, आचार्यकुल तथा आश्रम आदि शब्द भी अलग–अलग स्थिति के शिक्षणालयों के सूचक थे। उक्त प्रकार के गुरु विद्वान् तथा हितकारी होते थे। स्वामी जी ने इस प्रकार के विद्वान् के सम्बन्ध में लिखा है— "विद्वान्" नाम उसका है जो अर्थ सहित विद्या को पढ़के वैसा आचरण करे, कि जिससे धर्म, अर्थ काम, मोक्ष और परमेश्वर की प्राप्ति यथावत् हो सके। इसी को स्थिरमति कहते हैं। ऐसा जो विद्वान् है वह संसार को सुख देने वाला होता है। उसको कोई भी मनुष्य दुःख नहीं दे सकता, क्योंकि जिसके हृदय में विद्या सम सूर्य प्रकाशित हो रहा हो, उसको दुःख रूप चोर दुःख कभी नहीं दे सकता।"[1]

८. उपाध्याय का लक्षण : प्राचीन काल में भी गुरु के लिए अपने परिवार के भरण पोषण हेतु कुछ धन कमाना पड़ता था। ऐसे गुरु किसी एक विषय के विद्वान् होते थे, जो छात्रों को पढा कर बदले में दक्षिणा स्वरुप कुछ धन लेते थे। इस धन की व्यवस्था राज्याश्रय से संस्था के आचार्य को करनी पड़ती थी। ऐसे शिक्षक के लिए उपाध्याय शब्द का प्रयोग प्रचलित था। मनुस्मृति में लिखा है--

> एकदेशं तु वेदांगान्यपि वा पुनः।
> योऽध्यापमति वृत्यर्थम् उपाध्यायः स उच्यते ॥[2]

इसका तात्पर्य हे कि जो जीविका के लिए वेद के किसी एक भाग या अंश को या फिर वेदांग ,शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, निरुक्त और ज्योतिष पढ़ाता है, वह उपाध्याय कहलाता है।

१– ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका, पठनपाठन विषयः।
२– मनुस्मृति २.१४१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

९. आचार्य का लक्षण : आचार्य शब्द की व्याख्या करते हुए यास्क ने लिखा है—

आचार्यः कस्मात् ? आचारं ग्राहयति, आचिनोत्यर्थान्, आचिनोति बुद्धिमिति वा ।[1]

अर्थात् जो सदाचार की शिक्षा देता है, जो शब्द अर्थ के सम्बन्ध को बताकर पदों के अर्थों का बोध कराता है और जो शिष्य की बुद्धि का विकास कराकर ज्ञानार्जन कराता है वह आचार्य कहलाता हैं। स्वामी जी ने आचार्य की परिभाषा अपने कई ग्रन्थों में की है। उनके अनुसार जो श्रेष्ठ आचार को ग्रहण कराके सब विद्याओं को पढ़ा देवे, उसको आचार्य कहते हैं।[2] वह मानते हैं कि "जो सांगोपांग वेद विद्याओं का अध्यापक, सत्याचार का ग्रहण और मिथ्याचार का त्याग करावे वह 'आचार्य' कहाता है।"[3] आगे वह लिखते हैं "जो विद्यार्थियों को अत्यन्त प्रेम से धर्मयुक्त व्यवहार की शिक्षा पूर्वक विद्या देने के लिए तन, मन और धन से प्रयत्न करे उसको आचार्य कहते।[4] ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका में कहा है "आचार्य उसको कहते है कि जो असत्याचार को छुड़ाके सत्याचार का और अनर्थों को छुड़ा के अर्थो का ग्रहण कराके ज्ञान को बढ़ा देता है।"[5] वह लिखते हैं कि आचार्य उसको कहते हैं कि जो सांगोपांग वेदों के शब्द अर्थ सम्बन्धों और क्रिया ज्ञान के द्वारा, छल कपट रहित अतिप्रेम से सबको विद्या का दाता, परोपकारी तन, मन और धन से सबको सुख बढ़ाने में तत्पर, महाशय, पक्षपात किसी का न करे और सत्योपदेशक सबका हितैषी, धर्मात्मा, जितेन्द्रिय होवे।[6] मनु जी ने आचार्य का निम्नलिखित लक्षण किया है—

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः ।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥[7]

१— निरुक्त १–३
२— आर्योद्देश्यरत्नमाला
३— स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश
४— व्यवहारभानु
५— ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका, वर्णाश्रमविषय
६— आर्योद्देश्यरत्नमाला
७— मनुस्मृति २.१४०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थात् जो यज्ञोपवीत कराके कल्प सूत्र और वेदान्त सहित शिष्य को वेद पढावें उसको आचार्य कहते हैं। ऐसे आचार्य को वह पिता से भी बड़ा मानते हैं, इसलिये लिखते हैं—

य आवृणोत्य वितथं ब्रह्मणा श्रवणावुभौ।
स माता स पिता ज्ञेयस्तेन न द्रुह्येत्कदाचन ॥[1]

अर्थात् गुरू या आचार्य वेदज्ञान के द्वारा दोनों कानों को भलीभाँति परिपूर्ण करता है, उसे माता–पिता समझना चाहिये और उससे कभी द्रोह भी न करें।

१०. गुरू कैसे हों : हमारे देश में आदि काल से ही गुरुशिष्य परम्परा चली आ रही है। जो सन्तान को शिक्षा देने के साथ-साथ माता–पिता की तरह ममता तथा प्यार देने में समर्थ हों, जिस प्रेमपूर्ण व्यवहार के कारण बालक को अकेलापन अनुभव न हो, इस प्रकार अपने उत्तरदायित्व को पूर्ण निष्ठा एवं आस्था पूर्वक निर्वाह करने वाले व्यक्ति को 'गुरु' कहा जाता है। ऐसा गुरु बालक का केवल बौद्धिक विकास ही नहीं करता अपितु अपने व्यवहार तथा आचरण के द्वारा अपने शिष्य को सदाचारी तथा योग्यतम नागरिक बनाते हुए उसकी शारीरिक तथा आत्मिक शक्ति का भी विकास करता है।

वैदिक साहित्य में शिष्य को 'अन्तेवासी' शब्द से अभिहित किया गया है। विद्या की प्राप्ति के लिए अन्तेवासी के लिये गुरु के सान्निध्य में रहकर विद्याभ्यास करना अत्यावश्यक है। गुरु तथा शिष्य के इस अति निकट सम्बन्ध के रहस्य के विषय में वेद का निम्नलिखित मन्त्र समुचित प्रकाश डालता है—

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिस्रः उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभि संयन्ति देवाः ॥[2]

इसका भाव यह हैं कि आचार्य अपने शिष्य का उपनयन संस्कार करके उसे (शिष्य को) तीन रात्रि तक अपने उदर में धारण करता है। अर्थात् जैसे जन्म देने

१— मनुस्मृति २.१४४
२— अथर्ववेद, काण्ड–११, सूत्र–५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाली माता अपने गर्भस्थ शिशु की रक्षा के लिए प्रतिपल सजग रहती है तथा इस गर्भस्थ बालक को सम्भालने के सम्बध में किंचित् भी असावधानी नहीं करती है, उसी प्रकार शिष्य का संरक्षण भी प्रतिक्षण करना परम आवश्यक है, जब तक कि उसका सम्पूर्ण अज्ञान दूर न हो जाये। यहां तीन रात्रि शब्द से अभिप्राय मनुष्य के तीन प्रकार के अज्ञान से है। अर्थात् प्रथम बौद्धिक अज्ञान, द्वितीय आध्यात्मिक अज्ञान तथा तृतीय आधिभौतिक अज्ञान-ये ही तीन रात्रियां हैं। इसे और अधिक स्पष्ट कहें तो यों कह सकते है कि जब तक उक्त तीनों प्रकार के तत्वों का सम्यक् ज्ञान होकर अज्ञानता दूर न हो तब इन तीनों का अज्ञान मनुष्य को रहता है। अतएव हर समय गुरु और शिष्य का निकट सम्बन्ध होना अत्यावश्यक है। जैसे माता को गर्भस्थ बच्चे का पल-पल ध्यान रखते हुये कार्य करना होता है वैसे ही गुरु को भी अपने प्रिय शिष्य का २४ घण्टे बराबर ध्यान रख कर विकास करना होता है। स्वामी दयानन्द ने शिष्य की परिभाषा करते हुये लिखा है "शिष्य उसको कहते है जो सत्य शिक्षा और विद्या को ग्रहण करने योग्य, धर्मात्मा, विद्या ग्रहण की इच्छा और आचार्य का प्रिय करने वाला है।"[1]

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि जिस प्रकार से गुरु अपने शिष्य का सर्वविध कल्याण हेतु चिन्तन एवं कार्य करे उसी प्रकार शिष्य को भी गुरु के प्रति निष्ठा पूर्वक प्रिय आचरण करना आवश्यक है। स्पष्ट है कि गुरु न केवल बौद्धिक पुस्तकीय ज्ञान ही करवाता है, वरन् शिष्य का सर्वांगीण विकास करवा कर ज्ञान विज्ञान के साथ-साथ सच्चरित्र बनने की शिक्षा भी देता है। इस प्रकार योग्य, सुशिक्षित, चरित्रवान् नागरिकों का निर्माण होकर राष्ट्र का निर्माण होता है। अत एव गुरु और शिष्य का सान्निध्य होना तथा इसके लिए ग्राम अथवा नगर स्वच्छ एवं शुद्ध वातावरण से युक्त आश्रम में ही रहना आवश्यक है। इस शान्तिमय तथा प्रदूषण रहित वातावरण के सम्बन्ध में वेद का निम्नलिखित मन्त्र है—

"उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनाम्। धिया विप्रो अजायत ॥"[2]

१— स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश
२— ऋग्वेद ८/६/२८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थात् पर्वतों की उपत्यकाओं में नदियों के किनारे शान्त तथा दूषण रहित स्थान में विद्यालयों की स्थापना होनी चाहिये क्योंकि ऐसे एकान्त स्थान में ही बुद्धि का समुचित विकास होता है ।

११. अनिवार्य शिक्षा : इस बात को सभी बुद्धिमान् लोग स्वीकार करते हैं कि शिक्षा से स्त्री और पुरुष दोनों का कल्याण होता है । इसलिए लड़के और लड़की दोनों के लिये शिक्षा अनिवार्य होनी चाहिए । दोनों के सर्वांगीण विकास से ही सारे समाज का तथा विश्व का कल्याण हो सकता है । पुरातन काल में बालक तथा बालिकाओं की शिक्षा पर समान रूप से ध्यान दिया जाता था, परन्तु कालान्तर में यह व्यवस्था गड़बड़ा गयी । भारतीय समाज के पतन का यह मुख्य कारण था । स्वामी जी का सबके लिये अनिवार्य शिक्षा के सम्बन्ध में यह कथन विचारणीय है ' राजनियम और जातिनियम होना चाहिये कि पांचवे वा आठवे वर्ष से आगे कोई अपने लड़के वा लड़कियों को घर में न रख सके । पाठशाला में अवश्य भेज देवे, जो न भेजे वह दण्डनीय हो ।"[1] शिक्षा को सबके लिये अनिवार्य करने के सम्बन्ध में आगे लिखते हैं "राजा को योग्य है कि सब कन्या और लड़कों को उक्त समय तक ब्रह्मचर्य में रख के विद्वान् कराना, जो कोई इस आज्ञा को न माने तो उसके माता–पिता को दण्ड देना, अर्थात् राजा की आज्ञा से आठ वर्ष के पश्चात् लड़का वा लड़की किसी के घर में न रहने पावें, किन्तु आचार्य कुल में रहें जब तक समावर्तन का समय न आवे तब तक विवाह न होने पावे ।[2]

१२. गुरु और शिष्य सम्बन्ध : गुरु और शिष्य के आदर्श सम्बन्धों का वर्णन रामायण, महाभारत और उपनिषद् आदि ग्रन्थों में मिलता है । महर्षि विश्वामित्र एवं राम का धौम्य ऋषि तथा आरुणि का, सन्दीपनि और कृष्ण का, यम और नचिकेता का द्रोणाचार्य तथा अर्जुन का बलराम और भीम का आदर्श सम्बन्ध था। विरजानन्द और दयानन्द का सम्बन्ध भी ऐसे ही आदर्श गुरु शिष्यों की नामावली में सुशोभित है । इनके लिए गुरू की आज्ञा प्रत्येक स्थिति में शिरोधार्य थी । ये सब

१— सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समुल्लास
२— वही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक दूसरे के लिये समर्पित होकर विद्या का आदान प्रदान करते थे, इसीलिये विद्या भी चरितार्थ और फलितार्थ होती थी। गुरु और शिष्य के पवित्र सम्बन्ध के विषय में कहा जा चुका है कि दोनों का अति निकट रहना अत्यावश्यक है। गुरु के द्वारा यज्ञोपवीत अथवा वेदारम्भ संस्कार करने से लेकर समावर्तन संस्कार अर्थात् स्नातक बनने तक छात्र के लिए गुरु आश्रम में ही रहना अनिवार्य है। यह निरन्तर आश्रम में रहने की व्यवस्था छात्र की निरन्तर अहर्निश होने वाली प्रगति की सूचक है। यदि एक बार प्रगति रुक गई तो जैसे पहाड़ की ऊँचाई पर चढ़ती हुई गाड़ी एक बार रुक जाने पर पुनः ऊपर की ओर चढाने के लिए बहुत अधिक जोर लगता है, वैसे ही कोई व्यवधान आने पर अथवा पाठ के छूट जाने पर पुनः प्रारम्भ करने में बडी कठिनाई आती है। यही कारण है कि विद्या अध्ययन को तप कहा गया है— "विद्याऽध्ययनं तपः।"[1] इस तपस्या में किसी प्रकार की गड़बड़ी न हो, वह टूट न जाये, इसके लिये बड़ा ध्यान रखना पड़ता है और तदनुकूल ही वातावरण बनना आवश्यक है। आदर्श गुरु-शिष्य परम्परा की मुख्य बाते इस प्रकार हैं—

(क) जब तक पूर्ण विद्या न हो, अर्थात् शिष्य अपने विषय का पूर्ण विद्वान् न बन जावे तब तक अवकाश पर न जावे, आश्रम में ही रहे। उसके व्यय आदि का सारा प्रबन्ध वहीं पर कर दिया जाये जहां पर वह पढ़ता हो। भ्रमणार्थ बाहर जाने को आवश्यकता पड़ने पर भी गुरु के निरीक्षण में ही बाहर जावे अन्यथा नहीं।

(ख) छात्र को अपने गुरु के विपरीत व्यवहार भूल कर भी नहीं करना चाहिये। यदि छात्र गुरु क प्रतिकूल व्यवहार करेगा तो दोनों का सम्बन्ध खराब हो जायेगा। जब शिष्य का कार्य गुरु की आज्ञा के विरुद्ध होगा तो गुरु के मन में भी शिष्य के कल्याण की पवित्र कामना न रहेगी।

(ग) छात्र के पालन पोषण, निर्माण तथा सर्वांगीण विकास का उत्तरदायित्व गुरु का ही होना चाहिए।

१— तैत्तिरीय उपनिषत्

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(घ) गुरु के सुख में सुखी और दुःख में दुःखी, गुरु की उन्नति तथा यश में छात्र की उन्नति और उसका यश निहित है। गुरु और शिष्य का यह सम्बन्ध कुछ अंशो में माता पिता से भी अधिक हो जाता है।

(ङ) जैसे जन्म से पिता का गोत्र चलता है, वैसे ही विद्या से गुरु का गोत्र चलता है।

(च) बहुत-सा ज्ञान का भाग ऐसा होता है जो पुस्तकों से प्राप्त नहीं होता, अपितु गुरु के अनुभव से और उसके निजी अभ्यास से होता है। गुरु-शिष्य परम्परा के अभाव में ज्ञान-विज्ञान की बहुत सी उच्चकोटि की बातें लुप्त हो गई। अनेक लोग जो अपनी कला में पारगत थे, परन्तु आगे उन्होंने किसी शिष्य को वह कला या विद्या नहीं सिखायी, इस कारण वह उनकी मृत्यु के साथ ही समाप्त हो गयी।

(घ) सच्चे गुरु का शिष्य होना गौरव की बात मानी जाती रही है। उस गुरु के आशीर्वाद की अभिलाषा प्रत्येक के मन में रहती है।

(ज) जहां गुरु और शिष्य का प्रगाढ सम्बन्ध होता है, वहां साथ ही गुरु भाइयों का प्रेम भी अपने आप में महत्वपूर्ण बात है। उनमें ईर्ष्या द्वेष न होकर आगे बढ़ने की स्पर्धा होती है।

(झ) गुरु और शिष्य की आत्मीयता के कारण ही तो गुरु का कुल "गुरुकुल" कहा कहा जाता है। जहां परस्पर आत्मीयता नहीं वहां गुरुकुल या गुरु का "आश्रम" कैसा ?

(ञ) शिष्य के लिये गुरु की आज्ञा पालन अनिवार्य होता है। इसी प्रकार गुरु को भी अपने शिष्य पर पूरा विश्वास होता है कि वह आदेश को अवश्य मानेगा।

(ट) गुरु के प्रति शिष्य के मन में अत्यधिक श्रद्धा होनी चाहिये, क्योंकि "श्रद्धया विन्दते वसु।"[1] अर्थात् श्रद्धा से ही ज्ञान की प्राप्ति होती है।

१— ऋग्वेद १०/१५१/४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१३. तपस्वी जीवन : यह सत्य है कि विद्या पढ़ने के लिए बहुत कष्ट उठाना पड़ता है। अपने आपको नियमों में बांधकर मर्यादाओं का पालन करना पडता है। इसलिए उपनिषद् में कहा है "विद्याऽध्ययनं तपः।" अर्थात् विद्या पढ़ना एक तप है। गुरुकुल के जीवन में तपस्वी होना छात्र का आभूषण माना जाता है। सादे वस्त्र धारण करना, शुद्ध खान-पान करना, किसी भी प्रकार का नशा सेवन न करना, तमोगुणी तथा रजोगुणी वस्तुओं का सेवन न करके केवल सात्विक पदार्थों का सेवन करना। भड़कीले पदार्थों तथा चमक-दमक वाले वस्त्रों को न पहनना, चमडे के मुलायम जूते न पहनना, छाता धारण न करना, गर्मी-सर्दी को सहन करने का अभ्यास डालना, सदाचार के नियमों का पालन करना तथा यम और नियमों को अपने जीवन में ढालना—यह एक प्रकार का तप हैं। क्योंकि जितेन्द्रिय बनकर शिक्षा ग्रहण करना ही तपस्या है। जो छात्र तपस्या से घबराकर पलायन करना चाहता है, वह विद्या पढ़ने के योग्य नहीं है। इसलिए यह श्लोक प्रसिद्ध है—

सुखार्थिनः कुतो विद्या कुतः विद्यार्थिनः सुखम्।
सुखार्थी वा त्यजेद् विद्यां विद्यार्थी वा त्यजेत् सुखम्॥[1]

तात्पर्य यह है कि जो सुख चाहता है अथवा सुख से रहता है, उसे विद्या की प्राप्ति नही हो सकती। यदि सुखार्थी को विद्या मिलती तो इस संसार के सब धनवान् व्यक्ति विद्वान् बन जाते तथा गरीब तो पढ़ ही नहीं पाते। तपस्या क्या है ? इस बात को बहुत से लोग नहीं समझते। एक पैर पर खड़ा रहना, धूप में खड़ा होना, पानी में खड़ा होना, आंखे फाड़े देखते रहना, अग्नि तपा कर बैठना तथा आवश्यकतानुसार भोजन न करना या वस्त्र धारण न करना इत्यादि पाखण्ड को शास्त्रकारों ने तप नहीं माना है। योग दर्शन में तप की परिभाषा है "द्वन्द्व सहनं तपः।[2] अर्थात् अपने कर्त्तव्य का पालन करते हुये सुख—दुःख, लाभ हानि, मान अपमान, सर्दी-गर्मी, उत्थान पतन आदि द्वन्द्वों को सहन करना ही तप है। जीवन के निर्माण के लिए साधना करना तथा लौकिक विषयों में लिप्त न होना ही छात्र का तप है। मनु ने तपस्या का

१— महाभारत
२— योगदर्शनम्

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लाभ बताते हुये लिखा है— "तपसा किल्विषं हन्ति।[1] इसी क्रम में आगे लिखते हैं— "विद्या तपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्धयति।"[2] अर्थात् तपस्या से जीवात्मा के दुर्व्यसनों का नाश होकर शुद्धि होती है।

तपस्या का दूसरा लाभ यह है कि तपस्वी व्यक्ति आत्मनिर्भर होता है। वह अपने जीवन में कठिन परिस्थितियों में भी घबराता नहीं और दृढ़ता के साथ उनका मुकाबला करता है। ऐसा व्यक्ति साहसी, निर्भीक तथा प्रत्येक क्षत्र में उन्नति करने वाला होता है। चाहे वह क्षेत्र कला, विज्ञान, अध्यात्म अथवा राजनीति का हो या कोई और हो।

१४. ब्रह्मचर्य का पालना : ब्रह्म–अर्थात् वेद ज्ञान अथवा ईश्वर को जानने का व्रत लेना ही ब्रह्मचर्य है। इसी को हम सदाचार का पालन कहते हैं। मानव जीवन को बनाने वाला प्रथम आश्रम भी ब्रह्मचर्य कहलाता है। यह मानव जीवन की नींव होती है। यह ब्रह्मचर्य रूपी नींव जितनी दृढ़ एवं विकसित होगी, उतना ही मानव जीवन रूपी भवन दृढ़ व स्वस्थ रह सकेगा। ब्रह्म नाम वीर्य का भी है, उसकी रक्षा करना भी ब्रह्मचर्य है। वीर्य शरीर का राजा है, उसकी रक्षा करने से शारीरिक तथा बौद्धिक विकास होकर विद्या ग्रहण करने का सामर्थ्य बढ़ता है। इसलिए ब्रह्चर्य अवस्था में इसके विनाशक व विरोधी अवगुणों का त्याग करना परमावश्यक है।

आर्ष शिक्षा पद्धति के अनुसार चलने वाले आश्रमों में ब्रह्मचर्य का पालन करना प्रत्येक विद्यार्थी के लिये आवश्यक होता है। कारण यह है कि छात्र, छात्राओं के जीवन का निर्माण और उसका आधार ब्रह्मचर्य के पालन पर निर्भर होता है। ब्रह्मचर्य का पालन करना है, अतः सब प्रकार के व्यसनों से बचना भी अत्यावश्यक है। छात्र को अपनी विचार धारा पवित्र रखनी है, क्योंकि दूषित विचार ब्रह्मचर्य के सबसे बड़े शत्रु हैं।

— ब्रह्मचर्य के पालन के लिये योगाभ्यास भी आवश्यक है। योग का अभ्यास व्रत–

१— मनुस्मृति– १२/१०४
२— वही, ५/१०९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पालन में सहायक होता है। आश्रम में रहने वाले छात्र–छात्राओं के लिये जब तक वे पढ़ें और पढ़ लिख कर स्नातक बनें, तब तक विवाह करना मना होता है। ब्रह्मचर्य के पालन का यह लाभ है कि इससे शरीर हृष्ट–पुष्ट होता है तथा शरीर के सब धातुओं को यथेष्ट विकास होता है। आश्रम में रहने वाले छात्र को ब्रह्मचारी तथा छात्रा को ब्रह्मचारिणी कहा जाता है — सब सम्बोधन श्रेष्ठ है। मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र, यतिवर लक्ष्मण तथा योगिराज कृष्ण जैसे महान् पुरुष ब्रह्मचर्य का पालन करके ही संयमी और इतने महान् बने थे। ब्रह्मचर्य का पालन करके हनुमान् और भीष्म पितामह जैसे बलिष्ठ तथा बुद्धिमान् बने। ब्रह्मचर्य का पालन करके स्वामी दयानन्द अद्वितीय तार्किक बुद्धिमान्, बलवान् योगी तथा समाज सुधारक बने थे। ब्रह्मचारी अपना, समाज का, राष्ट्र का और विश्व का कल्याण कर सकता है। अथर्ववेद में ब्रह्मचर्य की महिमा का वर्णन करते हुये लिखा है 'ब्रह्मचर्येण तपसा देवामृत्युमपाघ्नत."[1] अर्थात् ब्रह्मचर्य के तप से देवताओं ने मृत्यु पर भी विजय प्राप्त की। पांचवे समुल्लास में स्वामी जी ने ब्रह्मचर्य की अमोघ शक्ति का वर्णन करते हुये लिखा है-- "जो विद्या और धर्म की उन्नति करना चाहे वह विवाह न करे। क्योंकि जो ब्रह्मचर्य से ही संन्यासी होकर जगत् को सत्य शिक्षा करके जितनी उन्नति कर सकता है, उतनी गृहस्थ वा वानप्रस्थ करके संन्यासाश्रमी नहीं कर सकता।[2] आगे स्वामी जी कहते हैं कि ' जो पूर्ण विद्वान् जिसे कि विषयभोग की कामना से रहित परोपकार करने की इच्छा से युक्त पुरुष हो वह ब्रह्मचर्य से सन्यास लेवें।'[3]

जिस प्रकार साईकिल या मोटर गाड़ी के पहिये की हवा निकल जाने पर सवारी नहीं की जा सकती, जिस घड़े के नीचे छिद्र हो वह खाली हो जाता है, जिस लकड़ी के घुन लग जाये वह स्वयं समाप्त हो जाती है उसी प्रकार वीर्य हीन की गति होती है। ब्रह्मचर्य रक्षा के लिये कहा है।

''आहारस्य परं धाम शुक्रं तद्रक्ष्यमात्मनः।
क्षयोह्यस्य बहून् रोगान् मरणं वा नियाच्छति ॥"[4]

१— अथर्ववेद– ११/५/१९
२— सत्यार्थप्रकाश, पञ्चम समुल्लास
३— वही
४—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थात् भोजन का सार वीर्य है, उसकी रक्षा करनी चाहिये, क्योंकि उसके क्षय हो जाने से अनेक रोग या मृत्यु हो जाती है। स्वामी जी ने लिखा है "जिसके शरीर में सुरक्षित वीर्य रहता है, तब उसको आरोग्य बुद्धि, बल पराक्रम बढ़के बहुत सुख की प्राप्ति होती है। विद्याध्ययन और ब्रह्मचर्य पालन इनका घनिष्ठ सम्बन्ध है। ब्रह्मचर्य पालन किये बिना विद्या की प्राप्ति नहीं हो सकती और पूर्ण विद्या के बिना उत्तम ब्रह्मचर्य का पालन सम्भव नहीं। इसलिये "विद्यार्थी ब्रह्मचारी स्यात्" विद्या के लिये ब्रह्मचर्य का पालन आवश्यक है।[1]

१५– सहशिक्षा का निषेध तथा स्त्री शिक्षा:— आर्ष शिक्षण प्रणाली में लड़के तथा लड़कियों की शिक्षा का अलग-अलग प्रबन्ध किया जाता था। लड़के और लड़कियों को साथ पढ़ने की आज्ञा किसी भी अवस्था में नहीं दी जाती थी। इनके आश्रम भी एक दूसरे से अलग तथा दूर होते थे। ब्रह्मचर्य के पालन के लिये तथा चरित्र की रक्षा के लिये यह बहुत आवश्यक है। सहशिक्षा के प्रचलन से चरित्र का पतन हो गया तथा सारी व्यवस्थायें गड़बड़ हो गयी। न केवल आर्थिक दृष्टि से समर्थ माता-पिता की पुत्री की शिक्षा का प्रबन्ध हो बल्कि अनाथ पुत्री की शिक्षा का भी यथावत् प्रबन्ध होना चाहिये। स्वामी जी ने लिखा है, "राजा को योग्य है कि सब कन्याओं और लड़कों को उक्त समय (स्नातक बनने) तक ब्रह्मचर्य पूर्वक शिक्षा देना अर्थात् राजा की आज्ञा से आठ वर्ष पश्चात् लड़का वा लड़की किसी के घर में न रहने पावे, किन्तु आचार्य कुल में रहें।"[2] स्वामी जी आगे लिखते हैं" सब स्त्री पुरुष अर्थात् मनुष्य मात्र को पढ़ने का अधिकार है।"[3] लड़के लड़कियों की अलग शिक्षा व्यवस्था के सम्बन्ध में स्वामी जी ने स्पष्ट लिखा हैं "पांचवे व आठवें वर्ष से लड़के लड़कों की पाठशाला में और लड़कियां लड़कियों की पाठशाला में जावें और निम्न नियम पूर्वक अध्ययन को आरम्भ करें।"[4]

१— सत्यार्थ प्रकाश, तृतीय समुल्लास
२— वही
३— वही
४— वही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वौदिक साहित्य के अध्ययन से पता चलता है कि प्राचीन काल में स्त्रियों का विधिवत् उपनयन संस्कार पूर्वक वेदाध्ययन होता था। ऐतरेय ब्राह्मण में एक कुमारी गन्धर्व गृहीता नामक विदुषी का उल्लेख उस स्थल पर मिलता है जहां विचार किया गया है कि अग्निहोत्र सूर्योदय से पूर्व और सूर्यास्त के बाद हो अथवा सूर्योदय के पश्चात् एवं सूर्यास्त के पूर्व हो। कुमारी गन्धर्व गृहीता के लिये ऐतरेय ब्राह्मण के टीकाकार ने लिखा है—

"कुमारी नाम विदुषी सर्वलोक गतिक्षमा।
दिवि दृष्ट्वोदिते सूर्ये जुहवतां वै महत् फलम् ॥"[1]

पतञ्जलि मुनिकृत महाभाष्य में "काशकृत्स्निना प्रोक्ता मीमांसा काशकृत्स्नी। काशकृत्स्नीमधीते काशकृत्स्ना ब्राह्मणी।"[2] ऐसा प्रयोग आता है जिससे पता चलता है कि नारियां मीमांसा आदि दर्शन शास्त्रों का अध्ययन करती थी। यहां पर भी उल्लेखनीय है कि कन्याओं के अध्ययन की व्यवस्था आचार्या एवं उपाध्याया के द्वारा बालकों से पृथक् आश्रमों में हुआ करती थी, तभी वे सुपण्डिता बना करती थी। बौद्धों के थेरीगाथा में ऐसी बहुत सी भद्रा, कुण्डलकेशी, सुक्का आदि विदुषियों का उल्लेख हुआ है जिनसे पता चलता है कि नारियों के लिए शिक्षा का अधिकार था।

कालान्तर में कन्याओं की शिक्षा बन्द हो गयी और "स्त्रीशूद्रौ नाधीयताम्"[2] जैसे मनमाने कपोलकल्पित वाक्य प्रचलित हो गये। स्वामी जी ने कन्याओं की शिक्षा पर बल दिया। उन्होंने सत्यार्थ प्रकाश में लिखा है— जैसे पुरुषों को व्याकरण, धर्म और अपने व्यवहार की विद्या न्यून से न्यून अवश्य पढ़नी चाहिये, वैसे स्त्रियों को भी व्याकरण, धर्म, वैद्यक, गणित, शिल्पविद्या तो अवश्य ही सीखनी चाहिये। क्योंकि इनके सीखे बिना सत्यासत्य का निर्णय, पति आदि से अनुकूल वर्तमान, यथायोग्य सन्तानोत्पत्ति, उसका पालन, वर्द्धन और सुशिक्षा करना, घर के सब कार्यों को जैसा चाहिये वैसा करना कराना, वैद्यक विद्या से औषधवत् अन्न पान बनाना और बनवाना नहीं कर सकती, जिससे घर में रोग कभी न आवे और सब लोग सदा आनन्दित रहें।

१— महाभाष्यम् ४-१-१४
२— शंकराचार्य वचन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शिल्पविद्या के जाने बिना घर का बनवाना, वस्त्र आभूषण आदि का बनाना बनवाना, गणित विद्या के बिना सबका हिसाब समझना समझाना, वेदादि शास्त्र के बिना ईश्वर और धर्म को न जानके अधर्म से कभी नहीं बच सकते।"[1] कन्याओं की शिक्षा का समर्थन करते हुये स्वामी जी आगे लिखते हैं। "जैसे लड़के ब्रह्चर्य सेवन से पूर्ण विद्या और सुशिक्षा को प्राप्त होके युवति विदुषी अपने अनुकूल प्रिय सदृश स्त्रियों के साथ विवाह करते है। वैसे ही कन्या कुमारी ब्रह्मचर्य सेवन से वेदादि शास्त्रों को पढ़ पूर्ण विद्या और उत्तम शिक्षा को प्राप्त युवती होके पूर्ण युवावस्था में अपने सदृश प्रिय विद्वान् पूर्ण युवावस्था युक्त पुरुष को प्राप्त होवे। इसलिए स्त्रियों को भी ब्रह्मचर्य और विद्या का ग्रहण अवश्य करना चाहिये।"[2] शिक्षा में किसी भी प्रकार का भेद-भाव नहीं होना चाहिये तथा राजा का कर्त्तव्य है कि वह लड़के और लड़कियों की शिक्षा का अलग-अलग ठीक प्रबन्ध करें।

१— सत्यार्थप्रकाश, ३ य समुल्लास

२— वही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामन्तवाद और हिन्दी साहित्य

डा० भगवान देव पांडेय
हिन्दी विभाग, गु०कां० वि०वि० हरिद्वार

साहित्य जीवन से जुड़ा होता है, इसलिए किसी युग के साहित्य में तत्कालीन घुटन, सन्त्रास और पीड़ा विद्यमान होती है। 'बदलते देश और काल में मनुष्य को परिभाषित करते चलना साहित्य की जिम्मेदारी है, या एक अर्थ में ऐसा करने के लिए साहित्य अपनी प्रकृति से मजबूर हैं।[1] असामंजस्य परिस्थितिओं के कारण आज का मानव जीवन असहज होता जा रहा है जिससे अनेक प्रकार की कुंठाएं जन्म ले रही हैं और साहित्य के ओट में अपने विकृत व्यक्तित्व को रूपायित किया जा रहा है। पाठक की मानसिकता भी इसी धरातल पर पहुंच चुकी है जिससे वह इस प्रकार की रचनाओं को साहित्य मान लेने के लिए वाध्य है।

सामन्तवाद शब्द मध्यकालीन सामन्तों से जुड़ी व्यवस्था, प्रथा एवं सांस्कृतिक ह्रास का अभिवोधक है। इस शब्द का प्रयोग ऐतिहासिक विकास की विविध दशाओं के संदर्भ में किया जाता है। हर राष्ट्र का सामन्तवाद भिन्न—भिन्न परिस्थितियों तथा देशकाल की देन है और परिस्थिति एवं देशकाल की भिन्नता के कारण इसने विभिन्न रूप ग्रहण किए हैं।

स्ट्रेयर तथा कालबोर्न के अनुसार— 'सामन्तवाद अर्थिक और सामाजिक पद्धति न होकर, सरकार का वह स्वरूप है, जिसमें आवश्यक सम्बन्ध न तो शासक और प्रजा के मध्य होते हैं, न राज्य और नागरिकों के मध्य वरन् स्वामी और उसके अधीनस्थ के मध्य होते हैं।[2]

बिलड्यूरेन्ट का कथन है – सामन्तवाद एक व्यक्ति का अपने स्वामी के प्रति आर्थिक संगठन और वैयक्तिक सुरक्षा के बदले आर्थिक सुरक्षा तथा सैनिक कर्त्तव्यों का पालन था— (Feudalism was the economic subjection military alligiance of a man to a superiar in return for

१— लघु मानव के बहाने हिन्दी कविता पर एक बहस-नयी कविता-विजयदेव नारायण साही

२— The Idea of feudalism Gournal of the Rajsthan Institute of Historical Research, October December 1970, Page-10-11

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

economic arganization and military protection)[1]

वेब्सटर महोदय ने अपने कोश में लिखा है कि—यह ऐसी राजनीतिक व्यवस्था थी जो राजा और सामन्त की भूमि से सम्बन्धित पारस्परिक सम्बन्धों पर आधारित थी तथा जिसमें भूमि प्राप्तकर्त्ता द्वारा सेवा और आदरभावना, स्वामित्व, सहायता विवाह आदि की घटनाएं प्रमुख थी— The system polity, which prevailed in Europe in middle ages based upon the relations of Lord to vassal, with the holding of land in feud. The principal incidents of the feudal system were homage, service of the tenants, wordships, marriage, reliefs, aids, escheat and for feiture.[2]

डेविस महोदय का कहना है – सामन्तवाद विशिष्ट परिस्थितियों के परिणाम धीरे – धीरे स्थापित हुआ। यह किसी राजनीतिक नियम अथवा किसी व्यक्ति की कल्पना का परिणाम नहीं है बल्कि यह एक पारस्परिक उत्पादन है — (The feudal system was of very gradual growth, it did not one its arigin to any royal decree or to the genious or imagination of any one men or body of one man, it was a mutual product of the time during which it flourished.[3]

समय के साथ–साथ सामाजिक मान्यताएं भी परिवर्तित होती रहती है। मध्यकोलीन उथल–पुथल से डगमगाते समाज ने जो व्यवस्था अंगीकार की वह सामन्त वाद के नाम से अभिहित की गई। मध्यकाल में इसका विस्तार यूरोप तक था। उसका केन्द्र कैरोलिगियन साम्राज्य में था। वहां से 'होली रोमन इंपायर' के द्वारा

1— The story of civilization, Part IV, Page–553
2— New collegiate Dictionary (Landon), Page–307
3— An out time History of the world-H A. Davis 300–301

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूर्वी जर्मनी तथा डेनमार्क पहुंचा। दक्षिणी फ्रान्स के प्रभाव से उसका प्रसार स्पेन में भी हुआ और नारमन विजय के पश्चात् इटली और इंग्लैंड भी इससे प्रभावित हुए। यूरोप में आठवीं से बारहवीं शताब्दी तक के काल को इतिहास में सामन्त युग के नाम से जाना जाता है।

भारत में सामन्तवाद के चिन्ह तीसरी शताब्दी से प्रकट होने लगे थे तथा मध्यकाल तक आते-आते वह पूर्णरूप से प्रतिष्ठित हो गया। ग्यारहवीं से लेकर बारहवीं शताब्दी के अन्त तक यह अपने चरमोत्कर्ष पर पहुंचा हुआ था। इस काल में राज्याधिकारियों के सामन्ती ढांचे में ढलने की प्रवृत्ति अपनी पराकाष्ठा पर पहुच गयी।[1] मौर्य एवं गुप्तकाल के ऐतिहासिक अभिलेख सामन्तवाद की उद्‌भावना के स्रोत हैं। सामन्तवादी प्रवृतियां मौर्यकाल के पश्चात् ही पनपने लगीं थीं। गुप्तकाल में भारत में भूमि सम्पत्ति आधिपत्य के प्रथम तत्त्व अपने आरम्भिक रूप में प्रकट हुए।[2]

इतिहास विद् डा० ईश्वरी प्रसाद ने सामन्तवाद का आगमन राजपूतों के समय से माना है। भारतीय सामन्तवाद का वास्तविक रूप राजपूतों के समय में सामने आया तथा मुसलमानों के आगमन के बाद यह वास्तविकता में परिणत हो गया — (However, the real character of Indian feudalism came into light under the Rajput and after coming of Muslims it crystalized in to a reality.)[3]

सामन्तवाद एक राजनीतिक और प्रशासनिक व्यवस्था थी जिसने मध्ययुग की विशेष परिस्थितियों में जन्म लिया। यूरोप में सामन्तवाद के उदय का कारण राजतन्त्र की विफलता थी। भारतीय सामन्तवाद यूरोपीय सामन्तवाद से अनेक तत्त्वों में समानता रखते हुए भी मौलिक रूप से भिन्न है। भारतीय सामन्तवाद ने धार्मिक अनुदान भोगियों के रूप में प्रश्रय और विकास पाया। भारत में राजनीतिक सत्ता के

१— भारतीय सामन्तवाद — रामशरण शर्मा, पृ० २०१

२— भारतीय चिन्तन परम्परा — भारत में सामन्तवाद, अ० १८, अनु०-बी० श्रीधरन् पृ० २०७

३— History of Quruvah Turks, P.-259

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विकेन्द्रीकरण का कारण वह नहीं था जो यूरोप में था। कुछ सीमाओं तक यूरोपियन सामन्तवाद की कतिपय अपनी विशिष्टताएं थीं जिनमें भूमि अनुदान, कृषकों का हस्तान्तरण, बेगारी–प्रथा, आवासीय प्रतिबन्ध, मुद्रा का अभाव, व्यापार का ह्रास, दण्ड प्रशासन को अनुदान योगियों के हाथ सोंप देना आदि विशेषताएं प्रमुख थीं।

सामन्ती व्यवस्था में जनशोषण के अनेक क्षेत्र थे। अपने प्रभुत्व की स्थापना के लिए पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता ने प्रशासनिक और आर्थिक शोषण को जन्म दिया। किसी भी राजकीय अधिकार के आगमन पर उसके रहन–सहन, खान–पान, भोग-विलास आदि के प्रबन्ध के अतिरिक्त उसके आगे की यात्रा का भी खर्च वहां के निवासियों को उठाना पड़ता था। एक ओर सामन्त गांव के निवासियों को, जब चाहे उनकी भूमि हस्तगत कर, बेदखल कर सकता था, दूसरी ओर उन्हें अपनी इच्छानुसार आवास तथा व्यापार पर प्रतिबन्ध था। इस स्वार्थी प्रकृति के कारण अनिश्चितता की स्थिति में उद्योग और व्यापार की अवनति हुई। प्रशासन और न्याय के अधिकार सामन्तों के पास आ जाने से उनकी शक्ति अपरिमित हो गई और वे स्वेच्छाचारी बनकर इसका उपभोग करने लगे जिसके कारण राजव्यवस्था दोषपूर्ण होती गई और दण्ड प्रशासन की कुरीतियां सामन्ती - शोषण का अंग बन गयी। बेगार प्रथा सामन्ती युग की विशिष्ट देन है। इसके अन्तर्गत कृषकों एवं श्रमिकों से निःशुल्क काम लिया जाता था। अन्य अनेक करों के साथ ही सामन्त अथवा जमींदार को किसानों से बेगार लेने का अधिकार प्राप्त था। राजतंरगिणी में कहा गया है कि बेगारे के रूप में श्रमिक बोझा ढोते थे।[1] बेगार प्रथा का ही दूसरा रूप बंधुआ मजदूरी थी जिसमें थोड़ा सा ऋण देकर व्यक्ति को जीवन – पर्यन्त जमींदारों और ठेकेदारों की बेगार करनी पड़ती थी जिसके कारण कई परिवारों की पीढ़ी दर पीढ़ी जमींदारों या स्थानीय पूंजीपतियों के लिए बहुत ही अल्पऋण के बदले सारी उम्र काम करने पड़ते थे। यह प्रथा छद्म रूपों में आज भी प्रचलित है।

भारतवर्ष में सामन्तवाद का स्वरूप वैदिककाल में था अथवा नहीं, इस पचड़े में न पड़कर इतना कहा जा सकता है कि यह परम्परा रामायण और महायुग में भारत

१— राजतरंगिणीं, खण्ड–१, श्लोक–१७२-४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चली आ रही है। प्राचीन साहित्यकारों ने हर जगह इसका उल्लेख किया है। हम लोगों ने अपनी चिन्तन प्रक्रिया में एक लीक सी डाल ली है — प्रत्येक क्रिया कलापों का स्रोत वेदों में ढूंढ़ने की तथा उदारवादी एवं धर्म निरपेक्ष बनने के लिए हिन्दू धर्म को कोसने एवं गाली देने की। जो व्यक्ति जितना अधिक हिन्दू धर्म को उपेक्षित और और निकृष्ट बता सकता है वह उतना ही बड़ा बुद्धिजीवी कहलाने का दावा कर सकता है। सामन्तवाद का पूरे विश्व - साहित्य में एक सा ही रूप मिलता है। यह चाहे जब से उत्पन्न हुआ हो, इसके शौर्य के प्रहार को पूरा विश्व झेला ही नहीं है बल्कि उससे आज भी तड़प रहा है।

हिन्दी साहित्य में सामन्ती व्यवस्था का चित्रण सर्वत्र मिलता है। आदिकाल उनके भोगी शौर्य–प्रदर्शन की गाथाओं से भरा पड़ा है तो मध्यकाल उससे व्याप्त असन्तोष की व्याकुलता से तड़पता नजर आता है। रीतिकाल में सामन्ती व्यवस्था हावी होकर नारी अंगों के आकर्षण तक परिमित रह जाती है। आधुनिक काल तक आते — आते, युगों — युगों से आ रही सामन्ती व्यवस्था के विरुद्ध होने वाली छटपटाहट मुखरित होने लगती है। यह व्यग्रता इतनी बढ़ जाती है कि किसी एक लीक पर बहुत दिनों तक कोई रचनाकार नहीं चल पाया है। भारतेन्दु युग में क्रान्ति की विफलता की तड़प है और अंग्रेज सामन्तों के प्रति एक वितृष्णा है तो द्विवेदी युग में सामन्ती अनाचार से मुक्ति की छटपटाहट है। छायावादी साहित्य हो या प्रगतिवादी या प्रयोगवादी अथवा नयी कविता या फिर सचेतन कविता या समकालीन कविता का युग सामन्ती त्रासदी की चीत्कार सब में विद्यमान है और सभी ने सामन्ती व्यवस्था के विरुद्ध अपना आक्रोश व्यंजित किया है।

आदिकाल से ही, हिन्दी-साहित्य में, सामन्तवाद का उल्लेख मिलता है। इसलिए इस युग का एक नामकरण — सिद्ध - सामन्त - युग' भी किया गया है। यह युग आरम्भ से ही उथल–पुथल का युग रहा है। आक्रामकों के नृशंस अत्याचारों से एक ओर जनता परेशान थी तो दूसरी ओर यहां के राजा एवं सामन्त यशोलिप्सा तथा सुन्दरियों को बलात् छीनने एवं अपहरण करने के शक्ति - प्रदर्शन में मस्त थे। इस युग के कवि चारण या भाट थे जो अपने–अपने आश्रयदाताओं से पुरस्कार पाने की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लालच में उनका अतिरेक पूर्ण प्रशस्तिगान एवं मिथ्या शौर्यगाथा का गान करते रहते थे। खुमानरासो, बीसलदेव रासो, पृथ्वीराज रासो, जयमयंक जसचंद्रिका, परमाल रासो, कीर्तिलता आदि जितने भी ग्रन्थ मिलते हैं उन सब में आश्रयदाता सामन्तों का अत्युक्ति पूर्ण मिथ्या स्तुतिगान एवं चाटुकारिता विद्यमान है। इन प्रशस्तिगानों में व्यक्ति तो पीछे छूट गया है लेकिन उसके व्यक्तित्व को आकाश में अधिष्ठित कर दिया गया है।

मध्ययुगीन परिस्थितियां विषम एवं विशृंखल थी। भारतीय चेतना सर्वप्रथम महमूद गजनवी के आक्रमण से विकल हुई थी। उसने भारतीय अहं को बुरी तरह से रोंद डाला था। बाद के आक्रान्ताओं ने धीरे-धीरे अपनी लूट को शासक के रूप में स्थापित करना शुरु किया और लूट–खसोट को शासकीय स्वरूप दे दिया। मध्यकाल में भारतीय जनता असहाय, संत्रस्त और कमजोर हो चुकी थी। यह मूलतः धार्मिक मदान्धता और कट्टरता का परिणाम था। मध्ययुगीन सर्जक लोक धर्म के प्रतिपादक थे। इसलिए युग-युग से चली आने वाली बाह्याचारों से आच्छादित, स्वार्थ से अभिशप्त वासनाओं से जकड़ी हुई शोषण की प्रवृत्ति का खुलकर विरोध एवं निन्दा की इस युग के साहित्य का सर्जन जनता के उस स्तर के लिए हुआ था जो युग-युग से शोषित तिरस्कृत, अशिक्षित और दमन चक्र से ग्रस्त थी। इसके रचनाकार लोगों के हृदय में विश्वबन्धुत्व, क्षमाशीलता, दया, करुणा उदारता, सहृदयता आदि सद्गुणों के विकास का वातावरण बनाना चाहते थे।

मध्यकालीन साहित्य क्रान्तिकारी साहित्य है जिसमें सामन्ती जड़ता जातीय विद्वेष और साम्प्रदायिक घृणा के विपरीत मानवता की भावना को उभाड़ा गया है और जो मनुष्यता गिर रही थी, उसे ऊपर उठाया गया है। इस साहित्य को पढ़कर आत्मविश्वास और आत्मसम्मान की भावना पुष्ट होती है—

अबकी दुनिया गुनियां जो भई,
सब बांधत मोट अटब्बर की।
एक को छांडि जो दूजो भजै,
तो जरै रसना वहि लब्बर की।
सरणागत 'श्रीपति' श्रीपति को,
मोहि भास नहीं कोई जब्बर की।
जिनको प्रभु की परितीति नही,
वे करैं नित आस अकब्बर की।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसी लिए उसकाल के साहित्य की वाणी आज भी सुनाई पड़ती है। कबीर, जायसी, सूर, तुलसी आदि सभी ने अपने युग के सामन्तों एवं राजाओं के अपमान एवं तिरस्कार को झेला है। उनकी हताशा—'संतन को कहां सिकरी सो काम' से झलकती है। तुलसी जैसे मर्यादावादी को भी 'धूत कहो, अवधूत कहो, रजपूत कहो, जुलहा कहू कोऊ' जैसी फटकार लगानी पड़ी थी। इस युग के अन्य साहित्यकार भी अपने-अपने ढंग से तत्युगीन सामन्ती व्यवस्था के प्रति आक्रोश व्यक्त करते रहे हैं।

रीतिकाल सामन्ती व्यवस्था की जड़ता का प्रतीक है। इस युग के रचनाकारों ने अपने स्वार्थ पूर्ति के लिए अपने आश्रयदाता सामन्तों की मिथ्या प्रशंसा में अपना साहित्यिक कौशल दिखाने में ही अपनी प्रतिभा लगा डाली है। इस युग के रचनाकार दरबारी थे। अतः उनका साहित्य प्रायः अपने आश्रयदाताओं के अत्युक्ति पूर्ण प्रशस्तिगान में उनसे पारितोषिक पाने की लालसा से सृजित है जिसके कारण इस युग का साहित्य वाणी-विलास का एक साधन बनकर आया है। यद्यपि इसी युग में भूषण भी हुए हैं जो अपने साहित्य को नारी देह के आकर्षण तक सीमित न करके अपना अलग साहित्य सृजित किया है जिसमें युग चेतना जागृत की गई है पर ऐसे साहित्यिकों की संख्या ही कितनी है? वास्तव में यह युग प्रशस्तिगान की प्रधानता से वर्णित तथा पुरस्कार पाने की लालसा से रचित श्रृंगारिक रचनाओं की प्रधानता का युग था।

आधुनिक युग अपनी अलग छाप लेकर आता है। इस युग के साहित्यकार की वाणी निर्भीक एवं उन्मुक्त है। जिसमें न तो अपने आश्रयदाताओं की चापलूसी है और न पुरस्कृत होने की तृष्णा। यह पूर्णतः सामन्त विरोधी युग है क्योंकि इस युग के साहित्यकारों ने देश की स्वतंत्रता को अंग्रेजों के पास गिरवी रखते हुए सामन्तों और जागीरदारों को देखा था और १८५७ के स्वतंत्रता संग्राम में इन श्रीमन्तों को राष्ट्र के साथ गद्दारी एवं विश्वासघात करते पाया था तथा अंग्रेजों के सम्मुख समर्पण करके देश तथा देशवासियों पर अत्याचार करने में अंग्रेजों के सहायक के रूप में इनके विकृत स्वरूप को सहन किया था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साहित्य अतीत की निधि तथा भविष्य की धरोहर होता है। रचनाकार अपने अपने अतीत को साथ लेकर चलता है। उसकी रचना में वर्तमान के साथ भविष्य की चिन्ता सामने होती है। हरिऔध जी ने अपने साहित्य को एक बौद्धिक धरातल देने की चेष्टा की है। उनके नायक कृष्ण समाज सुधारक, लोक सेवी, जाति उद्धारक विश्वप्रेमी एवं निःस्वार्थ नेता के रूप में आए हैं। उन्होंने कालिया नाग के माध्यम से देश में बढ़ते अत्याचारों की और संकेत किया है। कालियानाग सामन्ती अत्याचारों का प्रतीक था—

स्वजाति को देख अतीव दुर्दशा
विगर्हणा देख मनुष्य मात्र की
हितेषणा से निज जन्मभूमि की
अपार आवेश हुआ ब्रजेश को ।[1]

मैथिलीशरण गुप्त की रचनाओं में नयी मानवीय आस्था का प्रतिबिम्ब मिलता है जो नारीमुक्ति, मानवतावाद, स्वतंत्रता, नैतिक आदर्शीकरण की भावभूमि पर संरचित है। इनकी पृष्ठभूमि में आर्थिक शोषण, राजनैतिक परतंत्रता, तथा अंध आस्था से छुटकारा पाने की सांस्कृतिक तड़प है—

धन रूपी फल का परिश्रम ही मूल है,
किन्तु श्रमिकों को फल मिलता है कितना
पूंजीपतियों का नहीं जूठन भी जितना। – पृथ्वी पुत्र

प्रसाद की साहित्यक चेतना मानव केन्द्रित थी। उन्होंने अपने युग की व्यापक सामाजिक चिन्ताओं को अपनी चिन्ता बनाकर प्रस्तुत किया है। उनकी कामायनी का प्रलय सामन्ती शोषण एवं अमर्यादित कर्मों का प्रतिफलन है। सृजन का मूल 'काम' जब मात्र भोग तक सीमित रह जाता है तब वह शोषण का प्रतीक बन जाता है। जिससे सामाजिक कल्याण तों संभव ही नहीं। मनु के सारे गुण सामन्ती हैं। वह किसी भी स्तर तक उतर कर अपनी इच्छाओं की तुष्टि चाहता है और अपनी आत्मजा प्रजा से भी अतिचारी बन जाता है।

१— प्रियप्रवास – अयोध्या सिह उपाध्याय "हरिऔध"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आलिंगन ! फिर भय का क्रन्दन ! वसुधा जैसे कांप उठी।
वह अतिचारी, दुर्बल नारी परित्राण पथ नाप उठी।
अंतरिक्ष में हुआ रुद्र हुङ्कार भयानक हलचल थी,
अरे आत्मजा प्रजा ! पाप की परिभाषा बन शाप उठी। '[1]

निराला की रचना जाति के मुक्त प्रयास का अंग थी। उनकी चिन्ता यह थी कि प्रतिकूल परिस्थितियों में जन जीवन की अन्तरात्मा का अंधकार कौन दूर करेगा। कौन उसे परम्परा की ऐतिहासिक शक्ति से जोड़ेगा और सामाजिक वास्तविकता से परिचित कराएगा तथा कौन लोगों को सामन्ती शोषण से मुक्त कराएगा ? जनजीवन शोषण से आर्थिक अभाव में कंगाल बनता जा रहा है। उदर पूर्ति की चिन्ता में गरीबों का जीवन निरुपाय और विवश बनाकर उत्पीड़ित किया जा रहा है—

भूख से सूख ओंठ जब जाते,
दाता-भाग्य विधांता से क्या पाते ?
घूंट आंसुओं के पीकर रह जाते।
चाट रहे हैं जूठी पत्तल कभी सड़क पर खड़े हुए
और झपट लेने को उनसे कुत्ते भी अड़े हुए।[2] —

'संशय की एक रात' में नरेश मेहता के राम समाज के कल्याण तथा सामूहिक मुक्ति के समक्ष व्यक्तिगत बलिदान के लिए तत्पर हो जाते हैं। वे जानते हैं कि इतिहास के सम्मुख उनके व्यक्तिगत अन्तर्द्वन्द्व, संशय, तर्क आदि का कोई महत्त्व नहीं रहेगा क्योंकि इतिहास बहुमत का प्रतिनिधित्व करता है और बौद्धिक वर्ग आश्रय-दाताओं के प्रशस्तिगान में अपनी आत्मा गिरवी रख चुका है। इसमें उसका कोई दोष नहीं है क्योंकि अभाव उसकी नियति बन चुका है जिसे झेलते-झेलते वह भी अब कमजोर पड़ने लगा है—

१— कामायनी— जयशंकर प्रसाद, स्वप्न- पृ०-१६३
२— अपरा— भिक्षुक कविता, १६२१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राघव !
हर प्रज्ञावान, शंकाशील
इसी यात्रा पर चला है
यदि वह यात्रा है।
क्या करोगे मित्र
यहां सब अनिवार्यता है।[1]

'अंधा युग' में मूल्य हनन की परम्परा को प्रतिहिंसा की शक्ल दी गयी है। यह सामन्ती व्यवस्था के प्रति उभरा आक्रोश है। इसका संघर्ष मन के भीतर घटित होता है। यह गलित सामन्ती संस्कृति के भास का बोधक है। धृतराष्ट्र समूचे सामन्ती युग की ओर संकेत है, जिसे यथार्थ का बोध नहीं होता।

'एक कंठ विषपायी' में शिव यथार्थ के देवता हैं। साधारण जन की आस्थाएं आकांक्षाएं मानसिक दशाएं, सामाजिक स्थितियां ही शिव है। इसीलिए शिव परम्परा भंजक, विद्रोही तथा सामन्ती त्रासदी का गरलपान करते हुए दिखाए गए हैं। सती की मृत्यु शिव के सामर्थ्यवान व्यक्तित्व के आगे चुनौती तथा उनका सम्पूर्ण त्याग, सघर्ष उनके सामने क्रूर व्यंग्य बनकर आता है। प्रियाहीन शिव का व्यक्तित्व विखंडित हो गया। उनकी प्रिया सामन्ती व्यवस्था की बलि चढ़ गयी जिससे शिव की विवशता एवं वेदना दिशाहीन विद्रोह में परिवर्तित हो गयी।

दिनकर जी अपने साहित्य में आततायी, उत्पीड़क और स्वत्वापहारी के विरुद्ध हिंसा का समर्थन करते हैं क्योंकि मनुष्यता वहां हार जाती है। शोषक या अन्यायी ही हिंसा के लिए उत्तरदायी है। अहिंसा शोषितों की क्रान्ति से डरे हुए शोषकों का मुखौटा है। वे पूरी व्यवस्था को ही चुनौती देते हैं और सामन्ती व्यवस्था के प्रति विद्रोह कर देते हैं।

मुक्तिबोध अपनी दृष्टि शोषित कृषक वर्ग एवं ग्राम्य जीवन की ओर ले जाते हैं। वे अराजकता, अव्यवस्था और संत्रास के मूल में आदमी को मानते हैं—

समस्या एक
मेरे सभ्य नगरों और ग्रामों में
सभी मानव
सुखी सुन्दर व शोषण मुक्त
कब होंगे।[2]

१— संशय की एक-रात—नरेश मेहता, पृ०–७७–७८
२— चांद का मुंह टेढ़ा है— गजानन माधव मुक्तिबोध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धूमिल की संवेदना एक क्षुब्ध विचारक की संवेदना है। युग के यथार्थ का एक विश्लेषित चित्र, एक विचारक की गंभीर रचना दृष्टि और रचनात्मक प्रतिक्रिया की निर्णायक अभिव्यक्ति देना धूमिल के रचना की उपलब्धि है। इसी लिए वे कहते हैं 'कविता/भाषा में/आदमी होने की / तमीज है।'' उन्होंने वर्तमान व्यवस्था में जनता को दो मानसिक किनारों पर विभाजित पाया था। एक वर्ग जहां अपने बौद्धिक दंभ तथा ऊंचे सैद्धान्तिक बहसों में डूबा तथा उलझा है तो दूसरी ओर देश की व्यापक अशिक्षित जनसंख्या है जो अभी भी अपने अधिकारों के दायित्व एवं संघर्ष चेतना से शून्य है। उन्होंने देश की दुर्दशा का जो चित्र खींचा है वह पूरी भारतीय चेतना को झकझोर कर रख देता है—

दुःखीमत हो। यही मेरी नियति है।
मै हिन्दुस्तान हूं। जब भी मैंने
उन्हें उजाले से जोड़ा है
उन्होंने अपमानित किया हैं
इसी तरह तोड़ा है
मगर समय गवाह है
कि मेरी बेचैनी के आगे भी रहा है
मैंने सुना। वह आहिस्ता - आहिस्ता कह रहा है
जैसे किसी जले हुए जंगल में
पानी का ठंडा स्रोता बह रहा है।[1]

वे जड़ीभूत, जाहिल और सामाजिक सरोकारों के प्रति गैर जिम्मेंदार पाशविक वृत्तियों में आकंठ डूबे चरित्रों से आहत होकर स्वयं को आक्रामक मुद्रा तक ही पहुंचा पाते हैं। फिर भी उनकी विकलता पूरे मानव समुदाय को झकझोर देती है—

''एक आदमी—। दूसरे आदमी की गरदन। धड़ से
अलग कर देता है। जैसे एक मिस्त्री बल्टू से
नट अलग करता है। तुम कहते हो
यह हत्या हो रही है। मैं कहता हूं-मैकेनिज्म टूट रहा है।''[2]

१— संसद से सड़क तक — धूमिल, पृ० १०४
२— ''कविता श्री क.कुलम ' शीर्षक कविता, कल सुनना मुझे—धूमिल, पृ०—२०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१९७० के बाद की रचनाओं में युगजीवन का संवेग है। इस युग का रचनाकार अब यह समझने लगा है कि—

खेल वही अब भी
सिर्फ खिलौने बदल गए
बदले हैं हथियार
किन्तु
आखेट वही हैं।
आदिम मन की भूख
गुफाएं ठेठ वहीं हैं
वही शिकारी वृत्ति
सिर्फ मृगछौने बदल गए हैं।

सामन्ती चेतना का आज भी लोप नहीं हो पाया है, बल्कि यह प्रवृत्ति ज्यों का त्यों जनमानस में आसनोपविष्ट है और अब भी लोगों को आक्रान्त कर रही है। आज सामन्तवाद नवीन चोले में प्रकट हुआ है। स्वतंत्रता के बाद सामन्तवाद नवीन चोले में उदित हुआ है और नयी दरबारी संस्कृति का उत्थान हुआ है। ये दरबारी परजीवी प्रवृत्ति के हैं जो सामन्तों के नवीन संस्करण बगुला भगत नेताओं के राग अलापते रहते हैं। पूंजीपतियों के रूप में नवसामन्त समस्त जनतंत्र और अर्थतंत्र को जकड़े हुए हैं। सामन्ती व्यवस्था और तानाशाही में ही नहीं लोकतंत्र में भी सत्ता बहुत बड़ी वस्तु है। सत्ता प्राप्त व्यक्ति अपने को किसी सामन्त से कम नहीं समझता। एक दुर्बल, असहाय और आर्थिक दृष्टि से गरीब देश में शक्ति एवं अर्थ की पूजा से निकृष्ट नवसामन्ती समाज ही संरचित हो सकता है। इस प्रकार का समाज सर्वत्र तेजी से तैयार हो रहा है, जिसमें सामन्ती व्यवस्था का प्रत्येक तेवर है केवल गरिमा नहीं है। ये सामन्त अपनी शक्ति एवं सामर्थ्य के साथ सामाजिक फलक पर छाए हुए हैं।

सामन्तवाद प्रवृत्ति मूलक दृष्टि से आज भी भारतीय जीवन और समाज में शेष है। सामन्ती प्रवृत्तियों के प्रतिनिधित्व कर्त्ता सामन्तों, जमींदारों, जागीरदारों, महाजनों सेठों साहूकारों के अतिरिक्त धर्म गुरु, पंडे, पुरोहितों, उद्योगपतियों तथा सत्तासीन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजनेताओं और भ्रष्ट प्रशासनिक अधिकारियों का योग जनशोषण की इस पद्धति को विकसित करता है। सामन्तवाद की अंतिम कड़ी जमींदारी प्रथा समाप्त हो जाने पर टूटे हुए सामन्त विभिन्न राजनीतिक संस्थाओं से सम्बद्ध होकर विधान सभाओं तथा संसद में पहुंचकर अपनी अभिरुचियों और प्रवृत्तियों को राजनीति के क्षेत्र में अभिव्यक्ति देने लगे हैं। और इनकी चापलूसी कर कर एक अन्य वर्ग सामन्ती व्यवस्था का पोषण कर रहा है।

सामन्ती शोषण का कुचक्र एक निर्धारित प्रक्रिया के रूप में निरन्तर गतिशील है। इस शोषण की कहानियां स्वतंत्र भारत के नवनिर्मित इतिहास का अंग बनती जा रही है। यद्यपि शोषण जन चेतना को कुंठित करता रहा है तथापि हिन्दी के सजग, प्रबुद्ध एवं संवेदनशील सर्जकों के समकालीन जीवन और परिवेश में परिव्याप्त सामन्ती प्रवृत्तियां को अपनी कृतियों के माध्यम से प्रकट करते हुए इस प्रवृत्ति से मुक्ति के लिए विरोध और निराकरण प्रस्तुत करते रहते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सांख्य निरीश्वरवाद एवं ईश्वरवादी तत्व

सांख्य दर्शन को साधारणतः निरीश्वरवादी मान लिया जाता है, परन्तु उसके निरीश्वरवादी होने का निष्कर्ष जितना सरल प्रतीत होता है, उससे कहीं बहुत ज्यादा जटिल और विवादास्पद है। सांख्य-दर्शन के मान्य प्रामाणिक ग्रन्थों में ही विरोधी विचारों एवं तर्कों का अवलोकन किया जा सकता है। जहां एक तरफ ईश्वर के कर्तव्य व ज्ञान की संभावना के खण्डन प्राप्त हैं, तो दूसरी तरफ अनेकानेक व्यवस्थापक ईश्वर के अस्तित्व की परिकल्पना के दर्शन भी होते हैं। सांख्य दर्शन के प्रामाणिक ग्रन्थों में ईश्वर सम्बन्धी विमर्शों में परस्पर विरोधी परिकल्पनाओं के बाद इसे निरीश्वरवादी दर्शन कहना कहां तक औचित्यपूर्ण होगा ? यहां मुख्यतः यही प्रश्न विचारणीय है।

उपर्युक्त प्रश्न का समुचित उत्तर प्राप्त करने के उद्देश्य से इस निबन्ध को तीन भागों में विभाजित करेंगे। प्रथम भाग में सांख्य-दर्शन के कुछ प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर ईश्वर के अस्तितत्व का खण्डन करने और उसके अस्तित्व के स्वीकार करने हेतु प्रदत्त मूलतर्कों का विवेचन होगा। द्वितीय भाग में निरीश्वरवादी निष्कर्ष को मान लेने से ऊपजी विसंगतियों का विवेचन होगा तथा तृतीय भाग में उन विद्वानों (समकालीन) के मतों के विश्लेषण का प्रयास होगा, जिन्होंने गहन अध्ययन के पश्चात् सांख्य को निरीश्वरवादी कहा या उसमें ईश्वरवाद के तत्वों की खोज की। सर्वप्रथम हम मूलतर्कों की विवेचना की ओर बढ़ते हैं।

इस भाग में हम सर्वप्रथम उन तर्कों का विश्लेषण करेंगे, जिनके आधार पर सांख्य – दर्शन को निरीश्वरवादी माना जाता है। तत्पश्चात् उन तर्कों पर विचार करेंगे, जो सांख्य दर्शन में ईश्वर के अस्तित्व की परिकल्पना को उजागर करते हैं।

दर्शनशास्त्र में किसी भी विषय पर नकारात्मक निष्कर्ष निकालने के दो तरीके अपनाये जाते हैं। प्रथम तत्सम्बन्धी तर्कों का खण्डन। द्वितीय, तद्हेतु किसी अन्य सत्ता का प्रतिपादन। सांख्य – दर्शन के कुछ प्रामाणिक ग्रन्थों में भी उपर्युक्त तरीकों को अपनाया गया है। उन सारे हेतुओं में ईश्वर की आवश्यकता को नकारा गया है, जिसके आधार पर ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध किया जा सकता है। पुनः वे उन्हीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उद्देश्यों की पूर्ति के लिए प्रकृति और पुरुष के स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकार किया गया है। सांख्य-दर्शन को निरीश्वरवादी मानने के लिए निम्न तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं।

अधिकांशत: ईस्वरवादी दार्शनिक ईश्वर को सृष्टि का उपादान कारण मानते हैं। सांख्य तत्व कौमुदी में इस विचार का स्पष्ट खण्डन मिलता है। इसके अनुसार ईश्वर को सृष्टि का उपादानकारण नहीं माना जा सकता है क्योंकि सृष्टि जड़ त्रिगुणात्मक और परिणामी है जबकि ईश्वर चेतन, निर्गुण तथा अपरिणामी माना जाता है। ईश्वर को सृष्टि का उपादान कारण मानना, सांख्य की उसके अपने मूलभूत सिद्धान्त 'सत्कार्यवाद" के खण्डन की ओर ले जायेगा। दूसरे शब्दों में ईश्वर को उपादान कारण मानने का अर्थ है – "कार्य किसी ऐसे कारण से उत्पन्न होगा, जो ठीक उसके विरोधी हैं। अत: सृष्टि का उपादान कारण ईश्वर को नहीं माना जा सकता है। प्रकृति त्रिगुणात्मिका और परिणामी तत्व है। अत: वही सृष्टि का उपादान कारण है। सांख्य तत्व कौमुदी में इस तर्क को निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया गया है ?

"आरभ्यते इति आरम्भ:" सर्ग: महदादिभूतान्त: प्रकृत्यैव कृतो नेश्वरेण न ब्रह्मोपादान: नाप्यकारण: अकारणत्वे ह्यत्यन्त भावोऽन्यन्ताभावो वा स्यात्। न ब्रह्मोपादान: चित्तिशक्तेपरिणामात्। नेश्वराधिष्ठितप्रकृतिकृत: निर्व्या पारस्याधिष्ठा-तृत्वासम्भवात्।"[1]

ईश्वरवादी दार्शनिक ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार करने के लिए किसी न किसी प्रयोजन की परिकल्पना कर लेते हैं। सांख्य दर्शन का दूसरा तर्क इसी से सम्बद्ध है। सांख्य तत्व कौमुदी इस प्रश्न को उठाता है कि सृष्टि संरचना में ईश्वर का क्या प्रयोजन है। सम्पूर्ण प्रयोजनों को दो भागों में बांटा जा सकता है – स्वार्थ और परार्थ। सृष्टि संरचना में ईश्वर का कोई स्वार्थ नहीं हो सकता है, क्योंकि ईश्वर में किसी स्वार्थ की स्थिति उसकी अपूर्णता को दर्शाता है – जबकि ईश्वर को पूर्ण माना

१— सांख्यतत्व कौमुदी, पृ० २७४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाता है। अतः स्वार्थ उसका प्रयोजन नहीं हो सकता है। तब क्या उसका प्रयोजन परार्थ (कारूण्य) है ? सांख्य तत्व कौमुदी इस प्रश्न का उत्तर भी निषेधात्मक देता है। उसके अनुसार संसार में जिस प्रकार की दुःख वृत्ति दिखाई देती है उसके आधार पर तो यही कहा जा सकता है कि सृष्टि का प्रयोजन कारूण्य नहीं है। यदि ईश्वर करूणावश संसार सृष्टि की तरफ प्रवृत्त होता तो दुःख का अस्तित्व ही क्यों होता। इस तर्क को कौमुदी में निम्न शब्दों में अभिव्यक्त किया गया है—

"न ह्यवाप्त सकलेसिप्तम्य भगवतो जगत् सृजतः किमप्यभिलषितं भवति। नापि कारूण्यादस्य सर्वं प्रवृत्तिः प्राक् सर्गाज्जीवानामिति य शरीर विषयानुत्पत्तौ दुःख्या भावेन कस्य प्रवाणेच्छा कारूण्यम्।"[1]

उपरोक्त दोनों तर्कों के अतिरिक्त कौमुदी में कर्म सिद्धान्त के आधार पर भी ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किये जाने का खण्डन प्राप्त है। सांख्य तत्व कौमुदी के अनुसार ससार में प्रायः पाया जाता है कि कर्म कोई करता है और फल कोई भोगता है। इस दृष्टि से इस कर्मप्रधान जगत में कर्मों का अधिष्ठाता कोई अवश्य है, परन्तु वह ईश्वर नहीं हो सकता है। ईश्वर तो अपरिणामी निर्विकार और अक्षर है फिर वह कर्मों का फल देने वाला परिणामी कैसे हो सकता है।

उपरोक्त तर्कों के आधार पर ही अनेक विद्वान् सांख्य—दर्शन को निरीश्वरवादी स्वीकार कर लेते हैं। अब उन तर्कों का अवलोकन भी अपेक्षित है, जिनके आधार पर सांख्य दर्शन में ईश्वरवादी तत्वों की पुष्टि की जाती है।

यहां स्पष्ट कर देना आवश्यक होगा कि सांख्य में ईश्वरवाद का प्रतिपादन मुख्य रूप से विज्ञानभिक्षु तथा उनके बाद के सांख्याचार्यों ने किया है। महाभारत और गीता में जिस सांख्य का उल्लेख मिलता है वह सेश्वर सांख्य ही है। सांख्य प्रवचनसूत्र में ईश्वर का जो उल्लेख मिलता है, वह निरीश्वरवादी न होकर अज्ञेयवादी है। सांख्य दर्शन को ईश्वरवादी सिद्ध करने के लिए निम्नलिखित तर्क है।

विज्ञान भिक्षु एवं उनके कुछ अनुयायियों का मन्तव्य है कि यद्यपि ईश्वर ने

१— सांख्यतत्व कौमुदी, पृ० २७८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकृति के सहयोग से जगत को उत्पन्न नहीं किया, फिर भी ईश्वर का अस्तित्व हमें इसलिए स्वीकार करना चाहिए क्योंकि उसी की प्रेरणा से जड़ प्रकृति में क्रिया का उन्मेषय होता है। प्रकृति और ईश्वर का संवन्ध लौह – चुम्बक जैसा है। जिस प्रकार चुम्बक, समीप रखे हुए जड़ लोहे में गति या क्रिया पैदा कर देता है, उसी प्रकार ईश्वर के सान्निध्य से प्रकृति में क्रियाशीलता उत्पन्न हो जाती है।

"तत्सन्निधिनादधिष्ठानात् मणिवत्।"[1]

इस दृष्टि से ईश्वर की सत्ता प्रकृति से ऊंची है। यहां ईश्वर पूर्णकाम, नित्य और जीवों में अन्तर्यामी होकर भी प्रकृति के कार्यों का साक्षी बना रहता है। इस बिन्दु पर सांख्य एक ऐसे ईश्वर की परिकल्पना करता है, जो पहले प्रकृति के अन्दर लीन था और बाद में प्रकट हुआ। जैसा कि कहा गया है– "प्रकृतिर्लीनस्य जन्येश्वरस्य सिद्धिः।"[2]

सांख्य सूत्र में तो यहां तक भी कहा गया है कि सबका कर्त्ता ईश्वर ही है और वही सबका ज्ञाता भी है – 'स हि सर्ववित् सर्वकर्त्ता।"[3] पुनश्च यह भी कहा गया है कि इस तरह के ईश्वर की सत्ता सिद्ध की जा सकती है। इदृशेश्वरसिद्धिसिद्धाः।'[4]

सांख्य-दर्शन के परवर्ती ग्रन्थों में जो भी ईश्वर विवेचन उपलब्ध है, वह कहीं सर्वेश्वरवाद के निकट प्रतीत होता है, तो कहीं बहुदेववाद के। सांख्य सूत्र में स्पष्ट किया गया है कि यदि सत्ता मात्र को कोई ईश्वर कहें तो फिर समस्त विश्व को ही ईश्वर मानना पड़ेगा यथा—

सत्तामात्राच्चेत् सर्वैश्वर्यम्।"[5]

यहां एक ज्वलन्त प्रश्न यह उठता है कि जो सांख्याचार्य ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं, वे ईश्वर की परिकल्पना किस रूप में करते हैं। महाभारत और

१— सांख्य सूत्र १/९६
२— सांख्य सूत्र ३/५६
३— सांख्य सूत्र ३/५७
४— सांख्य सूत्र ३/५६
५— सांख्य सूत्र ५/६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गीता में सांख्य-दर्शन का जो प्रसंग उपलब्ध है, उसके अनुसार ईश्वर एक पृथक् तत्व है। वह सृष्टि का अधिष्ठाता नहीं, मात्र अध्यक्ष हैं। वह नित्य है, जन्य नहीं। लेकिन विज्ञानभिक्षु और उनके परवर्ती सांख्याचार्यों ने नित्य ईश्वर का खण्डन करते हुए जन्य ईश्वर का मण्डन किया है। जन्य ईश्वर ही प्रकृतिर्लीन एवं सर्वज्ञ है। सांख्य प्रवचन सूत्र में ऐसे ईश्वर को सिद्ध माना गया है।

उपरोक्त विवेचन से इतना स्पष्ट है कि सांख्य-दर्शन के प्रामाणिक ग्रन्थों में निरीश्वरवाद और ईश्वरवाद दोनों मतो की पुष्टि के लिए पर्याप्त तर्क मौजूद है। पुनश्च, प्रश्न यह उठता है कि किसी एक निष्कर्ष को निरपेक्ष रूप से सत्य मान लेने पर क्या विसंगतियां आ सकती है? द्वितीय भाग में इन्हीं विसंगतियों पर प्रकाश डालने का प्रयास किया जायेगा।

सांख्य-दर्शन को निरीश्वरवादी मान लेने पर मुख्यत: जो विसंगतियां सामने आती है उनमें दो अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं- (१) पहली विसंगति दुःखत्रय से सम्बन्धित हैं। सांख्य-दर्शन में दुःखत्रय की महत्ता इस बात से जानी जा सकती है कि सांख्य-कारिका की शुरूआत ही दुःखत्रय के नाश की जिज्ञासा से होती है। सांख्यकारिकाकार ईश्वर कृष्ण लिखते हैं- "दु:खत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा।"[1] सांख्यतत्व कौमुदी में तीनों दुःखों की व्याख्या निम्नलिखित शब्दों में की गई है- "दु:खानां त्रयं दु:खत्रयम् तत् खलु आध्यात्मिकम् आधिभौतिकम् आधिदैविकंच।"[2]

अर्थात् दु:खों का त्रय ही दु:खत्रय है। दु:खत्रय है-आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक। सांख्य दर्शन को निरीश्वरवादी मान लेने पर आध्यात्मिक और आधिभौतिक दुःखों की व्याख्या तो की जा सकती है परन्तु आधिदैविक दुःखों की व्याख्या नहीं हो सकती। आधिदैविक दु:खों की व्याख्या करते समय तत्वकौमुदी में कहा गया है - "आधिदैविकं तु यक्ष राक्षस विनायक ग्रहाद्यावेशानिबन्धनम्।"[3]

...... अर्थात् आधिदैविक दु:ख यक्ष, राक्षस विनायक (विभिन्न देवी-देवता) एवं ग्रह आदि के आवेश के कारण होता है। यहां प्रश्न उठता है कि सांख्य को निरीश्वरवादी

१— सांख्य कारिका।
२— सांख्य तत्व कौमुदी, पृ० १२
३— सांख्य तत्व कौमुदी, पृ० १३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मान लेने पर उन देवी-देवताओं (अनेकेश्वरवाद) की व्याख्या कैसे करेंगे, जिनके आवेश के कारण आधिदैविक दुःखों की अनुभूति होती है। यहां हमारे सामने दो विकल्प हैं-प्रथम आधिदैविक दुःख के कारणों में विनायक (देवी-देवीताओं) को निकाल दिया या द्वितीय सांख्य को ईश्वरवादी दर्शन स्वीकार कर लिया जाय।

(२) सांख्य दर्शन को निरीश्वरवादी मान लेने पर दूसरी समस्या उठती है, वह उसके प्रमाण-विचार से सम्बन्द्ध है। सांख्य ज्ञान के साधन के रूप में तीन प्रमाणों की सत्ता स्वीकार करता है – प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। यहां भी प्रत्यक्ष और अनुमान को प्रमाण के रूप में स्वीकार करने तक कोई समस्या नहीं उठती। सांख्य शब्द प्रमाण की व्याख्या में उसे लौकिक और वैदिक शब्द में विभाजित करता है। वैदिक शब्द को प्रमाण मानना, सांख्य के निरीश्वरवादी निष्कर्ष में सबसे बड़ा बाधक है।

वैदिक वाक्यों से हमें उन अगोचर विषयों का ज्ञान होता है, जो प्रत्यक्ष और अनुमान पर आधारित नहीं होते। ऐसे वाक्यों में वे त्रुटियां नहीं होती जो लौकिक वाक्यों में होती हैं। वे भ्रान्ति रहित और स्वतः प्रमाण है-

यहां सांख्य-दर्शन दो विरोधी तथ्यों का प्रतिपादन करता है। प्रथम वह किसी ईश्वर या ब्रह्म को जगत् का उपादान या प्रयोजन कारण नहीं मानता है। द्वितीय वह श्रुति या वेदवाक्य को प्रमाण मानता है। वेदवाक्य ईश्वर या ब्रह्म को उपादान या प्रयोजन कारण स्वीकार करता है – जैसा कि मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है।

"यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च,
यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।
यथा सतः पुरूषात् केशलोमानि,
तथाक्षरात् सम्भवन्तीह विश्वम्।।[1]

उपरोक्त विवेचन के अनुसार ब्रह्म ही जगत् का निमित्त और उपादान कारण है। ऐसे अनेकानेक वाक्य वेदों में बिखरे पड़े हैं, जो ब्रह्म या ईश्वर को जगत् का कारण मानते हैं। अब यहां पुनः दो विकल्प बचते हैं। या तो यह माना जाय कि सांख्य-दर्शन

१— मुण्डकोपनिषद– १/१६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रुति को प्रमाण न माने, पर ऐसी स्थिति में पुरुष का अस्तित्व सिद्ध नहीं हो पायेगा। या वह ईश्वर का कर्तव्य (वेदवाक्यों के आधार पर) स्वीकारें/श्रुति (शब्द) को प्रमाण के रूप में स्वीकार किया जाय और अकारण ही ईश्वर के कर्तृव्य को अस्वीकार करना एक विसंगति है। सम्भवतः इन्हीं विसंगतियों ने विज्ञान भिक्षु और परवर्ती सांख्याचार्यों को ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करने के लिए विवश किया है।

सांख्य-दर्शन के प्रामाणिक ग्रन्थों में प्रस्तुत ईश्वर के अस्तित्व के पक्ष और विपक्ष में प्रस्तुत किये गये तर्कों और तत्सम्बन्धित विसगतियों के अवलोकन के बाद अब हम उन विद्वानों के निष्कर्षों का विवेचन कर सकते हैं जिन्होंने सांख्य - दर्शन को निरीश्वरवादी माना है या जिन्होंने इसे ईश्वरवादी दशन स्वीकार किया है।

सांख्य — दर्शन को निरीश्वरवादी दर्शन कहनों वालों में प्रमुख रूप से डा० एस०एन० दास गुप्ता, वाचस्पति गैरोला, प्रो० संगमलाल पांडेय और देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय हैं। डा० एस०एन० दास गुप्ता और वाचस्पति गैरोला ने सांख्य-दर्शन में ईश्वरवादी तत्वों की पहचान के बावजूद भी बिना किसी ठोस के आधार पर सांख्य दर्शन को निरीश्वरवादी बता दिया है। सांख्य को निरीश्वरवादी कहते हुए डा० एस०ए० दास गुप्ता लिखते हैं– "सांख्य ईश्वर का अथवा किसा बाहरी सत्ता का अस्तित्व नही मानता। उसके अनुसार तत्वों में स्पदन अथवा गति की प्रवृत्ति अन्तर्निहित है।"[1] ठीक इसी प्रकार वाचस्पति गैरोला भी लिखते हैं– "यद्यपि ईश्वर के विरोध में सांख्यकारों ने जो शंकाऐं तथा कारण प्रस्तुत किये है, वे अधिक तर्कसंगत नहीं, फिर भी ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध करने वाले सांख्यकारों की अपेक्षा अधिक स्थायी है।"[2]

यहां वाचस्पति जी ने जिन शंकाओं और कारणों का जिक्र किया है उसका विवेचन नहीं है। साथ ही तुलनात्मक अध्ययन में वे वस्तुनिष्ठता कायम नहीं रख पाये। अपेक्षा तो यह होती है वे ईश्वर विरोधी तर्कों को ईश्वर विषयक तर्कों से सुस्पष्ट या स्थायी प्रमाणित करने के लिए कोई ठोस तर्क प्रस्तुत करते, जो वह नहीं

१— एस०एन० दास गुप्ता–भारतीय दर्शन का इतिहास, पृ० २४२
२— वाचस्पति गैरोला – भारतीय दर्शन, पृ० २७९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर पाये। अतः उनका निष्कर्ष अपने आप में अनेकानेक तथ्यों को पहचानने और जानने के बाद भी आंशिक और व्यक्तिनिष्ठ हो जाता है। अपने व्यक्तिनिष्ठ दृष्टिकोण के कारण ही सांख्य द्वारा ईश्वर के अस्तित्व के विषय में शंकाओं और कारणों को तर्कसंगत न मानने के बावजूद भी स्थायी मान लेते हैं।

संगमलाल पाण्डेय– एक विद्वान् जिन्होंने सांख्य-दर्शन मे सर्वेश्वरवाद और एकेश्वरवाद तक के संकेत खोज डाले हैं। किन्तु सांख्यकारिका और तत्वकौमुदी की प्रमाणिकता से प्रभावित हो, निष्कर्ष यही निकाला कि सांख्य दर्शन को निरीश्वरवादी कहना ही तर्क संगत होगा। जैसा कि उन्होंने लिखा है – "सांख्य की प्रवल मान्यता निरीश्वरवाद की है। परवर्ती सांख्य ने जो पुरुष विशेष के अर्थ में ईश्वर को माना है, वह वस्तुतः ईश्वरवाद की अपेक्षा निरीश्वरवाद के अधिक निकट है, क्योंकि ईश्वरवाद सृष्टि का अनिवार्य सम्बन्ध ईश्वर से मानता है और सांख्य योग का ईश्वर इसे नहीं मानता।"[1]

यदि उपरोक्त के विश्लेषण से सहमत होकर सांख्य – दर्शन को निरीश्वरवाद के निकट मान लिया जाय और यहां विश्लेषण पाश्चात्य दार्शनिक इमेन्युअलकाण्ट पर लागू किया जाय तो काण्ट को भी अज्ञेयवादी न कहकर निरीश्वरवाद के निकट मानना पड़ेगा। काण्ट भी ईश्वर के अस्तित्व को सृष्टि से अनिवार्य रूप से सम्बद्ध नहीं पाता हैं और न ही उसके ज्ञान की संभावना को स्वीकारता है, फिर भी हम उसे निरीश्वरवादी न कहकर अज्ञेयवादी कहते हैं।

सांख्य दर्शन को सशक्त शब्दों में निरीश्वरवादी कहने वाले देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय ने इस विश्लेषण पर ज्यादा जोर दिया कि परवर्ती सांख्य में छिटपुट ईश्वर सम्बन्धी विचार सांख्य–दर्शन के मूल विचार नहीं बल्कि परवर्ती तथाकथित सांख्याचार्यों द्वारा सांख्य–दर्शन पर थोपे गये उनके व्यक्तिगत विचार हैं। विज्ञान-भिक्षु का उदाहरण देते हुए उन्होंने कहा है कि विज्ञानभिक्षु और गौड़ पाद जैसे दार्शनिक चूंकि मूलतः वेदान्ती थे। अतः उन्होंने सांख्य-दर्शन की मूल विचारधारा पर वेदान्त के कुछ सिद्धान्त आरोपित कर दिये। उनके अनुसार ईश्वर कृष्ण की सांख्यकारिका ही सांख्य-दर्शन की प्रामाणिक पुस्तिका है।[2]

१— संगमलाल पाण्डेय– भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण, पृ०२९३–९४

२— देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय– इंडियन एथिज्म,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चट्टोपाध्याय के विचार को अगर सत्य मान भी लिया जाय तो क्या वह समस्याएं हल नहीं हो पायेगी जो सांख्य को निरीश्वरवादी मानने पर ईश्वर कृष्ण की सांख्यकारिका से ही उपज रही हैं जैसे दु:खत्रय में आधिदैविक दुःख की कल्पना और वेद को प्रमाण मानना तथा वेदवर्णित ईश्वर - कर्तृत्व का खण्डन करना। इसका कोई स्पष्ट उत्तर उपलब्ध नहीं है।

सांख्य को निरीश्वरवादी दर्शन मानने वाले विद्वानों के तर्कों की परीक्षा के बाद हम उन मतों का विवेचन करेंगे, जिन्होंने सांख्य - दर्शन में ईश्वरवाद का तत्व खोजने का प्रयास किया है। इन विद्वानों में प्रमुख है – डा० राममूर्ति शर्मा, डा० राधाकृष्णन्, डा० एन०के० देवराज और डा० भरत सिंह उपाध्याय। यहां एक बात स्पष्ट कर देना अत्यावश्य है कि इन सभी विद्वानों ने ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकारने के लिए तर्क खोजने का प्रयास विज्ञानभिक्षु और परवर्ती सांख्याचार्यों के ग्रन्थों के आधार पर किया है।

डा० राममूर्ति शर्मा लिखते हैं – "सांख्य में यद्यपि कर्तृत्वशक्ति से युक्त ईश्वर की सत्ता नहीं मिलती है, पर जगत् के साक्षी रूप में ईश्वर का वर्णन अवश्य मिलता है।"[1] डा० शर्मा के कथन से स्पष्ट है कि उन्होंने 'साक्षीरूप' के आधार सांख्य-दर्शन को सेश्वर सांख्य माना है। स्पष्टतः ये ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकारने के लिये ईश्वर व सृष्टि के अनिवार्य सम्बन्ध को जरूरी नहीं समझते हैं। इसी कड़ी में आगे बढ़ते हुए डा० राधाकृष्णन् ने तो सांख्य-दर्शन में बहुदेववाद के तत्व खोज डाले। उनका कहना है कि– "वैदिक ऋचाओं के पुरातन देवता हेतुवादी सांख्य की छत्रछाया में रह सकते हैं, किन्तु वे नित्य स्वरूप में नहीं है। सांख्य एक व्यवस्थापक ईश्वर की कल्पना तो करता है, जो सृष्टि रचनाकाल में प्रकृति क क्रमिक विकासों की व्यवस्था स्वीकार करता है। शिव, विष्णु इत्यादि इसी व्यवस्थापक ईश्वर की प्रतीति मात्र है।[2]

सांख्य - दर्शन के विभिन्न प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर दो विरोधी विचार

१— राममूर्ति शर्मा – अद्वैतवेदान्त, पृ० २२
२— राधाकृष्णन् – भारतीय दर्शन, वा० ११, पृ० ३१७—३३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धाराओं का और उनके सार का संक्षिप्त विवरण डा० नन्दकिशोर देवराज इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं — 'ईश्वर नहीं है, ऐसा सिद्ध करने की चेष्टा सांख्य ने कहीं नहीं की है। सृष्टि, प्रलय और कर्मविपाक में ईश्वर की आवश्यकता नहीं है. इन तर्कों को लेकर ईश्वर को सिद्ध नहीं किया जा सकता। सांख्य का केवल यही अनुरोध है। योगदर्शन में ईश्वर को अधिक महत्व दिया गया है, परन्तु उसमें भी ईश्वर प्रकृति और पुरुष का रचयिता या आधार नहीं है। इसलिए हम सांख्य–योग को न तो अनीश्वरवादी ही कह सकते हैं, न न्याय वैशेषिक की तरह ईश्वरवादी ही।[1]

यदि सांख्य में ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए कोई तर्क नहीं दिया गया है, तो इतना ही सत्य दूसरा पहलू भी है और वह यह कि सांख्य–दर्शन में ईश्वर के अस्तित्व को नकारने के लिए भी कोई तर्क नहीं दिया। भरत सिंह उपाध्याय यह मानते हैं कि यद्यपि सांख्य दर्शन में ईश्वर के कर्तव्य को नकारा गया, किन्तु ईश्वर के अस्तित्व को नहीं। ईश्वर के कर्तव्य को भी उन्होंने क्यों नकारा, इसका कारण बताते हुए वे लिखते हैं—

'सांख्य प्रवचन सूत्र के ईश्वर सिद्धेः को लेकर यह भलीभांति कहा जा सकता है कि सूत्रकार ने ईश्वरासिद्धेः ही कहा, ईश्वराभावात् नहीं। अतः संभवतः वे ईश्वर-वादी रहे हों, किन्तु जिस दृष्टिकोण से वे ज्ञान के अनुसंधान में प्रवृत्त हुए, उसके प्रति सच्चे रहते हुए वे संभवतः ईश्वर के कर्तृत्ववाद की और प्रवृत्त नही हो सकते हैं।'[2]

उपरोक्त विश्लेषण सत्य हो सकता है, किन्तु निश्चयात्मकता के बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता है। यहां तो सिर्फ एक संभावना ही व्यक्त की जा सकती है। इसी प्रकार के कुछ निष्कर्ष बालगंगाधर तिलक द्वारा गीता रहस्य में प्रस्तुत किये गये हैं।

विभिन्न विरोधी कथनों, विचारों और विश्लेषणों के बीच से कोई भी निष्कर्ष निकलना अत्यन्त दुष्कर है। फिर भी इतना तो कहा जा सकता है कि सांख्य दर्शन

१— एन०के० देवराज एवं रामानन्द तिवारी—भारतीय दर्शन का इतिहास पृ० ३०६

२— भरत सिंह उपाध्याय— बौद्ध दर्शन और अन्य भारतीय दर्शन, पृ० १२४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न तो स्पष्ट रुप से निरीश्वरवादी है और न ईश्वरवादी कहा जा सकता है। निरीश्वरवादी सांख्य बनने के लिए यह अत्यावश्यक हैं कि सांख्य - दर्शन में ईश्वर के अस्तित्व के विरोध में स्पष्ट और प्रबल तर्क उपलब्ध हो, जो कि नहीं है। ठीक इसी प्रकार सांख्य को ईश्वरवादी भी नहीं कहा जा सकता है। किसी भी दर्शन को ईश्वरवादी कहे जाने के लिए एक अनिवार्य शर्त है— ईश्वर के ज्ञान की संभावना को स्वीकार करना। किसी भी सांख्याचार्य ने किसी भी मान्य प्रमाण द्वारा ईश्वर ज्ञान संभव नहीं माना है। अतः सांख्य को ईश्वरवादी दर्शन भी नहीं कहा जा सकता है। इन दोनों निष्कर्षों से पथृक् सांख्य का ईश्वर विचार अज्ञेयवादी जान पड़ता है और इस विषय में प्रो० मैक्समूलर का विचार यथोचित प्रतीत होता है कि – 'कपिल ईश्वर असिद्धि नहीं उसके सिद्धि के तार्किक प्रमाणों का अभाव मानते हैं। इस दिशा में वे पश्चिमी दार्शनिक काण्ट के अत्यन्त समीप हैं। कपिल ने ईश्वर का खण्डन करने के लिए कोई तर्क नहीं दिया है।"[1]

डा० इन्दुदेव पाण्डेय
प्रवक्ता- दर्शन शास्त्र विभाग
हे०न०ब० गढ़वाल विश्वविद्यालय
श्रीनगर (गढ़वाल) उ०प्र०

१— मैक्समूलर – भारतीय दर्शन, वा० १११, पृ० ८८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वैदिक साहित्य में अद्वैत तत्व

सुश्री अर्चना श्रीवास्तव
बुद्ध नगर रुस्तमपुर गोरखपुर (उ०प्र०)

यह सर्वविदित है कि हमारे यहां दर्शन का व्यवस्थित आरम्भ उपनिषदों में हुआ परन्तु सूक्ष्म अध्ययन करने पर यह ज्ञात होता है कि यद्यपि स्थूल रूप में वेदों का प्रतिपाद्य विषय देवों की स्तुतियां एवं वैदिक कर्मकाण्ड ही प्रतीत होता है तथापि वैदिक वाङ्मय में दर्शन के उन सूक्ष्म सिद्धान्तों का भी प्रतिपादन किया गया है, जिनको आधार बना कर परवर्ती षड्दर्शन में पुष्कल विचार - मंथन हुआ है। चर्म सत्ता की भिन्न–भिन्न अभिव्यक्तियों का विशद एवं सुरुचिपूर्ण वर्णन मिलने के कारण इन संहिताओं में अनेक प्रकार की दार्शनिक विचार धाराओं की कल्पना की गई। यह एक निर्विवाद तथ्य है कि भारतीय दार्शनिक विचारधारा पर वेदों का अत्यधिक प्रभाव पड़ा है।

प्राचीन वैदिक सूक्तों में एक उद्दाम जिज्ञासा का भाव दृष्टिगोचर होता है। ऋक् संहिता में यत्र - तत्र दर्शन सम्बन्धी प्रश्न उठाये गये हैं। वैदिक ऋषि उस सर्वोच्च सत्ता के अन्वेषण में प्रयत्नशील थे, जो सबके ऊपर शासन करती है। वैदिक देव शास्त्र पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि अनेक देवताओं की स्वीकृति पर बल दिया गया, किन्तु इस विशाल देव - मण्डल से वैदिक ऋषि की जिज्ञासा का समाधान न हो सका।

वेदों को बहुधा अनेकेश्वरवादी कहा जाता है क्योंकि ऋग्वेद की स्तुतियों में उपासनार्थ बहुदेव की कल्पना है। किन्तु इस विचार धारा से सहमत होना तथ्य संगत नहीं है क्योंकि वैदिक सूक्तों के अनुशीलन से यह स्पष्ट होता है कि वैदिक ऋषियों ने जिस समय जिस किसी देवता की उपासना की, उस समय उसको ही सर्वश्रेष्ठ माना। इस प्रकार कभी इन्द्र को, कभी अग्नि को तथा कभी वरुण को सर्वशक्तिमान ईश्वर समझकर स्तुति की गई है। धार्मिक विश्वास की इस अवस्था को 'मैक्समूलर ने Henotheism (एकाधिदेववाद) कहा है। इसे एकत्व की दिशा में जाने की सहज प्रवृत्ति की अचेतन अभिव्यक्ति मानते हुये उन्होंने **'बहुदेववाद'** और और **'एकेश्वरवाद'** के मध्य विकास की एक निश्चित अवस्था कहा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पश्चिमी विद्वानों ने धर्म और दर्शन की विचार शृंखला के विकास के तीन स्तर माने हैं —

(i) बहुदेववाद (Polytheism)
(ii) एकेश्वरवाद (Monotheism)
(iii) अद्वैतवाद या एकवाद (Monism)

वैदिक धर्म में बहुदेववाद एकेश्वरवाद अथवा अद्वैतवाद मानने के सम्बन्ध में विद्वानों में गहरा मतभेद है। परन्तु यह एक तथ्य है कि ऋक् संहिता के प्राचीनतम अशों में ही अनेक देवों से ऊपर एक सर्वोच्च देव की अवधारणा दृष्टिगोचर होती है। यद्यपि विश्व सत्ता अथवा संसार की प्रेरक शक्ति की अन्वेषणा के फलस्वरूप ऐक्यवाद की निश्चित विचारधारा उपनिषदों में मिलती है तथापि इस सिद्धान्त के कुछ विचार बीज रूप में संहिताओं में भीं प्राप्त होते हैं। उपनिषदों एवं वेदान्त - दर्शन में विशद रूप से विवेचित अद्वैतवाद या एकवाद का पूर्वाभास संहिता के युग में भी अनेकशः प्राप्त होता है। अद्वैतवाद का उद्देश्य जीव एवं ब्रह्म के सम्बन्धों पर उठने वाले प्रश्नों का समाधान करते हुये उनकी एकता का प्रतिपादन करना है। जीव एवं ब्रह्म दो नहीं हैं, इनमें द्वैत नहीं है, यही अद्वैतवाद है।

वैदिक काल की मुख्य जिज्ञासा एक सर्वश्रेष्ठ देवता की ही नहीं, वरन् उस शक्ति की खोज थी जिसकी प्रेरणा से संसार के स्थावर एवं जंगम सभी पदार्थ अपने-अपने नियमानुसार स्वकार्य में लगे रहते हैं। इसलिये अनेक देवों में कौनसा देव उपास्य है यह प्रश्न सामने आया —

हिरण्यगर्भः समवर्ततताग्रे
भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां,
कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥
(ऋ० १०/१२१/१)

इस अन्वेषण के फलस्वरुप हम कभी **'वरुण'** में संसार के कर्त्ता, संरक्षक एवं **'ऋतस्य गोपाः'** की झलक पाते हैं, तो कभी **विश्वकर्मा** में विश्व-कर्तृत्व का और कभी **प्रजापति** और **हिरण्यगर्भ** में संसार के स्रष्टा के रूप दिखलाई पड़ते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धीरे - धीरे ऋषियों को विश्व - सत्ता के ऐक्य का आभास हुआ और वे दृढ़ निश्चय पर आरुढ़ हो गये कि सत् एक ही है। ऋग्वेद में बहुत से ऐसे मन्त्र पाये जाते हैं सभी देवताओं को एक ही सत्ता के भिन्न - भिन्न रूप या शक्ति कहा गया है जिसे विद्वान् भिन्न - नामों से पुकारते हैं—

एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति।
अग्निं यम् मातरिश्वानमाहुः॥

(ऋ० १/१६४/५,६)

ऋक् संहिता में पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा आकाश में पृथिव्यग्नि, वैद्युताग्नि तथा सौराग्नि के रूप में एक ही अग्नि की अवधारणा प्राप्त होती है। एक ही सत् तत्त्व नाना देवों के रूप में है।

प्रारम्भिक काल में वरुण **सर्वोच्च नैतिक देव** के रूप में प्रतिष्ठित था। वह मानव और प्रकृति, इहलोक और परलोक सभी का स्वामी था। इससे नैतिक एकेश्वरवाद का मार्ग प्रशस्त हो गया था। किन्तु परवर्ती काल में वरुण की प्रतिष्ठा कम होने लगी और भारत में नैतिक एकेश्वरवाद के स्थान पर **'आध्यात्मिक एकेश्वरवाद'** का विकास हुआ। आध्यात्मिक एकेश्वरवाद का सर्वोत्तम उदाहरण **'हिरण्यगर्भ–प्रजापति–सूक्त'** है।

संहिताओं में अद्वैतवादी विचारधारा के दो पृथक् रूप प्राप्त होते हैं – एक सर्वेश्वरवाद के रूप में और दूसरा दार्शनिक कारणता के सिद्धान्त की स्वीकृति के रूप में। सर्वेश्वरवादी विचारधारा में परमेश्वर का प्रकृति से अभेद माना जाता है। यहाँ परमेश्वर प्रकृति में पूर्णतया व्याप्त है। यह विचारधारा पाश्चात्त्य दर्शन में **'सर्वेश्वरवाद'** के नाम से विख्यात है। इसका उत्कृष्ट उदाहरण ऋग्वेद के दशम मण्डल का **'पुरुष–सूक्त'** है। पुरुष ही एक मात्र सत् है। उसके हजार सिर हैं, हजार आँखें हैं और हजार पैर हैं। उसने चारों ओर से इस पृथ्वी को घेर रखा है। जो कुछ है या था और जो कुछ होगा वह सब पुरुष ही है। पुरुष अमरों तथा अन्नोपजीवियों का ईश्वर है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥१॥
पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम् ।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्ने नातिरोहति ॥२॥
एतावानस्य महिमातो ज्यायाँश्च पुरूषः ।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्याऽमृतं दिवि ॥३॥
(ऋ० १०/९०)

मानवीय इतिहास में प्रायः यही 'अद्वैत' की प्रथम अनुभूति है। इसी विचारधारा की एक और स्पष्ट अभिव्यक्ति ऋक् - संहिता के उस सूक्त में मिलती है जहां 'अदिति' को द्यौस्, अन्तरिक्ष माता, पिता, पुत्र, सौर देवों, सारे मानवों में जो कुछ जाता है और जो कुछ भावी है सभी के रूप में देखा गया है। (ऋ० १/८९/१०)

दूसरे प्रकार के एकत्व की धारणा का प्रमुख उदाहरण **"नासदीय सूक्त"** (ऋ० १०/१२९) में मिलता है। यह सूक्त अपने दार्शनिक विचार के कारण विद्वानों में अत्यधिक प्रशंसित हुआ है। नासदीय सूक्त में निर्गुण ब्रह्म का सर्वप्रथम दर्शन होता है। यहाँ कवि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति एक मूल कारण से मानता है तथा उसके स्वरूप को निर्धारित करने की चेष्टा करता है—

'नासदासीन्नो सदासीत तदानी
नासीद्रजो नो व्योमा परो यत् ।।
किमावरीवः कुहुकस्य शर्मन् ।
नाम्भः किमासीद् गहनं गभीरम् ।।" (ऋ० १०/१२९/१)

अर्थात् जो कुछ है, वह पहले नहीं था, जो कुछ नहीं है, वह भी नहीं था। न पृथ्वी थी न आकाश। न उसके परे स्वर्ग लोक। किसने आवृत्त कर रखा था ? वह कहां था ? और किसके आश्रय में था ? क्या वह गम्भीर जल था ? जिसमें यह सब स्थिर था। अन्त में कहा गया है—

इयं विसृष्टिर्यत् आवभूव ।
यदि वा दधे यदि वा न ।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्
सो अङ्गवेद यदि वा न वेद ।।
(ऋ० १०/१२९)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नासदीय सूक्त के आरम्भ में सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में उन्नत सिद्धान्त की स्थापना है। परमात्मा को जो विश्व की पृष्ठभूमि में है हम सत् या असत् किसी भी रूप में ठीक-ठीक नहीं जान सकते। इस सूक्त में दो अत्यधिक सतर्कता से प्रयुक्त पद हैं 'तत्' और 'एकम्'। ये परम तत्त्व के भावात्मक और एकात्मक स्वरूप के अतिरिक्त अन्य किसी बात की ओर संकेत नहीं करते। विचार का यह स्तर हमें अद्वैतवादी चिन्तन के द्वार पर पहुंचा देता है। जो उपनिषदों में चरम परिणति प्राप्त करता है।

ऋग्वेद का 'वागाम्भृणीय सूक्त' (ऋ० १०/१२५) ब्रह्म ज्ञान की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण है। इस सूक्त के देवता परमात्मा और मन्त्रद्रष्टी ऋषिका अम्भृण पुत्री वाक् है। जब जीव को परमात्मा के स्वरूप का तात्त्विक ज्ञान हो जाता है तब उसमें और परमात्मा में अभेद स्थापित हो जाता है। वह अपने परमात्मा की दिव्य शक्तियों का अनुभव करने लगता है। यही स्थिति इस सूक्त की ऋषिका 'वाक्' की हो गई थी।

अथर्व वेद के 'स्कम्भ सूक्त' (अथर्व वेद काण्ड १०/ सूक्त ७/८) और "उच्छिष्ट सूक्त' (अथर्व० ११/९ में) यह ऐक्यवाद और भी स्पष्टहै। स्कम्भ' विश्व का कारण है। वह सर्वव्यापी और सर्वेश्वर है। स्कम्भ को हीविद्वान् लोग 'आत्मा' कहते हैं। 'उच्छिष्ट' स्पष्टत: ब्रह्म का दूसरा नाम है, उसी पर सारा लोक अवलम्बित है।

इस ऐक्य भाव का विकास आगे चल कर उपनिषदों में हुआ है। उपनिषदों में उसका पुरुष रूप नहीं रहा। उपनिषदों में उसे सत्, आत्मन्, या ब्रह्मन् कहा गया है। संसार इसी सत् से उत्पन्न हुआ है, इसी पर आश्रित है।

नेह नानास्ति किञ्चन्।
तत्त्वमसि।
अहं ब्रह्मास्मि।
सर्वं खल्विदं ब्रह्म।

उपनिषदों के ये वाक्य सिद्ध करते है कि संसार में एक ही सत्ता है और इसका नानात्व असत्य है। आत्मा या ब्रह्म ही एक मात्र सत्य है। 'आचार्य शङ्कर' के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुसार उपनिषदों में विशुद्ध अद्वैत की शिक्षा दी गई है। उपनिषदों में विचार का केन्द्र वैदिक देवताओं से हट कर मनुष्य की आत्मा पर गया है। आत्मा का ऐसा सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है जिसमें बाहरी उपलब्धियां छंट जाँए और केवल मूल तत्व रह जाय। सबका मूलाधार आत्म - तत्व है। आत्मा शुद्ध चैतन्य स्वरूप है। इस तत्व को कभी ब्रह्म, कभी आत्मा, कभी केवल सत् कहा गया है।

वेद तथा उपनिषद् के बाद सूत्र साहित्य की उत्पत्ति हुई। दार्शनिक विचारों का सुव्यवस्थित तथा क्रमबद्ध रूप सर्वप्रथम सूत्र साहित्य में ही पाया जाता है। बादरायण के ब्रह्म–सूत्र में वेदों एवं उपनिषदों के दार्शनिक विचारों का संग्रह है। सूत्रों का अर्थ बोधगम्य न होने के कारण उनकी व्याख्या के लिये भाष्य लिखे गये। शङ्कराचार्य, रामानुज, श्रीकण्ठ आदि भाष्यकारों ने ब्रह्म सूत्र के भिन्न–भिन्न भाष्य लिखे और अपने–अपने मतों की पुष्टि की। इस प्रकार उनके सम्प्रदाय बन गये जिनमें आचार्य शङ्कर का अद्वैत वेदान्त सबसे अधिक प्रसिद्ध है।

इस प्रकार प्राचीन वैदिक सूक्तों में जिस अद्वैतवाद का सूक्ष्म आभास हमें मिलता है, वह निरन्तर पल्लवित एवं पुष्पित होते हुये आज आस्तिक दर्शन का एक विशिष्ट सम्प्रदाय बन गया है। कालान्तर में जिस विषय पर इतना अधिक चिन्तन हुआ और हो रहा है वह विषय हमें मिला कहां से ? इस गूढ़ का विषय जो उद्‌गम् स्रोत है वह प्रायः उपेक्षित सा हो गया है क्योंकि वह आदि स्रोत सामान्यतया देवों का स्तुति ग्रन्थ ही माना जा रहा है। परन्तु वहां पर यत्र–तत्र जो दर्शन सम्बन्धी सामग्री बिखरी है वह वैदिक ऋषियों की मानसिक परिपक्वता की सर्वोत्तम उदाहरण है। नि सन्देह इनमें अद्वैत की धारणा अनुस्यूत है जो परवर्ती काल में चरमोत्कर्ष को प्राप्त अद्वैत की अवधारणा की आधार भूमि है।

नोटः— सम्पादक से सहमत होना आवश्यक नहीं है। लेखिका को दूसरे पक्ष का अध्ययन करना चाहिये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

1— M. Hiriyanna — Outlines of Indian Philosophy.

2— डॉ० सूर्यकान्त — वैदिक धर्म और दर्शन

3— Max Muller — Six Systems of Indian Philosophy

4— ऋग्वेद — प्रथम मण्डल, दशम मण्डल

5— अथर्ववेद — काण्ड - १०, काण्ड – ११

6— छान्दोग्य उपनिषद्

7— Deussen — Philosophy of the Upanisads

8— S. Radhakrishnan — Indian Philosophy

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डा० शिवशरण का संस्कृत- हास्य-व्यंग्य

लेखक गोपाल द्विवेदी
५१- विनयनगर खण्ड - १
जेल मार्ग, ग्वालियर म०प्र०-४७४०१२

संस्कृत में व्यंग्य – लेखन की परम्परा यद्यपि प्राचीन काल से ही चली आ रही है, किन्तु वह केवल सामान्य हास–परिहास और फुटकल रूप में ही सीमित रही है। उदाहरणार्थ किसी कवि ने लिखा—

'क्षीरोदधौ हरिः शेते, हरः शेते हिमालये ।
ब्रह्मा पद्मालये शेते, मन्ये मत्कुण - शंकया ।।

अर्थात् विष्णु जी क्षीर - सागर में, शंकर जी कैलाश में एवं ब्रह्मा जी कमलासन में इस हेतु शयन करते हैं, कि उन्हें खटमल न काट सके। वैसे इस व्यंग्य की ध्वनि तो यथार्थ है, कि पराया खून चूसने वाले भगवान तक को नहीं छोड़ते, किन्तु उक्ति में जो प्रभावी सामर्थ्य होना चाहिये, उसका प्रायः यहां अभाव सा है। मध्यकाल में भी कुछ दक्षिणार्थी ब्राह्मणों, कायर क्षत्रियों, धनलोलुप वैश्यों एवं कायस्थों आदि पर भी व्यंग्य लिखे गये किन्तु जाति परक होने के कारण वे समाज में कोई प्रभाव नहीं छोड़ सके। इस बीच कुछ व्यंग्य तो ऐसे भी लिखे गये। जो अश्लीलता की कोटि में पहुंचकर फूहड़ कथन मात्र बनकर रह गये। इस क्षेत्र में महाकवि क्षेमेन्द्र ने कुछ फुटकल व्यंग्य अच्छे लिखे हैं।

वर्तमान युग में हिन्दी में हास्य–व्यंग्य लेखन का पर्याप्त विकास हुआ है। आज बहुसंख्यक हिन्दी रचनाकार इस क्षेत्र में ही लगे दिख रहे हैं, किन्तु उनमे राजनयिक भ्रष्टाचार प्रशासन तंत्र की बुराइयों, स्वार्थ, धनलिप्सा, सामाजिक कुरीतियों एवं विविध बुराइयों पर प्रहार करके सफलता प्राप्त करने वाले कितने हैं, यह कह पाना कठिन है।

आजकल संस्कृत में भी नवीन शैली में हास्य–व्यंग्य लेखन प्रारम्भ हुआ है, किन्तु वह केवल फुटकल रचनाओं तक ही सीमित दृष्टिगत होता है। विगत कुछ वर्षों से ग्वालियर के डा० शिवशरण शर्मा द्विवेदी ने भी संस्कृत के हास्य–व्यंग्य लेखन का कार्य किया है, जो अद्यावधि रचित संस्कृत व्यंग्य-रचनाओं में एक विशेष महत्व

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रखता है। यहां हास्य-व्यंग्य विद्या की अधिक सैद्धान्तिक चर्चा न करते हुये सीधे शिवशरण जी की संस्कृत-व्यंग्य रचनाओं के कतिपय अंश प्रस्तुत करते हुये ही कुछ कहने का प्रयास किया जा रहा है।

वर्ष १९४७ में भारत देश स्वतंत्र हुआ, तो जनता को शुभ परिवर्तन की बड़ी-२ आशायें होनी स्वाभाविक थीं, किन्तु कुछ वर्षों के उपरान्त वे आशायें प्रायः आकाश कुसुम बनती दिखीं और आज तक आते-आते तो अनगिणित बलिदानों के उपरान्त प्राप्त वह बहुमूल्य स्वतंत्रता प्रायः स्वच्छन्दता के रूप में दृष्टिगत होने लगी। इस स्थिति का चित्रण शिवशरण जी ने अपनी प्रसिद्ध एवं व्यंग्य-रचना 'वयं स्वतन्त्राः' में किया है, जिसकी कुछ पंक्तियां प्रस्तुत हैं—

'वयमद्युना भारते स्वतन्त्राः
वयं स्वतन्त्रा हट्टे पातुम्, नग्ना भूवा घट्टे स्नातुम्
नित्यमनेका हत्याः कृत्वा, भारत देशे क्वापि विहर्तुम्,
गत्वा पुनः विधान सभायाम्. सरसमुपानद् वृत्तं रचितुम्
स्पष्टं सत्यमुपेक्ष्य पूर्णतो, भ्रान्तिकरं भाषणं प्रदातुम्,
जातिवाद-दीक्षादाने नयविद्यागुरवो भृशं स्वतन्त्राः।"

अर्थात् आज हम भारत में पूर्ण स्वतंत्र हैं। हम खुले बाजार में पीने को स्वतन्त्र हैं, सार्वजनिक घाट पर नंगे नहाने को स्वतन्त्र हैं, तथा नित्य अनेकों हत्यायें करके देश में कहीं भी घूमने को स्वतन्त्र हैं। विधान-सभाओं में रसमय जूता-पुराण की रचना में भी स्वतंत्र हैं, और स्पष्ट सत्य की भी पूर्ण उपेक्षा करके भ्रान्ति-जनक भाषण देने को भी स्वतन्त्र हैं। साथ ही हमारे राजनीति के दिग्गज दीक्षा-गुरु जातिवाद का मंत्र देने में भी पूर्ण स्वतन्त्र हैं। स्पष्ट है कि, आज के परिवेश में नित्य ही, कुछ ऐसे ही दृश्य देखने-सुनने को मिलते हैं। इन पर व्यंग्यकार का चुटीला प्रहार सर्वथा उचित है। इसी रचना में वे और लिखते हैं—

'आरक्षिणां स्वतंत्रा दण्डाः, परं स्वतंत्रा दिग्गज-मुण्डाः
फलैः सहाद्य रूप्यके स्यातुम्, स्वयं स्वतंत्रा जाता अण्डाः,
भवितुं पृथक् स्वतंत्रा जाता, देहस्योदर-पद-भुजदण्डाः
मौनव्रत धारणे स्वतंत्रा विदुषामपि भारती प्रचण्डा,
बग्नो शीतलता-सिद्ध्यर्थम्, बुद्धि जीविनो महास्वतंत्राः।'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थात् आज पुलिस का डंडा स्वतंत्र है, दिग्गज लोगों के लँबे हाथ स्वतंत्र हैं, रुपये के सिक्के पर फलों के साथ बैठने में अण्डे भी स्वयंमेव स्वतन्त्र हो गये हैं। आज शरीर के हाथ, पैर तथा पेट भी पृथक् रूप से स्वतन्त्र हो रहे हैं, तथा इस स्थिति में विद्वानों की वाणी भी मौन धारण करने में पूर्णतः स्वतन्त्र है। बुद्धिजीवी वर्ग भी आग को शीतल सिद्ध करने में महास्वतंत्र हो गया है। वस्तुतः समाज को अस्वस्थ बनाकर पंगु बना देने वाले बीमारियों के उक्त कीटाणुओं पर शिवशरण जी ने अपनी वाणी के कीटाणु नाशक रस का छिड़काव बहुत ही सुन्दर रूप में किया है।

जैसे डा० शिवशरण भी भारतीय संस्कृति के पुजारी तथा देश के राष्ट्रीय गौरव के गान करने वाले संस्कृत कवि हैं जो हृदय में भारत को जगद्गुरु मानते हैं, किन्तु हम गीत तो अपने अतीत गौरव के गायें और आचरण उसके विपरीत करें, इस पर चोट करते हुये वे एक अन्य रचना में कहते हैं—

'महागुरुरहं भज मे शरणम्
परम गुरोर्मे कुरु अनुसरणम्।
अहमुत्कोच - विकोराचार्यः जानाम्यस्या नैकाः सृतयः,
स्वीकृत्यैकामपि तासां क्षुद्रा अपि जायन्ते धनपतयः,
भज मामेवेच्छसि कर्तुं यदि ससुखमर्घता-सरितातरणम्॥
कार्यारंभो नहि विधीयते, मया कदापि निश्चिते काले
निश्चेष्टः तिष्ठामि सर्वदा, संजातेऽपि महाभूचाले,
भक्तो दीर्घसूत्रता - सूत्रं ज्ञात्वा, कुरु सुखशय्या — वरणम्।२।
अहमेकास्मि सुत-व्यापारी, पुत्रवधु—मारणे प्रसिद्धः
बहुशः पुर्नविवाहं कृत्वा, बहु-यौतुक-हरणे सन्नद्धः,
तिष्ठ मदीये शिष्यत्वे, कर्तुं वांछसि यदि परधन—हरणम्।३।

अर्थात् मैं एक महागुरु हूं। मेरी शरण में आकर मित्र! मेरा सादर अनुसरण कर। मैं घूस विद्या का परमाचार्य हूं तथा रिश्वतखोरी के इतने तरीके जानता हूं कि यदि तू उनमें से एक भी सीख ले, तो रंक से करोड़पति बन सकता है। अतः यदि मंहगाई-रूपी नदी को सुख से पार करना चाहता हो, तो शीघ्र मेरा शिष्य बन जा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मैं निश्चित समय पर कभी कोई कार्य नहीं करता। दुनिया में भूचाल ही क्यों न आ जाय, पर मैं सदा निश्चेष्ट बैठा रहता हूं। मित्र! मुझ से ही कार्य में विलम्ब करने का सूत्र सीखकर आराम से शय्या में लेटकर नींद ले।२। पुत्र वधुओं के मारने में दक्ष एवं पुत्रों का व्यापारी भी मैं उत्तम कोटि का हूं। अनेक पुनर्विवाह करके दहेज का ढेर एकत्र करने में भी मैं निरन्तर तत्पर रहता हूं। अतः यदि तुझे दूसरे की गांठ का धन ऐंठने की कला सीखनी हो, तो मेरा शिष्यत्व शीघ्र स्वीकार कर।३।

कवि ने भारतीय समाज में तेजी से फैल रहे उपर्युक्त दुर्गुणों का पर्दाफास करके अपनी व्यंजना द्वारा उनसे सजग होकर दूर होने की ही तो सशक्त प्रेरणा दी है।

'दिवसो न शोभते यथात्र भास्करं विना,
हट्टो न शोभते तथैव तस्करं विना।
सौजन्य - शील - सत्यभाषणादयो वृथा,
वैदुष्यमत्र शोभते न मत्सरं विना।
वैशाख–मास उच्यते लोकेषु वसन्तः,
शोभां न याति सोऽपि गर्दभ-स्वरं विना।'

अर्थात् जैसे दिवस बिना सूर्य के सुशोभित नहीं होता, वैसे ही बाजार भी चाहे जितना बड़ा और सुन्दर क्यों न हो, वह बिना तस्कर–व्यापारियों के सुशोभित नहीं होता। किसी विद्वान् में सौजन्य, सत्य तथा शील आदि लाख सद्गुण क्यों न हों किन्तु वह तब तक शोभा को प्राप्त नहीं हो सकता, जब तक उसमें ईर्ष्या रूपी सद्गुण न समाहित हो जाय। इसी प्रकार वैशाख के महीने को लोग लाख बार वसन्त के रूप में प्रशंसित करना चाहें तो व्यर्थ। न तो खलिहानों की अन्नराशि ही उसे सुशोभित कर सकती है, और न पुष्पित पलाश ही। उसकी शोभा तो तभी होगी जब उदात्त स्वर से गधे रेंकने लगेंगे।

आशा है गजल के हिन्दी भावानुवाद से काव्य मर्मज्ञ कवि के व्यंग्य की ध्वनि को सहज ही हृदयंगम कर सकेंगे। इसी से मिलती-जुलती 'बिना' शीर्षक एक व्यंग्य गजल की कुछ पंक्तियां और देखें—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'कार्यालयेषु सन्तु नाम मित्र-बान्धवा:,
कार्यं न जायते परं सुविधा-करं विना ।
अधिकारि - गेहिनी-सखीगणोऽति विस्तृत:,
नैषा बहि: प्रयाति किन्तु कुक्कुरं विना ।
नैके सहायका भवन्तु मन्त्रिणो दले,
यात्रा न समारभ्यते वार्ताहरं बिना ।'

अर्थात् किसी कार्यालय में भले ही आपके अनेक परिचित मित्रगण क्यों न हों, यदि कार्य कराना हो तो सुविधा - शुल्क की व्यवस्था किये बिना वहां न जाइये। हमारे बड़े साहब की सहेलियों का समुदाय तो बहुत बड़ा है, किन्तु टहलने के समय बिना कुत्ते की जंजीर थामे वे बाहर केवल किसी सहेली के साथ निकलना पसन्द नहीं करती। हमारे मंत्री जी की यात्रा के समय भले ही अनेक सुयोग्य सहयोगी क्यों न हों, बिना पत्रकार जी को लिये वे यात्रा प्रारम्भ ही नहीं करते ।

संभवत: सहृदयों को उक्त व्यंग्यों की व्याख्या की आवश्यकता ही नहीं है। इसी प्रकार एक स्थान पर कवि आज के युग की सिद्धि-प्रदायिनी चाटुकारिता देवी को प्रणाम करते हुये कहता है—

'चाटुकारिते देवी ! नमस्ते
योग्या अपि तव कलाऽनभिज्ञा: सततं प्राप्नुवन्ति धिक्कारम्,
यो जानीते तव प्रयोग मन्दोप्येष शिरसि धार्यते ।'

है चापलूसी महारानी ! तुम्हें सादर प्रणाम। योग्य से योग्य व्यक्ति भी यदि तुम्हारी कला से अनभिज्ञ रह गया तो उसे सदैव धिक्कार का ही पात्र बनना पड़ता है। और तुम्हारी साधना में कुशल कोई बेवकूफ ही क्यों न हो, वह सर्वत्र सिर-माथे बिठाया जावेगा। अत: सफलता चाहने वालो ! इन देवी की साधना अवस्य करो।

अन्त में कवि की 'वरम्' शीर्षक एक गजल के मात्र तीन चरण उद्धृत करके लेख समाप्त किया जावेगा। शब्द हैं—

'निजदेह - पोषणार्थमन्य–भक्षणं वरम्
कार्यो विनाश एव, नास्ति रक्षणं वरम् ।
एकैव गीतिका सदा गेया मुहुर्मुहु:
व्यर्था नवा क्रियाऽस्ति पिष्टपेषणं वरम् ।
माता महीप गर्विता चेज्जायते वधू:
तस्या: प्रसादनाय पाद – वन्दनं वरम् ।'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उक्त चरणों का शब्दार्थ है कि अपने शरीर को पुष्ट बनाने हेतु दूसरों का भक्षण सर्वथा उचित है। यदि कोई करने योग्य कार्य है, तो वह है विनाश। लोक रक्षण की बातें बकवास हैं। जो गीत वारम्बार सदैव गाया गया हो, उसी को दुहराते रहना ही उत्तम है। कोई नया कार्य करने की बात सोचना भी मूर्खता है। आज तो बस पिष्ट – पेषण ही श्रेयस्कर है। अगर बहू जी अहंकार से भरकर दादीजी की भांति नाराज हो जावें तो उनके प्रसन्न करने का सर्वोत्तम उपाय है, उनकी चरण–वन्दना।

उक्त शब्दों से चतुर सहृदय जन विभिन्न प्रकार की व्यंजनायें निकाल सकते हैं। संभव है, गजल के प्रथम चरण का लक्ष्य स्वार्थी एवं भ्रष्ट शासक-वर्ग हो। द्वितीय चरण मे भी कुछ ऐसी ध्वनि निकाली जा सकती है कि 'कश्मीर भारत का अभिन्न अंग है' इसकी रट तो बार–बार लगाई जाती है, किन्तु उसे चरितार्थ करने की किसी ठोस कार्यवाही को व्यर्थ ही समझा जाता है। इसी भांति अन्तिम चरण में चर्चित 'बहूजी' पाकिस्तान भी हो सकता है। किसी सफल व्यंग्य – कवि की यही तो विशेषता होती है कि सुविज्ञ सहृदय - जन उसकी उक्तियों को विभिन्न प्रसंगों से जोड़कर विभिन्न अर्थ निकाल सकें, और उनमें जिन बुराइयों पर चोट की गई है, उनसे दूर हटने- हटाने की प्रेरणा प्राप्त कर सकें। संभवतः यह विशेषता शिवशरण जी में विद्यमान है।

इस भांति प्रस्तुत लेख में डा० शिवशरण शर्मा द्विवेदी की कुछ संस्कृत-व्यंग्य-रचनाओं की कुछ पंक्तियों के उदाहरणों से, संस्कृतज्ञों के साथ हिन्दी के पाठक भी उनकी व्यंग्य – रचना – क्षमता से परिचित हो सकेंगे, ऐसी आशा है। एक तो संस्कृत जैसी भाषा की रचना, दूसरे अत्याधुनिक छन्दों में, तीसरे हास्य – व्यंग्य जैसे विषय पर, ऐसे समय सफलता - पूर्वक कुछ लिखना, जबकि संस्कृत में अभी इस विद्या का श्रीगणेश ही हुआ है, वस्तुतः कवि की रचना – प्रतिभा का परिचायक है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वैष्णोई सम्प्रदाय के महत्व की विवेचना

डा० रोहतास कुमार
भैरवोखान, सीरसा
हरियाणा-१२५०५५

वैष्णोई सम्प्रदाय की विशेषता उनके इस मत में प्रकट होती है कि ईश्वर को गृहस्थ में रहकर ही ज्ञान द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। इसी तरह के मत को साधारण सांसारिक लोगों के लिए एक वरदान कहें, तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। कबीर कहते हैं कि भगवान मनुष्य में उसी तरह समाया हुआ है जैसे मृग की नाभि में कस्तूरी, परन्तु मृग उसे जंगलों में खोजता फिरता है। मनुष्य के अन्दर ही भगवान है। परन्तु ज्ञान न होने के कारण वह इधर-उधर भटकता रहता है। यह अज्ञान केवल गुरू के द्वारा ही दूर हो सकता है।[1] ईश्वर प्राप्ति का मार्ग सदाचारपूर्ण जीवन, गुरू में अखण्ड विश्वास और आत्मसमर्पण है।[2] इन साधनों के अनुसार जीवन व्यतीत करने के लिये घर-बाहर छोड़ना, अपने कर्तव्यों से भागना या किसी तरह के कर्मकाण्ड को करना आवश्यक नहीं। व्यक्ति परिवार में रहता हुआ भी गुरू द्वारा बताये गये आदर्श पर चलकर परम तत्त्व को प्राप्त कर सकता है। अब प्रश्न उठता है कि वैदिक काल में ऋषि लोग घोर तपस्या आदि करते थे और उन्हें भी तो तत्व ज्ञान हो जाता था। यह कैसे? इसका उत्तर यह है कि वे कर्मकाण्ड को महत्व नहीं देते थे, बल्कि ज्ञान और आत्मसमर्पण से भी पहले वर्णाश्रम व्यवस्था का पालन करते थे और बाद में ब्रह्म प्राप्ति की जिज्ञासा करते थे। अतः वैदिक ऋषि जीवन से पलायन नहीं करते थे बल्कि अपने जीवन भर के अनुभवों को वानप्रस्थ और संन्यास काल में लोगों के सामने रखते थे, ताकि समाज में नैतिकता बनी रहे और सन्तुलन भी। जाम्भो जी ने इसमें समयानुसार कुछ संशोधन करके बताया कि विष्णु प्राप्ति के लिये शरीर आदि को तपाने की जरूरत नहीं, न नाथों की तरह हठ-योग करने, अथवा माला फेरने या यज्ञादि करने की जरूरत है बल्कि सहज उपासना द्वारा ऐसा मार्ग अपनाया जाना चाहिए जिसे सभी गृहस्थ सहर्ष स्वीकार कर सकें।

१— लेखा एक निरंजन जैसी, जहाँ चीन्हों तहां पायो।

शब्द वाणी जम्भ सागर, १६/२

२— सतगुरू मिलियो सतपंथ बतायो, भ्रान्त चुकाई। वही, २६/५, १०७/२
ऊंगुरू हीरा विणजे लेहम, गुरू ने दोष दैणा। वही, ५३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नाम जाप द्वारा सहज उपासना का पालन करते हुए विष्णु की कृपा प्राप्त की जा सकती है।[1] ध्यान पूर्वक विचार करने पर ज्ञात होता है कि जाम्भो जी के मत का सामाजिक मूल्य है। वस्तुतः जाम्भो जी किसी विशेष धर्म या सम्प्रदाय विशेष के पोषक नहीं थे। उनकी भावना 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की थी। उनके लिये सभी धर्म समान थे। उन्होंने सभी धर्मों के लोगों को समान दृष्टि से देखा तथा उन्हें स्वीकार किया। अतः हम उन्हें 'धर्म निरपेक्ष' की संज्ञा भी दे सकते हैं। जाम्भो जी की वाणी का गहराई से अध्ययन करने पर पता चलता है कि उन्होंने अपनी वाणी को अन्य सन्तों की तरह नहीं गाया बल्कि जिस किसी ने जैसा प्रश्न उठाया उसे उसी प्रकार का देश-काल-परिस्थिति के अनुसार उत्तर दिया। यही उनकी वाणी की महानता है। मानवता का उपदेश देते हुए उन्होंने कहा कि जहां कहीं भी अन्याय हो, चाहे चेतन प्राणी पर हो या जड़ पर, उसका विरोध करते वक्त जीवनदान भी देना पड़े तो दे देना चाहिये। इसी से प्रेरित होकर लोगों ने राजा द्वारा खेजड़ी वृक्ष कटवाने का विरोध किया और शहीद हो गये। इस विरोध के कारण राजा को वृक्ष काटने पर रोक लगानी पड़ी। वर्तमान युग में जाम्भो जी द्वारा प्रदान किये गये वचनामृत को यदि हम ग्रहण न करें और मानवता तथा नैतिकता को गर्त में डालें तो इसमें उनका कोई दोष नहीं। वर्तमान समय में जाम्भो जी की वाणी को पुनः समझने की आवश्यकता है, ताकि हमारी गिरती हुई नैतिकता को उनकी वाणी द्वारा पुनः एक सहारा प्राप्त हो सके और हम सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक और राजनीतिक क्षेत्रों में मानवता की स्थापना कर सकें।

वैष्णोई सम्प्रदाय की शिक्षा ऊंच-नीच, जाति-पाति आदि के भेदभावों से मुक्त थी। जाम्भो जी ने बताया कि विष्णु की भक्ति में किसी जाति या वर्ण विशेष का होने की आवश्यकता नहीं। विष्णु भक्ति में सभी एक हैं। जो व्यक्ति

१— विस्तार से देखें – शब्दवाणी जम्भसागर में हिन्दू, मुसलमान तथा नाथयोगियों के पाखण्ड

२— ॐ विष्णु विष्णु भण रे प्राणी, ऐंके लाख उपाजूं।

२— रतन काया बैकुंटे बासो, तेरा जरा मरण भय भाजूं ।। वही, ११९

ॐ विष्णु विष्णु भण अजर जरीले, धर्म हुवे पापां छुटीजै ।वही, १०२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस भू–लोक में रहता हुआ ब्रह्म–ज्ञान प्राप्त कर लेता है वही ब्राह्मण हैं। इस मध्यकाल में फैले पाखण्डों और ब्राह्मणों द्वारा सताई गई जनता इस तरह की उदार-वादी मत के फलस्वरुप वैष्णोई–सम्प्रदाय की तरफ आकृष्ट होने लगी। इसका सबसे बड़ा फायदा यह हुआ कि निम्न वर्ग के जो लोग हिन्दुओं द्वारा तिरस्कृत होकर बड़ी संख्या में मुसलमान बनते जा रहे थे, वे जाम्भो जी की वाणी से अपनी वास्तविकता को पहचानने लगे और अपनी मौलिक स्थिति में रहने की सोचने लगे। इस प्रकार हिन्दू धर्म सजीव और संगठित बना रहा। मध्यकालीन समाज में यह एक बहुत बड़ी समस्या सामने आयी कि वर्णव्यवस्था का नामोनिशान न रहा। सारा समाज जातिवाद में फंस गया। जो व्यक्ति अपनी जाति में आचरण--भ्रष्ट हो जाता था उसे उसी समय उस जाति से तिरस्कृत वह व्यक्ति अपनी अलग जाति बना लेता था। इस कारण जातियां - उपजातियां बनती जा रही थीं। उच्च वर्ण के लोग उनसे घृणा भी करने लगते थे। दूसरी तरफ मुस्लिम समाज ने उन जातियों को अपने धर्म में समाने की पूरी छूट दे रखी थी।

ऐसी स्थिति में हिन्दू संस्कृति की रक्षा का एक यही मार्ग था कि वेद उपनिषदों स्मृतियों तथा पुराणों का पुनरावलोकन करके क्षेत्रीय भाषा में लोगों के समक्ष अपनी हिन्दू परम्परा को सारे भेदभाव भुलाकर प्रस्तुत किया जाए। मध्यकालीन सन्तों जैसे कबीर, दादू, गुरुनानक आदि ने यही किया। उन्हीं की तरह जाम्भो जी ने भी अपनी वाणी को मरू भाषा में प्रस्तुत किया। उनकी वाणी का चिन्तन करने पर यह स्पष्ट होता है कि उन्होंने उपनिषदों का सार प्रस्तुत किया है। उन्होंने धार्मिक विचारों से ऊंच–नीच के भेद भाव को मिटाने की कोशिश की। ऐसा जाम्भो जी के प्रयास के फलस्वरूप केवल राजस्थान में ही नहीं हुआ बल्कि सारे भारत में सन्त–मत के विकास के मूल में जाति - भेद उच्छेद का बहुत बड़ा हाथ था। जाति-भेद के निराकरण के लिए सन्तों के पास अनेक प्रकार के तर्क थे। जब चारों वर्णों के लोगों को भगवान ने स्वयं उत्पन्न किया है, और सब की उत्पत्ति में समानता अपनाई है तो किसी को भी क्या अधिकार है कि वह निम्न वर्ण के लोगों को भेदभाव की दृष्टि से देखें। जब सभी व्यक्ति पंच/तत्व से मिलकर बने हैं तो उनमें भेद नहीं होना चाहिये। यह ठीक है कि किसी का जन्म उच्च कुल या नीच कुल में होना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूर्व संचित कर्मों के कारण होता है।[1] लेकिन जिस तरह हम अपने घर में कर्मफल को भोगते हुये किसी रोगी का तिरस्कार नहीं करते, वैसे ही हमें कर्मफल के फलस्वरूप किसी निम्न वर्ण या घराने में जन्म लेने वाले मानव के तिरस्कार का भी कोई अधिकार नहीं। अगर हो सके तो कर्मों के जाल में फँसे मानव को उद्धारकारी गुरु से मिलाया जाये, ताकि वह उनके द्वारा बताये गये रास्ते पर चलता हुआ मुक्ति प्राप्त कर सके। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि गुरु जम्भेश्वर जी ने आध्यात्मिकता और समाज - सुधार का सामंजस्य स्थापित करके मानव जाति के अस्तित्व को बचाने का महान् कार्य किया।

गुरु जम्भेश्वर जी ने नामोपासना का बड़ा महत्व बताया है। विष्णु (ब्रह्म) के नामजाप से मुक्ति को साध्य मानते हुये कहा है कि जो व्यक्ति शुद्ध हृदय से विष्णु का जाप करते हैं, वे महान विभूति (ब्रह्म) की तरफ आकर्षित होते हैं और उनकी लाज रखने के लिये या सहायतार्थ भगवान उनकी तरफ दौड़ पड़ते हैं।[2] इस तरह जीव और ईश्वर का स्वाभाविक रुप में मिलन सम्भव है। यही मुक्ति है। आगे कहते हैं कि लोग व्यर्थ ही अपने मन की शुद्धि के लिए जंगलों, मन्दिरों, मस्जिदों और अन्य पाखण्डों में फंसते हैं और अपने अमूल्य जीवन को नष्ट करते हैं। लेकिन उस समय तक मनुष्य की आत्मा शुद्ध नहीं होगी जब तक वह गुरु-प्रदत्त नामाभ्यास नहीं करता उसकी वही स्थिति होती है जैसे समुद्र में पक्षी घूम-घूम कर उसी जहाज पर आ बैठता है अर्थात् व्यक्ति अपनी आत्मशुद्धि के लिये व्यर्थ में इधर-उधर भटकता है[3], परन्तु अन्त में गुरु की शरण से ही उसका उद्धार होता है। इसलिये गुरु जम्भेश्वर जी ने बार-बार सांसारिक जीवों को चेतावनी देते हुए कहा है कि यदि आप मुक्ति चाहते हैं तो विष्णु के नाम का जप करें (शब्द ११९) उसी में रमते हुए इस नश्वर संसार से पार उतरा जा सकता है ओर विष्णु ही प्राणदाता हैं। आगे कहते हैं कि

१— विस्तार से देखें— वही, रानी झाली का प्रसंग। शब्द. ११०/२

२— वही, जाम्भो जी द्वारा वर्णित दस अवतार वर्णन और तैंतीस करोड़ लोगों का उद्धार।

३. जां जां जोव न जोती, तां तां मोख न मुक्ति, वही ५८/१०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानव शरीर में पवित्रात्मा का वास है और वही ब्रह्म है[1] अर्थात् उसमें ब्रह्म नाम की सत्ता विद्यमान रहती है। विष्णु का नाम जपने से सभी दुःखों और रोगों आदि का अन्त हो जाता है तथा आत्मा पर संचित कर्मों का आवरण हट जाता है। इस प्रकार आत्मा देदीप्यमान होती हुई ब्रह्म के साथ एकता प्राप्त कर लेती है। यही वह शक्ति है जिससे सभी दुर्गुणों का नाश होता है तथा जीव निर्वाण—पद को प्राप्त करता है। अतः नाम—जाप ही सर्वोपरि है। तीर्थ आदि पाखण्ड व्यर्थ हैं। गुरु जम्भेश्वर जी ने विष्णु को सत्यं शिवं सुन्दरं मानते हुए कहा है कि वही एक मात्र सत्य है, सभी दुःख रोग, भोग, अनुभूतियों से परे हैं, वही उत्थान हैं, वही पतन है, उसे किसी सीमा में नहीं बांधा जा सकता, वही सबका कल्याण करने वाला है, भक्त को अमरता का वरदान देते हुये अपने समान बनाता है विष्णु नाम-जाप ही संसार से पार ले जाने की शक्ति रखता है। नाम कभी भी देखने की वस्तु नहीं बल्कि यह तो अन्तः करण द्वारा अनुभव की चीज है। जिसने भी इस नाम—जाप का रसपान किया है, वही इसका मूल्य जान पाता है, अन्य कोई नहीं। अब प्रश्न उठता है कि अज्ञान में पड़ें जीव को सत्य का ज्ञान कौन करायेगा ?

जाम्भो जी कहते हैं कि गुरू ही वह खिवैया है जो माया का आवरण हटा कर जीव को ब्रह्म का ज्ञान करा सकता है, अन्य कोई नहीं। गुरू ही ईश्वर का मानवीय रूप है जो जीवों को चेतना और जागृति देने के लिये स्वयं ब्रह्म ने नियुक्त किया है। अतएव जाम्भो जी कहते हैं कि मैं इस नश्वर संसार[3] में जीवों को उनकी वास्तविकता का ज्ञान कराने के लिए ही आया हूं। डंकेन ग्रीनलेस (गॉस्पल ऑफ गुरू ग्रंथ साहिब) में लिखते हैं कि 'ईश्वर प्राप्ति का कोई सुगम और छोटा मार्ग नहीं है, ईश्वर की उपलब्धि उसी के द्वारा नियत साधनों से ही संभव है। अतः जीव

---

१. भवन भवन म्हे एका एका जोती, चुन चुन लिया रतना मोती। वही, ६ ऊं शब्द सो हं आप, अन्तर जपै अजप्पा जाप।

वही साधू गुरु दीक्षा मन्त्र

२. न मेरे मायन, ना मेरे बाप, मैं अपनी काया आप संवारी।
जुग छतीसौं शुन्यहिवरत्या, सतजुग माही सिरजी सारी। वही, ८३/१

३— जो चित होता सो नाहीं, भल खोटा संसारू।
किसकी माइ किसका भाई, किसका पख पखारूं। वही ३३/२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने सुकर्मों के फलस्वरूप किसी सन्त या गुरू की संगति से ही वास्तविकता पहचान सकता है। भक्ति ही एक ऐसी स्वर्णमयी वस्तु है जो किसी महात्मा या गुरू के प्रथम मिलन में ही हृदय में अंकुरित होती है और धीरे-धीरे प्रचण्ड आग की तरह बढ़ती हुई मन की मलिनता को भस्म करती हुई आत्मा को स्वर्णमयी बना देती है। शुद्ध मन में ब्रह्म का पहले से ही निवास है। सच तो यह है कि जहां सच्चा गुरू है वहां ईश्वर का पहले ही निवास है। सन्त और ईश्वर का योग इतना निकट का है कि यह नहीं कहा जा सकता कि कौनसी शक्ति कार्यरत है, वे दोनों पृथक्-पृथक् हैं या मात्र एक ही हैं।[1] गुरू जम्भेश्वर ने भी तो यही दर्शाया है कि गुरू ही परमात्मा का रूप है। यदि संसार में किसी ने ईश्वर पाया है तो वह गुरू की कृपा से ही, अन्यथा नहीं।[2] गुरू के शब्दों में परमानन्द की गूंज निहित है। उसी की सेवा से जीव परलोक का सुख अनुभव कर सकता है। अतः गुरू की कभी भी निन्दा नहीं करनी चाहिये।[3] इस प्रकार उनका कहना है कि इस संसार में असंख्य शास्त्र हैं जो मोक्ष का रास्ता बताते हैं परन्तु वे कभी भी अविद्या का आवरण नहीं हटा सकते,[4] बल्कि गुरू ही उनका तत्व जान कर मुक्ति दिला सकता है। इससे यही स्पष्ट होता है कि गुरू जम्भेश्वर जी ने गुरू को सर्वोच्च स्थान दिया है। क्योंकि गुरू ही एक मात्र मुक्तिदाता है, अन्य साधन नहीं।

गुरू जम्भेश्वर की वाणी की यह भी विशेषता रही है कि इस संसार में जो भी कार्य हो रहे हैं वे सभी ईश्वर (विष्णु) की कृपा पर ही आश्रित हैं। उसकी इच्छा के बिना कोई पत्ता तक भी नहीं हिल सकता अर्थात् विष्णु इच्छा ही सर्वोपरि है,[5] यही उनका उपदेश था। गीता के अनुसार बताते हुए वे कहते हैं कि व्यक्ति अपने जीवन

१— डंकेन ग्रीन लैस— गॉस्पाल आफ गुरू ग्रथ साहित्य, ६१

२— सतगुरू मिलियो सतपंथ बतायो, भ्रान्त चुकाई सुगरा भयो विश्वासूं।
शब्दवाणी, जम्भ सागर, वही, १०७/२

३— ॐ जके पंथ का भांजणा, गुरू का नींदणा, स्वामी का दुसमणा।
कुफर ते काफरा, कुगली कुपातूं कुचीला कुघातूं। वही, ११२

४— ॐ पढ़ कागल वेदूं शास्त्र शब्दूं, पढ़ सुण रहिया कछु न नहिया। वही, २७/७

५— ब्रह्मा इन्द्र सकल जग थरप्या दीन्ही करामाल केली बारी। वही ९८/२
ॐ शब्द गुरुदेव निरंजन, ता इच्छा से भये अंजन॥ वही, बालक मन्त्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को सफल बनाने हेतु गुरू की कृपा से सद्‌गुणों का विकास करता है, यही जीव का कर्म है परन्तु उसे फल की इच्छा नहीं करनी चाहिये। जीव के सुख दुःख, भोग, रोग, हर्ष विलास आदि उसी पर ही निर्भर करते हैं। इससे यही स्पष्ट होता है कि गुरू प्रदत्त नाम-जाप का आश्रय लेकर ईश्वरेच्छा को शिरोधार्य समझ कर आगे बढ़ने की कोशिश करनी चाहिये। इस प्रकार प्रकाश स्वयं फैलता जायेगा, माया रूपी अज्ञान अपने आप हट जायेगा।[1] परम तत्व के बारे में बताते हुए जाम्भो जी कहते हैं कि वही (विष्णु) सत्यं ज्ञानं अनन्तं है अर्थात् वही सत्य है वही ज्ञान-स्वरूप है तथा उसका न कोई आदि है और न अन्त है।[2] वह स्रष्टा होने के साथ-साथ जीव से भी सम्बन्धित है। आचार्य परशुराम चतुर्वेदी लिखते हैं कि 'इस संसार में जो वस्तु है या क्रियायें है एक ही में सम्मिलित है तथा ओतप्रोत हैं और कोई भी अंश किसी भी रूप में उस एक मात्र सत्य ब्रह्म से अलग नहीं है।"[3] जाम्भो जी कहते हैं कि हुक्म देने वाला तथा जिसे हुक्म दिया जा रहा है वे सब एक हीहैं अर्थात् भिन्न नहीं हैं। इसका अर्थ यह है कि गुरू जम्भेश्वर सर्वात्मवाद पर जोर देते हैं। इस सर्वात्मवाद के द्वारा व्यक्ति में अहम् भाव समाप्त हो जाता है, जो समाज दर्शन का एक नैतिक आधार है। इस सर्वात्मवाद को मानवतावाद कहें तो अनुचित नहीं होगा, क्योंकि मानवतावाद का स्वरुप मनुष्य की निःस्वार्थ भलाई में ही निहित है। इसकी सर्वात्मवाद से संगति बैठती है। दर्शनशास्त्र के एक क्षेत्र नीतिदर्शन ने इस सिद्धान्त को अपनाया है। सर्वात्मवाद का मुख्य लक्ष्य

---

१. बुरो जुंणी चवरासी भुंविसी, भलो आवा गुवणि वणि न आवी ।।वही, ४०/१

२. अल्हाह अलेख अडाल अजोनी स्वयंभ जिहि का किसा बिनाणों। वही, ६/२
विस्तार से देखें, शब्द ४/१–१२, १४, १६, ८३/३, १०१/३, ८४/१, १०५, ११५/१ एवं

मोरी आद न जाणत, महीयल धूवां वखाणत उरध ले ढाक तसूल।
आद आद तो हम रचिलो, हमें सरजिलो कौंण ।। २/३–४

३. आचार्य परसु राम चतुर्वेदी—उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, पृ० ३४४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनुष्य की भौतिक, आर्थिक, सामाजिक उन्नति के साथ - साथ उसकी आध्यात्मिक उन्नति भी है, जिससे कि समाज में छल, कपट, दम्भ का अन्त हो जायेगा और शान्ति तथा सुरक्षा का राज्य स्थापित होगा। मानवतावाद का पोषण मानव के सांस्कृतिक उत्थान, चारित्रिक मूल्यों के विकास कुरीतियों से ग्रस्त समाज के कष्टों तथा बेईमानी के निराकरण और जीवन में आनन्द तथा अन्त में मोक्ष रूपी आदर्श के द्वारा ही होता है।

यह मानवतावाद समाज में उस समय तक लागू नहीं होगा जब तक समाज में फैली बुराईयों का समूल नाश नहीं होता है। जाम्भो जी ने अपनी वाणी में यही दर्शाया है कि जब तक व्यक्ति में मानवता की भावना नहीं उत्पन्न होगी और समाज में फैली बुराईयां दूर नहीं होगी, तब तक मानव समाज का कल्याण तो क्या अपना भी कल्याण नहीं कर पायेगा (२९ नियम)। जाम्भो जी ने 'मनुष्य के लिए' का सिद्धान्त अपनाते हुए पूर्ण आस्तिकता और सात्विकता के आधार पर समाज में व्याप्त बुराईयों को दूर करने की कोशिश की अन्त में यह कहा जा सकता है कि मानवतावाद, आस्तिकता एवं सर्वात्मवाद के आधार पर मानव की सर्वतोमुखी उन्नति को प्रशस्त किया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कालिदास के नाटकों में वर्णाश्रम व्यवस्था

अनीता सक्सैना ५६०, चित्रगुप्त कालोनी
कासगंज (एटा) पिन : २०७१२३

कालिदास का स्थितिकाल (ई० पू० प्रथम शताब्दी) बौद्ध धर्म के ह्रास और वैदिक धर्मोत्थान का युग था। वैदिक धर्म दर्शन के अनुसार व्यवस्थित वर्णाश्रम धर्म में उनकी गहन अवस्था थी। यद्यपि कालिदास के समय तक वैदिक धर्म पौराणिक रूप में परिवर्तित होने के साथ - साथ शैव और वैष्णव सम्प्रदाय में विभक्त हो गया था। तत्कालीन जनता शिव के साथ - साथ विष्णु की उपासक होने के कारण राम और कृष्ण को विष्णु की अवतारों के रूप में स्वीकृत कर चुकी थी।

जहां तक कालिदास के काल में प्रचलित वर्णाश्रम व्यवस्था का प्रश्न है वह वैदिक वर्णाश्रम व्यवस्था के अनुरुप थी। उस पर रामायण महाभारत कालीन व्यवस्था की भी स्पष्ट छाप परिलक्षित होती हैं।

वर्ण शब्द की व्युत्पत्ति 'वृ' धातु से हुई जिसका अर्थ है 'वरण करना या चुनना'। इससे यह व्याख्यायित है कि जो व्यक्ति जैसी शारीरिक एवं बौद्धिक क्षमता रखता है वह उसी वर्ण को माना जाता था। जैसे यदि कोई ब्राह्मण देश रक्षा आदि क्षत्रियोचित कार्यों को करता था तो वह ब्राह्मण न होकर क्षत्रिय वर्ण का माना जाता था, इसी प्रकार यदि कोई वैश्य अपने वर्णागत कार्य को छोड़कर सेवा आदि का कार्य करता था तो वह शूद्र कहलाता ध।। यही वर्ण व्यवस्था के परिवर्तन का स्वरुप मनुस्मृति में स्पष्ट रूप से मिलता है—

'शूद्रोब्राहमणतामेति, ब्राहमणश्चैव शूद्रताम्
क्षत्रियाज्जात मेवन्तु. विद्या दैश्यान्तथैव च'।

वैदिक काल में चारों वर्णों की उत्पत्ति विराट् पुरुष के क्रमशः मुख, बाहुओं, जंघाओं, एवं पैरों से होने का प्रमाण मिलता है—

'ब्राह्मणो स्य मुखमासीत् बाहूराजन्यः कृतः।
ऊरुतदस्य यद् वैश्यः पदभ्यां शूद्रोऽजायत ॥[2]

१— मनुस्मृति अध्याय १०/६५
२— ऋग्वेद – पुरुषसूक्त–मन्त्र १२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राचीन काल में वर्ण व्यवस्था सामाजिक संरचना की उदात्त परिकल्पना थी क्योंकि वर्ण व्यवस्था का आधार चार कर्मों पर था—

ज्ञानात्मक कर्म
शक्ति प्रधान कर्म
धनार्जनात्मक कर्म
श्रमात्मक कर्म

इन्हीं कर्मों पर हमारा समाज चार वर्गों में विभक्त हो गया जिसमें अध्ययन और धार्मिक अनुष्ठान यज्ञ आदि में रुचि रखने वाले ब्राह्मण, युद्ध शासन रक्षा आदि में सामर्थ्यवान क्षत्रिय, व्यावसायिक और कर्म आदि में रूचि रखने वाले वैश्य सेवा व दास भाव रखने वाले शूद्र कहे गये।

कतिपय ऋषि मुनियों एवं स्वयं भगवान श्रीकृष्ण ने कर्म के आधार पर वर्ण व्यवस्था का स्पष्टोल्लेख किया—

'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुण कर्म विभागशः
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्य कर्तारमव्ययम्'[1]

कुछ विचारकों के आधार पर वर्ण व्यवस्था का उद्गम वर्ण माना गया उन्होंने लिखा आर्य और वर्ण (रंग) के होने के कारण उत्तम तथा अनार्य श्याम वर्ण के होने से निम्न कहे जाते थे। ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य गौर वर्ण के तथा श्याम वर्ण के शूद्र थे।

किन्तु इन विचारों का न तो समर्थन हुआ, न ही स्पष्ट प्रमाण मिले क्योंकि यदि वर्ण व्यवस्था का आधार वर्ण (रंग) माना जाता तो विष्णु और उसके चतुर्दश अवतार जो कि आराध्य थे, श्याम वर्ण होने के कारण शूद्र माने जाते। इन सब धारणाओं के फलस्वरुप महाभारत के शान्ति पर्व में आर्यों के समान ही अनार्यों को भी चार वर्णों में विभक्त किया गया ये सारी व्यवस्था समयानुसार स्पष्टीकरण प्राप्त न होने से लुप्त हो गई।

१— श्रीमद् भगवद्गीता अध्याय ४/१३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महाभारत के अनुसार ब्रह्मा ने वर्णों का निर्माण क्रम विशेषता के आधार पर किया—

'न विशेषोऽस्ति वर्णानां, सर्व ब्रह्ममिद जगत्
ब्रह्मणा पूर्व सृष्टं हि कर्मभिवर्णतां गतम् ।

अर्थात् कोई भी वर्ण विशेष नहीं है, सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म हैं। सृष्टि की संरचना के अनुसार कर्मों के अनुरुप ब्राह्मण सर्वप्रथम हुए।

आपस्तम्ब धर्म सूत्र के अनुसार–

'धर्मंचर्यया जघन्योंवर्ण, पूर्व वर्णमापद्यते जात्ति परिवृत्तौ
अधर्मचर्यंया पूर्वोवर्ण जघन्य, जघन्य वर्णमापद्यते परिवृत्तौ'[1]

अर्थात् वर्ण व्यवस्था का आधार जन्म न मानकर कर्म माना गया इसलिए शूद्रकुल में जन्म लेकर भी बालक अध्ययन अध्यापन आदि धार्मिक अनुष्ठानों में यदि प्रवृत्त होता तो ब्राह्मण कहलाता और ब्राह्मण बालक अपने कुल कर्म का परित्याग करके यदि निम्न कार्यों में रूचि रखता तो शूद्र हो जाता था।

अन्ततः यही निष्कर्ष निकलता है कि प्राचीन कालीन वर्ण व्यवस्था अभिशापित न थी। कालान्तर में कर्म व गुणों का परित्याग जैसे - जैसे होता गया, जन्म के आधार पर वर्ण व्यवस्था विकसित होती गयी, तब उसमें दोषपूर्ण प्रवृतियां जन्म लेने लगी।

जाति प्रथा का मूल कारण भी वर्ण व्यवस्था ही रही जो समयानुसार परिस्थितियों में ढलकर भिन्न - भिन्न जाति व उपजातियों में विभक्त होती गयी और वही कालिदास के नाटकों में वर्ण व्यवस्था का आधार बनी।

ई० पू० प्रथम शती (अर्थात् कालिदास के काल) में वर्ण व्यवस्था जाति पर आश्रित थी क्योंकि एक ही मत में विभिन्न विचारधारा, मान्यता तथा कार्य प्रवृत्तियों का चलन होने से अनेक उपजातियां विकसित होती गयी। ब्राह्मण वर्ग में भी चार वेदों का अध्ययन करने वाले चतुर्वेदी और तीन या दो वेदों का अध्ययन करने वाले

१— आप स्तम्ब धर्मसूत्र एकादशी कण्डिका पृ० सं० १४२/१०-११

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रमशः त्रिवेदी या त्रिपाठी और द्विवेदी कहलाने लगे। कर्म और व्यवसाय के अनुसार ही क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र में भी अनेक उपजातियां बन गयीं।

कालिदास के तीनों नाटक इस परिकल्पित वर्ण व्यवस्था पर लिखे गये। परन्तु इस रूप में उनकी सर्वश्रेष्ठ और ख्याति प्राप्त कृति अभिज्ञान शाकुन्तलम् ही मानी गयी। उसमें वर्णित वर्ण व्यवस्था अति उत्कृष्ट और कर्म पर आधारित है। क्योंकि उस समय भी समाज ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र चार वर्णों में ही विभाजित था। तत्कालीन समाज सुख सम्पन्न और समृद्धिशाली होने के कारण अपने कुलागत कर्म को करने में ही गौरवान्वित होता था।

ब्राह्मण ऋषि मुनि आदि का वर्ण अध्ययन अध्यापन यज्ञ अनुष्ठान आदि धार्मिक कृत्यों को करता था। अभिज्ञान शाकुन्तल में कण्व, मारीच आदि ऋषियों के आश्रम में धार्मिक अनुष्ठान शान्ति पूर्वक ढंग से सम्पन्न किये जाते हैं यद्यपि कालिदास के काल में मूर्ति पूजा का प्रचलन था परन्तु उन्होंने इसका उल्लेख अपने नाटकों में कहीं नहीं किया। मूर्ति पूजा के साथ - साथ पशु बलि का भी विधान था जो हमें अभिज्ञान शाकुन्तल के षष्ठांङ्क में प्राप्त होता है—

'पशु मारण कर्म दारूणोऽनुकम्पा मृदुरेव क्षोत्रिय'[1]

यद्यपि यज्ञ अनुष्ठान में पशु बलि का विधान नहीं था फिर भी बौद्धिक तर्कों के अनुसार 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' का उल्लेख किया गया और वर्ण व्यवस्था का अनुमोदन करते हुए कुछ टीकाकारों ने लिखा अग्निष्टोमीयं पशुमालभेत्'[2] श्रुति को प्रमाण मान भी लें तो इसका अर्थ हनन न होकर संरक्षण या पालन करना था क्योंकि पशुबलि तो मांसाहारी वाममार्गियों की देन होने से त्याज्य थी। कालिदास के कथनानुसार पशु हत्या करने वाला ब्राह्मण घृणित या मांसाहारी नहीं है वह स्वभाव से तो मृदु ही रहता है। कालिदास का यह कथन उपेक्षणीय तो हो सकता है पर उसे निन्दनीय नहीं कह सकते।

१— अभिज्ञान शाकुन्तलम् – षष्ठोऽङ्कः : पृष्ठ संख्या १४८/१
२— अभिज्ञान शाकुन्तुलम् – षष्टोऽङ्कः : टिप्पणी पृष्ठ संख्या १५०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मालयिकाग्निमित्रम् में वर्णित कुछ प्रसंगों के द्वारा ज्ञात होता है कि उस काल में ब्राह्मण वर्ग को पूजनीय माना जाता था। एक स्थल पर राजा अपने मित्र विदूषक के प्रति नतमस्तक है क्योंकि विदूषक भविष्यवक्ता ब्राह्मण है यथा—

'मूर्ध्ना प्रतिग्रहीतं वचः सिद्धिदर्शिनो ब्राह्मणस्य'[1]

अर्थात् मनचाहा भविष्य बताने वाले ब्राह्मण का आशीर्वाद सिर माथे पर।

अभिज्ञान शाकुन्तल के भरत वाक्य में क्षत्रिय वर्ण का स्पष्टीकरण करते हुए राजा के कर्तव्यों के बारे में कालिदास ने लिखा—

'प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः'[2] अर्थात् राजा (क्षत्रिय) को प्रजाजनों के कल्याण के लिए तत्पर रहना चाहिए तथा शास्त्र श्रवण से ज्ञान वरिष्ठ कवि जनों की वाणी का पूर्ण सत्कार करना चाहिए। इस प्रकार राजन्य वर्ग का कार्य देश रक्षा व प्रजा पालन निश्चित हुआ। राजा दुष्यन्त से दुष्टों को सदा भय रहता था इसलिए उसके राज्य में कोई भी व्यक्ति अपने वर्णाश्रम धर्म का परित्याग कर स्वेच्छाचारी कुपथगामी होने का दुस्साहस कभी नहीं कर सकता था—

'न कश्चिद् वर्णानाम् पथअपकृष्टोऽपिभजते'[3]
राजन्य वर्ग मुख्यतः क्षत्रिय ही होता था।
विक्रमोर्वशीयम् के भरत वाक्यानुसार—
'सर्वस्तरतु दुर्गाणि सर्वे भद्राणि पश्यतु
सर्वः कामान वाप्नोतु सर्वः सर्वत्र नन्दतु'[4]

अर्थात् मेरे देश के सभी विद्वानों के यहां धन सम्पत्ति और प्रसन्नता रहे साथ ही राजा लोग विद्यावान् हों ताकि वे विद्वानों का समुचित आदर कर सकें, विद्वानों व धनवानों में अपेक्षित सहयोग होने पर ही देश व समाज की उन्नति सम्भव है।

विक्रमोर्वशीयम् के एक अन्य प्रसंग के अनुसार राजा सूर्यदेव की आराधना करते थे।

१— मालविकाग्निमित्रम् – तृतीयऽङ्कः पृष्ठ संख्या ३००
२— अभिज्ञान शाकुन्तलम् पञ्चमोऽङ्कः पृ० संख्या ९४/१०
३— विक्रमोर्वशीयम् – पञ्चमोऽङ्कः पृ० संख्या २७५/२५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूर्याराधना से व्यक्ति के बल व तेज में वृद्धि होती है।

मालविकाग्निमित्रम् में राजा के रूप व गुण की प्रशंसा इस प्रकार की गयी है—

'द्वारे नियुक्त पुरुषाभिमत प्रवेशः सिंहासनान्तिक चरेण
सहोसपसयन् तेजोभिरस्य विनिवर्तितदृष्टि पतिर्वाक्याहते'[1]

अर्थात् पुरुष के रूप में राजा (अर्थात् क्षत्रिय) का तेज सचमुच अत्यन्त प्रभावशाली है।

वैश्य वर्ग का मुख्य व्यवसाय व्यापार था। जो व्यापार में धनी होते थे वे श्रेष्ठी कहलाते थे। व्यापार का मुख्य केन्द्र समुद्र था जिसमें नावों के माध्यम से व्यापार किया जाता था।

मालविकाग्निमित्रम् में गणदास के अन्तर्गत वैश्य वर्ग का संकेत प्राप्त होता है यथा—

'सं ज्ञान पण्यं वणिजं वदन्ति'[2]

शूद्र वर्ग सेवा और दास कर्म को ही अपना जन्मजात कर्म मानता था। समृद्धिशाली होने पर भी सदोष और निन्दनीय होकर भी शूद्र अपने वर्णागत नियमों का पालन करने में अपना गौरव मानता था जैसे अभिज्ञान शाकुन्तल का धीवर अपने कुल कुकर्म को हेय न मानकर श्रेष्ठ मानता है—

'सहजं किल गद् विनिन्दितं, न खलु तत्कर्म विवर्णनीयम्'[3]
विक्रमोर्वशीयम् के राजा के कथन—

'वेधक वेधक'[4] से ज्ञात होता है कि उस समय निम्न वर्ण के लोग थे।

विक्रमोर्वशीयम् में अनेक स्थलों पर कालिदास ने अपने प्रत्येक पात्र को वर्णों की मर्यादा के अनुसार कार्य करता दिखलाया है।

१— मालविकाग्निमित्रम् प्रथमोऽङ्क पृ० संख्या २६१/१२
२— मालविकाग्निमित्रम् प्रथमोऽङ्क २७६/१७
३— अभिज्ञानशाकुन्तलम् षष्ठोऽङ्क १४८/१
४— विक्रमोर्वशीयम् पञ्चोऽङ्क पृ० संख्या २३३/१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार कालिदास ने वर्ण व्यवस्था का स्थापन अपने नाटकों में कर्म के आधार पर ही किया। प्राचीन काल में वर्ण व्यवस्था समाज के कार्यो का सुचारु रूप से संचालन करने के लिए की गई थी। किन्तु समय व्यतीत होने के साथ – साथ इसमें रूढ़ि वादिता और कट्टरता आती गयी जो सामाजिक उन्नति के लिए बनी। वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति के मूल कारण स्थान परिवर्तन, व्यवसाय परिवर्तन धर्म व सम्प्रदाय ही रहे। वर्तमान समय में भारत के पिछड़ेपन का मुख्य कारण जाति प्रथा है लेकिन यह विश्वास व्यक्त किया जा रहा है कि नई शिक्षित पीढ़ी वर्ण व्यवस्था की जंजीरों में बंधे हुए समाज को मुक्त कर देगी और जो भी साम्प्रदायिक झगड़े व फसाद होते हैं वे एक न एक दिन समाप्त हो जायेंगे।

क्रमशः

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर्यावरण अध्ययन का महत्व

–एस० पी० सिंह, केन्द्रीय विद्यालय नं० १
बी० एच० ई० एल० हरिद्वार

जब से मनुष्य ने सभ्यता के विकास के सोपान पर कदम रखा है। वह पर्यावरण के बारे में चिन्तनशील रहा है। समय-समय पर मनुष्य के क्रिया कलापों से पर्यावरण पर प्रभाव पड़ता रहा है। और यह पर्यावरण निरन्तर परिवर्तन की ओर अग्रसर है। विभिन्न प्रयोगों के परिणामों व स्रोतों से मनुष्य की पर्यावरण के बारे में ज्ञान अर्जित करने की जिज्ञासा सदैव रही है। धीरे–धीरे पर्यावरण से सम्बन्धित ज्ञान का विस्तार इतना अधिक हो गया है कि इसे एक विज्ञान के रूप में अध्ययन करने की आवश्यकता महसूस हुई और इस प्रकार इस सदी के प्रारम्भ में प्रर्यावरण विज्ञान का उद्‌भव हुआ। पर्यावरण विज्ञान अब कक्षा सीमाब्द्ध शास्त्रीय विषय न रहकर जनसामान्य में चर्चा तथा वाद–विवाद का विषय बन गया है। जनसामान्य की परिस्थिति के प्रति जागरूकता और चेतना का मुख्य कारण तेजी से बढ़ती हुई जनसंख्या तथा तीव्र औद्योगिकीकरण के कारण उत्पन्न हुई विभिन्न पर्यावरण की समस्याओं की अनुभूति ही है जिसने जनमानस को कहीं गहरे झकझोर दिया।

"पारिभाषिक रूप में पर्यावरण शब्द जीवों की अनुक्रियाओ को प्रभावित करने वाली समस्त भौतिक (Physical) तथा जीवीय (Biotic) परिस्थितियों का योग है" दूसरे शब्दों में इसे हम जीव मंडल (Biophere) भी कह सकते है जो कि जल मंडल (Hydrasphere) स्थल मंडल (Lithosphere) तथा वायु मंडल (Atmasphere) के जीवनयुक्त भागों का योग होता है।

आज से हजारों वर्ष पूर्व पृथ्वी पर घने जंगल थे जिनमें विभिन्न प्रकार के छोटे बड़े जीवजन्तु रहते थे। बड़े जन्तु छोटे जन्तुओं का शिकार करते थे, तथा छोटे जीव जन्तु मुख्यतः वनस्पति पर निर्भर करते थे। यह क्रम जलीय जन्तुओं में भी बना रहा इस प्रकार पृथ्वी पर कभी–कभी छोटे जीव जन्तु अधिक संख्या में नहीं रहे। प्रारम्भ में मनुष्य भी शिकार से अपना भोजन प्राप्त करता था परन्तु विकास के साथ-साथ जब उन्होंने खेती करना सीखा, तब वह खेती–बाड़ी पर ही निर्भर हो गया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जनसंख्या की तीव्र गति से वृद्धि का परिणाम यह हुआ कि मनुष्य को अपने निवास के लिए, खाद्य सामग्री के लिए अपने कल- कारखाने लगाने के लिए मनोरंजन के लिए बड़ी तेजी से जंगलों को काटना प्रारम्भ कर दिया। इससे पर्यावरण संतुलन बिगड़ गया। मनुष्य क्योंकि सभी जीवों में उन्नत है, उसने अपनी सुख सुविधाओं को सर्वोपरि रखा, परिणाम स्वरूप जिस स्थान को उसने अपनी सुख-सुविधा के लिए विकसित किया था वही प्रदूषित हो गया और वातावरण में असंतुलन बन गया। चंडी प्रसाद भट्ट के अनुसार, पर्यावरण के संतुलिन और परिस्थितिकीय सुधार का काम केवल ऊपर से योजनाओं को बनाकर थोपने से नहीं होगा।

परिस्थितिकी (Ecology) को समय-समय पर अनेक प्रकार से विभिन्न विद्वानों द्वारा परिभाषितत किया जाता रहा है। फिलिप्स हेटडलर के अनुसार, "परिस्थितिकी जीवों तथा उनके पर्यावरण के प्रसार सम्बन्धों का विज्ञान है।" टेलर के अनुसार, 'परिस्थितिकी समस्त जीवो के समस्त पर्यावरणों के साथी समस्त अध्ययन का विज्ञान है।" ओइम के अनुसार, "प्रकृति की संरचना तथा कार्य का अध्ययन ही परिस्थितिकी है।" टुर्क और विट् के अनुसार, "जीवित तन्त्रों तथा पर्यावरण के बीच के सम्बन्धो का अध्ययन परिस्थितिकी बिज्ञान है।" संक्षेप में परिस्थितिकी का पर्यावरण जीवशास्त्र (Envrionmental biology) भी कह सकते हैं।

पारिस्थितिकी विज्ञान के अनुसार पृथ्वी को तीन प्रमुख भागों में बाँटा गया है। अतः प्रदूषण के तीन प्रकार के क्षेत्र हो सकते हैं।

१. वायु प्रदूषण
२. जल प्रदूषण
३. मृदीय प्रदूषण

अतिरिक्त जनसंख्या की वृद्धि, वैज्ञानिक आविष्कारों, अनेक रासायनिक तथा भौतिक परिवर्तनों के कारण दो प्रकार के प्रदूषण और महत्वपूर्ण हो गये हैं।

—ध्वनि प्रदूषण और रेडियों-धर्मी प्रदूषण।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वायु प्रदूषण मुख्यतः वायु में उपस्थित विभिन्न यौगिक एवं तत्वों का कम या अधिक होना है। उदाहरण के लिए आक्सीजन श्वसन, जलना आदि में प्रयुक्त होती है और वायु में इसके स्थान पर कार्बन–डाई–आक्साइड हानि पहुंचायेगी। उधर आक्सीजन, की कमी तो परेशान करने वाली होगी ही सामान्यतः वायु में उपस्थित गैसों के अतिरिक्त अन्य गैसें तथा पदार्थ सम्मिलित होते रहते हैं जो स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त हानिकारक हो सकते है, उदाहरण के लिए विभिन्न हाईड्रोकार्बन्स गन्धक के आक्साइडस, नाइट्रोजन के आक्साइड्स, सीसा, आर्सेनिक के आक्साइड्स आदि। गाड़ियों आदि से मोबिलायस तथा विभिन्न तेलों के जलने से भी वायुमण्डल दूषित होता है। वायु स्वास्थ्य के लिए अति आवश्यक है। दूषित वायु धूल के कण अथवा कुछ रोगाणु कीटाणु वायु के साथ शरीर में प्रविष्ट होकर विभिन्न रोगों को जन्म देते हैं। अशुद्ध वायु का सेवन करने से घुटन का अनुभव सिरदर्द, चक्कर, भारीपन, चिड़चिड़ापन आदि लक्षण पैदा होते हैं। इसके साथ ही भयानक रोग तपेदिक, निमोनिया, श्वास रोग आदि भी अशुद्ध वायु में सांस लेने के कारण ही होते है। विभिन्न प्रकार की एलर्जी भी वायु में धूल तथा अन्य कणों के कारण होती है। औद्योगिक संस्थानों से निकलने वाली गैसें, ठोस कण तथा अन्य विषेले पदार्थ अनेक रोगों को जन्म देते हैं। कैन्सर जैसे रोग के लिए भी यह अनुकूल वातावरण बनाता है। शरीर की प्रतिरोधक शक्ति कम होने के कारण थकावट, मानसिक तनाव, उच्च रक्त चाप आदि रोग हो सकते हैं।

जल प्रदूषण के अनेक स्रोत जल में रोग उत्पादक पदार्थ या जीवाणु जैसे रोगाणु लाते हैं। सीसा, पारा आदि पदार्थ जो औद्योगिक संस्थानों से निकलते हैं और जलस्रोतों में छोड़ दिये जाते हैं। कृषि इत्यादि में काम आने वाले कीटाणुनाशक पदार्थ तथा विभिन्न प्रकार कीं रासायनिक खादें आदि भी स्रोतों में पहुंच जाती है। वाहित मल मनुष्यों द्वारा जल प्रवाह में मिला दिया जाता है। विभिन्न प्रकार के रोग जैसे पीलिया, टाइफाइड, हैजा, अतिसार, पेचिश आदि के रोगाणु इसी के द्वारा जल में पहुंचते हैं। परमाणु विस्फोटों से होने वाले पदार्थ जल में पहुंच जाते हैं।

प्रदूषित जल तथा वायु के कारण मृदा भी प्रदूषित हो जाती है। वर्षा इत्यादि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के जल के साथ ये प्रदूषण पदार्थ मृदा में आ जाते हैं जैसे वायु में सल्फर-डाई-आक्साइड वर्षा के जल के साथ मिलकर गंधक का अम्ल बना देती है। इसी प्रकार जन संख्या वृद्धि के साथ-साथ अधिक फसल पैदा करने के लिए उर्वरकों अन्धाधुन्ध प्रयोग किया जाता है। विभिन्न प्रकार के कीटाणुनाशक पदार्थ अपतृणनाशी (Weedicide) आदि फसलों पर छिड़के जाते हैं। इस प्रकार मृदा को प्रदूषित करने में प्रमुख हाथ घरेलू अपमार्जकों, वाहित मल, बहने वाले जल, उद्योगों के अवशिष्ट पदार्थो, तेल, कीटाणुनाशक, अपतृणनाशी, रेडियोधर्मी पदार्थ तथा गर्म पदार्थों आदि के निष्कासन का हैं।

शोर वर्तमान सभ्यता तथा तकनीकी ज्ञान की बुद्धि का उत्पाद है। एक शहरी वातावरण में शोर, घंटियों, अलार्म घडियों, टेलीफोन की घंटियों मिसर व ग्रान्डर, वैक्यूल क्लीनर, कपड़े धोने की मशीन, एयर कन्डीशनर, कूलर, अनेक अन्य घरेलु विद्युत उपकरणों, टेलिविजन, रेडियों, वाहनों, उद्योगों की मशीनों लाउडस्पीकर, रेलवे, हेलिकोप्टर, जैट, राकेट, संगीत आदि स्रोत्रों से पैदा होता है। शोर न केवल हमारे बातचीत, आराम आदि में बाधा उत्पन्न करता है बल्कि यह मस्तिष्क की शान्ति, स्वास्थ्य तथा व्यवहार को भी प्रभावित करता है। अधिक लम्बे समय तक शोर रहे तो श्रवण तन्त्र की स्थायी अथवा अस्थायी क्षति हो सकती है। ध्वनि से चिड़चिड़ापन भी पैदा हो जाता है। शोर प्रदूषण से आंख का तारा फैल जाता है। पेशियों में तनाव बढ़ता है जठर—रसों का स्राव कम हो जाता है, १२० डीबी से अधिक ध्वनि गर्भवती महिलाओं तथा गर्भस्थ शिशु के लिए हानिकारक है।

रेडियों धर्मी पदार्थ वातावरण में विभिन्न प्रकार के कण और किरणों को उत्पन्न करते हैं। परमाणु शक्ति उत्पादन केन्द्रों और आणविक परीक्षण इत्यादि से वातावरण में रेडियो धर्मिता बढ़ती हैं। जल, वायु और मिट्टी का इन कणों के द्वारा प्रदूषण विभिन्न प्रकार के भयानक रोग उत्पन्न कर सकता है। साथ ही यह रोग आनुवंशिक होते हैं। रेडियोधर्मी विकिरणों द्वारा कोशिकाओं के अन्दर उपस्थित गुणसूत्रों के जीन्स में अचानक परिवर्तन हो जाते हैं। रेडियोधर्मी विकिरण से कैन्सर, ल्यूकेरिया आदि अनेक प्रकार के भयानक रोग उत्पन्न हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त रोग अवरोधक शक्ति का ह्रास हो जाता है और तन्त्रिका तन्त्र में अनेक विकार उत्पन्न हो जाते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपर्युक्त प्रदूषणों के अतिरिक्त जंगलों को काटकर जंगली जानवरों का शिकार करके, जनसंख्या की अत्यधिक वृद्धि आदि के द्वारा पर्यावरण को रहने योग्य नहीं छोड़ा है। उपर्युक्त कारणों से स्वयं मनुष्य की जाति प्रभावित हुए बिना नहीं रही। मृत्यु दर में वृद्धि, असंतुलित बच्चों का जन्म, भोजन की कमी, बाढ़, सूखे आदि का प्रकोप इस स्थिति के लिए मुख्य रूप से उत्तरदायी है। इस प्रकार मनुष्य ने स्वयं ही पर्यावरण में असंतुलन पैदा कर अपने अस्तित्व को खतरे में डाला है। पर्यावरण के साथ मानव का समन्वय अति आवश्यक है। मानव ने सदैव ही विभिन्न पारिस्थितिक तन्त्रों को अपने अनुसार बदलने का प्रयत्न किया है और बिना सोच विचार के उसे नष्ट कर डाला है। जंगलों को नष्ट करने का प्रकरण चलता ही जाता है फलस्वरुप सारा वातावरण जलवायु सहित ही बदलता जा रहा है, इसे रोकना आवश्यक है। दूसरी ओर उसने तरह-तरह से वायुमण्डल तथा जलमण्डल को प्रदूषित किया है और कर रहा है। कल-कारखानों आदि से उत्पादित पदार्थों के द्वारा एक स्तर के जीवों के नष्ट होने से पारिस्थितिक तन्त्र एकदम गड़बड़ा गया हैं। मनुष्य को ध्यान रखना चाहिए कि वह भी पर्यावरण का ही एक भाग है अतः अपने पर्यावरण के साथ उसे समन्वयन करना ही होगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"कुलभूमि-गौरवम्"

रचयिता–डा० सत्यदेवो निगमालंकार:
रीडर संस्कृत–विभाग
जय भारत साधु महाविद्यालय, हरिद्वारम्

त्वमसि मे जननी सुखदायिनी,
त्वमसि बुद्धि धनादिक दायिनी ।
कुल धरे ! कलिकल्मष हारिणी,
तव तुला नहि क्वाऽपि धरातले ।।१।।

ऋषिकुलं तव संगमनेच्छुकं,
भवति ताप हरे हितकारिणि ।
तव कृपा फलतीह शुभाश्रया,
तव तुला नहि काऽपि धरातले ।।२।।

वटुगणास्तु यदा शरणन्तव,
सपदि यान्ति गृहं प्रविहायस्वम् ।
वितरसि त्वमलं सकलं सुखं,
तव तुला नहि, काऽपि धरातले ।।३।।

जगति ये नर जन्म समाश्रिता,
ऋनुदृशो विबुधाश्च भवन्ति ये ।
फलति तेषु कृपा तव चानिशम्,
तव तुला नहि काऽपि धरातले ।।४।।

यदि भवेत्, शुभकर्म पुराकृतं,
यदि विभुर्वितनोति कृपाफलम् ।
भवति दर्शनमत्र कुले चते.
तव तुला नहि काऽपि धरातले ।।५।।

यद्यपि वा शृणुमस्तपसः फलं,
तदखिलं वसतस्तव सन्निधौ ।
भवति दर्शन मत्र कुले च ते,
तव तुला नहि काऽपि धरातले ।।६।।

यदि च नश्यति दुष्कृत जातकं,
गुरुकृपां लभते यदि मानवः ।
भवति दर्शनमत्र कुले च ते,
तव तुला नहि काऽपि धरातले ।।७।।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निखिल शिष्ट जनप्रति पालिका
विविध विज्ञगणाः कथयन्ति माम् ।
भवति पुण्यकृतां तव दर्शनम्,
तव तुला नहि काऽपि धरातले ।।८।।

मृति भयान्न बिभेति कदाप्यसौ,
भवति यस्य जनिस्तव गर्भतः ।
हसति मृत्युमवेक्ष्य पटुर्वटु–
स्तव तुला नहि काऽपि धरातले ।।९।।

भजति वृद्धगति नहि चायुषा,
स्पृशति नैव कदापि तमामयः ।
भवति गस्य जनिस्तव गर्भत–
स्तव तुला नहि काऽपि धरातले ।।१०।।

त्यजति कल्भष कष्ट करालकं,
प्रविशतीह यदा तव शंगृहम् ।
तनय एति सुख जनयित्रि ते,
तव तुला नहि काऽपि धरातले ।।११।।

त्वमसि संस्कृत – बोधन कारिणी,
त्वमसि सत्यसु सुधा मृतवर्षिणी ।
त्वमसि वैदिक मन्त्र विमर्शिनी,
तव तुला नहि काऽपि धरातले ।।१२।।

विरहिता भयशोक मलैस्तु ते,
वटुगणा मुदितास्तव कानने ।
प्रविचरन्ति तवाञ्चल रक्षिता–
स्तव तुला नहि काऽपि धरातले ।।१३।।

हसति साधु समागम सेवना–
दति स रोदिति दुर्जन संगतः ।
तव समा गयनात् सुखमे धते,
तव तुला नहि काऽपि धरातले ।।१४।।

स्पृशति यं धवलं खलुते यशो
भवति मृत्युपदाद्रहितो जनः ।
तरति सोऽथ जगत् खलु दुस्तरं,
तव तुला नहि काऽपि धरातले ।।१५।।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नृप – पदे – जन–रक्षण – कर्मणि,
भवति योऽनिशमार्यं धुरन्धरः ।
तव सुतः प्रथमो हि विराजते,
तव तुला नहि काऽपि धरातले ।।१६।।

गुरुकुलं ननु नाम तवाऽस्ति यत्,
सकल – लोक–सुपावन–कारि तत् ।
हृदि दधासि सुखं निखिलान् वटून्
तव तुला नहि काऽपि धरातले ।।१७।।

सरस - कान्त – कलेवर–धारिणि,
ह्यमृत रुपमयी प्रविराजसे ।
जगति सुन्दर – शान्त - सुखाहिता,
तव तुला नहि काऽपि धरातले ।।१८।।

उदयतीह रविस्त्वदनन्तरं,
निज सुतैस्सह जागरिता सदा ।
प्रथयसि त्वमहो सुरभि ततं,
तव तुला नहि काऽपि धरातले ।।१६।।

सरसतामतुलां विपुलामिमां,
प्रतनुषे शिव सोम्य सुधाञ्चत्वम् ।
सुखरसेन समस्य हि पोषिणी,
तव तुला नहि काऽपि धरातले ।।२०।।

प्रतिदिनं श्रुति शास्त्र विबोधिका,
सुरुचिरस्य पथश्च निदेशिका ।
त्वमसि सामरवस्य सुलापिनी,
तव तुला नहि काऽपि धरातले ।।२१।।

शशि – दिवाकर – तारकमण्डलं,
न कुरुते भुवि भासमहो तथा ।
तव यथा भुवने कमनीगता,
तव तुला नहि काऽपि धरातले ।।२२।।

कमल कोमल माननमस्ति ते,
हृदयमप्यथ वत्सलता भरम् ।
विमल – सोम समानि यशांसि ते,
तव तुला नहि काऽपि धरातले ।।२३।।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तव तनूर्नवतां दिशति क्वचित्,
क्वचिदथो भजतेऽपि पुराणताम् ।
क्वचिदलं वहते रमणीयताम्,
तव तुला नहि काऽपि धरातले ॥२४॥

उदरमध्यगतास्तव ये जना–
नियमितानथ तांस्तु व्रतीश्वरान् ।
प्रणमति प्रकृतिर्नु भयात् स्वयं,
तव तुला नहि काऽपि धरातले ॥२५॥

मनसि यस्य तवाऽस्ति कृतं पदं,
नयनयोश्च स्पृहा तव दर्शने ।
भवति तस्य सुखं निज जीवने
तव तुला नहि काऽपि धरातले ॥२६॥

सुरभि ते यशसा धवलं मुहु –
गुरुकुलं तव शिष्य जनैर्वृतम् ।
सरसता – वितता तव जीवने,
तव तुला नहि काऽपि धरातले ॥२७॥

श्रुति गिरा हि सुधा मधुवर्षिणी,
विविध बोध फलैश्च विहर्षिणी ।
प्रकृत वाग्व्यसनेन विलासिनी,
तव तुला नहि काऽपि धरातले ॥२८॥

प्रथयसीह शमं जगतीतले,
स्व–सरणौ–सरसं – शिव वर्षिणी ।
कलित–भीषण काल विनाशिनी,
तव तुला नहि काऽपि धरातले ॥२९॥

सृजसि धाम निजं हि सुरालयं,
प्रथयसि प्रथितं प्रभु – पावितम् ।
रमस आन्तर मानुष मानसे,
तव तुला नहि काऽपि धरातले ॥३०॥

उचितमेव चिनोषि चयस्पदे,
दयितमेव – दयाययि – देवते ।
असि – सुरेश्वर – मानव – रक्षिणी,
तव तुला नहि काऽपि धरातले ॥३१॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्रवसि दानवजे — शरणागते,
निपतिते निजपाप जलार्णवे ।
सुखद बोध – दृशा – परिरक्षसि,
तव तुला नहि काऽपि धरातले ॥३२॥

त्वमसुरान् विनिहंसि सुमानिनि !
सुविदुषः किल रक्षसि भामिनी !
उचित चारिणि हे हित कारिणि !
तव तुला नहि काऽपि धरातले ॥३३॥

सरसाताञ्च नोषि जनान् प्रति,
प्रतिदिनं सुदिनं तव चेष्टितम् ।
भव भवाब्धि भयस्य हि हारिणी,
तव तुला नहि काऽपि धरातले ॥३४॥

अतुलिता तुलना जगती तले,
ललितमस्ति ततं तव चाननम् ।
सुललिताः हिकलास्तव शोभना-
स्त तुला नहि काऽपि धरातले ॥३५॥

भवति शीतगुणः शरदागमे,
हृदि तु तेऽस्ति नुशीतलता सदा ।
जगति ते प्रकृतिः सुखवर्षिणी,
तव तुला नहि काऽपि धरातले ॥३६॥

विकसितं चकितं तव लोचनं,
सुमधुरास्ति हि वाक् सुखदा जया ।
सुललिता प्रथिता किल ते तनु-
स्तव तुला नहि काऽपि धरातले ॥३७॥

जगति धर्म-गतेः परिधारिणी,
सुतरणीव भवाब्धि सुतारिणी ।
कुटिलता न तता तव जीवने,
तव तुला नहि काऽपि धरातले ॥३८॥

अतुलितं ललितं कल – कान्तिजं,
रूचिरमस्ति हि रूपमथोन्तरम् ।
कलयसि त्वमहो कलनां परम,
तव तुला नहि काऽपि धरातले ॥३९॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वयमबोध – युतास्तव बालका:
विनिवसाम इहैव तवोदरे ।
वितरसीह गुणाम् वरदायिनी,
तव तुला नहि काऽपि धरातले ॥४०॥

सकल – कष्ट – कलाप–निवारिणि,
त्वमसि धर्म – धुर: परि धारिणी ।
विविध शास्त्र विदामुप कारिणी,
तव तुला नहि काऽपि धरातले ॥४२॥

त्वयि निवास परेण मया पुरा.
विपुलमात्तमिदं सुकृतं सुखम् ।
स्मृतिमपि प्रवियाति पूद: पुन–
स्तव तुला नहि काऽपि धरातले ॥४२॥

जननि जाड्यमिदं हर मेऽतुलं,
बहुविधं बहुजन्मसमर्जितम् ।
कुरू कृपामतुलां वरदायिनि,
तव तुला नहि काऽपि धरातले ॥४३॥

मयि शिवे शरणागत् वत्सले !
जगति नाम तव प्रथितं परम् ।
चरणयो: पतितं परिरक्ष मां,
तव तुला नहि काऽपि धरातले ॥४४॥

यदि भवेन्मम जन्म – पुन: पुन–
विनिवसेयमहं तव सन्निधौ ।
श्रृणु ममैव मिमां वर कामनां,
तव तुला नहि काऽपि धरातले ॥४५॥

यदि च स्यात् पशु - जन्म ममाखिलं,
तदपि ते धरणौ वसतिर्भवेत् ।
श्रुति – गिरं सवसा श्रृणुयामहं.
तव तुला नहि काऽ.प धरातले ॥४६॥

यदि भवेयमहं खगजन्मनि,
तव तरौ निवसेय महं मुदा ।
वितर पापहरं निजदर्शनं,
तव तुला नहि काऽपि धरातले ॥४७॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुनरहो तव चाङ्गणखेलनं,
पुनरहो तव धूलि – विलोठनम् ।
पुनरहो शयनं तव हस्तयो-
स्तव तुला नहि काऽपि धरातले ॥४८॥

जननि कस्तव कीर्तिकलां स्पृशेद्,
जगति कस्तव नाम – गणं वदेत् ।
त्वमतुला वितता जनमानसे,
तव तुला नहि काऽपि धरातले ॥४६॥

विरम वाणि ! वदामि हिताय ते,
तव कृते सुशकं नहि वर्णनम् ।
विजयतां गुरू – गौरव – सौरभं,
विजयतां विमलं कुल गौरवम् ॥५०॥

इति जयतु कुल भूमिगौरवम्

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वेदशब्दविमर्शः

डा. दिनेशचन्द्रः
वेद विभाग गु.का.वि.वि. हरिद्वारम्

वेद शब्दस्य व्युत्पत्तिमलभ्योऽर्थः कः ? इति जिज्ञासायां कथ्यते – 'विद्यन्ते ज्ञायन्ते लभ्यन्ते वा धर्मादिपदार्था येन स वेदः' इति बह्वृक् प्रातिशाख्ये वृत्त्युपक्रमे देवमित्रः । 'अपौरुषेयं वाक्यं वेदः' इति सायणीये ऋग्भाष्ये । 'इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो वेदयति स वेदः' इति सायणीय–कृष्ण यजुर्वेद (तै सं) भाष्य भूमिकायाम् । तथैव सायणेन प्रमाणत्वेनेद वचनम् उट्टङ्कितम्—

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुद्ध्यते ।
एनं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता ।। इति ।

आधुनिक भाष्यकृता श्रीमता दयानन्दस्वामिनाऽपि वेदशब्दस्येत्थं व्युत्पत्तिर्विहिता 'विदन्ति जानन्ति, विद्यन्ते भवन्ति, विन्दन्ति विन्दन्ते लभन्ते, विन्दते विचारयन्ति सर्वाः सत्यविद्याः यैर्येषु वा स वेदः'[1] इति । तदेवंविधानां सर्वासामपि व्युत्पत्तीनां तात्पर्य-विषयीभूतोऽर्थः समान एव । स च वेदानामखिलविद्यानिधानत्वे अपौरूषेयत्वे नित्यत्वे च पर्यवस्यति ।

एवं तत्त्वतो विमृश्यमाने सुतरां प्रतिफलति यत् वेदो हि नानाशेष - विशेष-ज्ञान-विज्ञान-प्रतिपादकं शाश्वतिकम् अपौरुषेय शास्त्रम् । आम्नायः, आगमः, श्रुतिः, वेद इत्यनर्थान्तरम् । सोऽयं 'त्रयी' – त्यभिधयाऽपि परिभाष्यते । वेदरचनायास्त्रैविध्यमेव अस्य त्रयीत्वे बीजम् । पद्यमयो रचना ऋगुच्यते, गद्यमयी यजुः, गीतिमयी च सामेत्यभिधीयते । यथाऽऽह भगवान् जैमिनिः–

येषामृक् यत्रार्थवशेन पाद – व्यवस्था ।।
गीतिषु सामाख्या ।।
शेषे यजुः शब्दः ।। (मी.सू. २.१.३५–३७) इति ।

सोऽयं गद्य–पद्य – गानलक्षणैस्त्रयी संज्ञितो वेदः ऋग्–यजुः– सामाथर्वेति चतुसंहितासु विभक्तो विषयभेदात् । यथा चाऽऽह षड्गुरुशिष्यः—

"विनियोक्तत्वरूपश्च, त्रिविधः सम्प्रदर्श्यते ।
ऋग्यजुः सामरूपेण मन्त्रो वेदचतुष्टये ।।" (सर्वानुक्रमणी) ।।
"ऋक्पादबद्धा गीतं तु साम गद्यं यजुर्मन्त्रः ।
चतुर्ष्वपि हि वेदेषु त्रिधैव विनियुज्यते ।।"[2]

१— ऋ.भा.भू. वेदोत्पत्तिविषयः, पृ० १६, सा. आ०प्र०स० प्रकाशन, सं २०३६ वि ।
२— षड्गुरुशिष्यकृत सर्वानुक्रमणी वृत्ति–भूमिका ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अत्र केचन व्यवतिष्ठन्ते यत् त्रय एव वेदाः ऋक् - यजुः - सामाख्याः । अथर्वस्तु उक्तत्रयीपरिशिष्टरूपः । अतोऽर्वाचीनः । प्राचीनेषु छान्दोग्य ब्राह्मणमन्वादिस्मृतिषु त्रयाणामेव वेदानामुल्लेखः । यथा—

अग्नेर्ऋचो वायोर्यजूंषि सामान्यादित्यादिति (छा०ब्रा० ६.१७) ।

'अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्मसनातनम् ।

दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुः सामलक्षणम् ॥' मनु० १.२३॥

किञ्च अर्वाचीनेषु बृहदारण्यक - महाभारतादिषु नामग्राहमथर्ववेदस्य यः समुल्लेखः सोऽपि तावता कालेन अथर्ववेदस्य विरचनात् सम्भावयितुं शक्यते इति ।

नैतद्विचारसहम्, तद्विपर्यय दर्शनात्, ऋग्वेदेऽपि अथर्ववेदस्य नामोपलम्भाच्च ।[1] समस्तेऽपि वैदिके साहित्ये ईदृशाभिमतस्य न कोऽप्युपलभ्यते आधारः । वस्तुतस्त्रयीति व्यवहारस्तत्र रचनानिबन्धनो न खलु सङ्ख्या - निबन्धन इति हि उक्तपूर्वम् ।[2] यथा चैषां रचनानुबन्धी त्रयीत्वव्यवहारस्तथैव मन्त्रगतक्रियामनुरुद्ध्यापि तेषां त्रैविध्यमुपपादितं निरुक्ते यास्काचार्येण । यथा— "ता ऋचः परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृताः आध्यात्मिक्यश्चेति भेदात् त्रिविधाः । ऋक्शब्दोऽत्र मन्त्रवचनः । यासु चोत्तमपुरुषक्रियास्ता आध्यात्मिक्यः' इति ।[3]

अतो यत्र कुत्रापि प्राचां लेखेषु वेदस्य कृते त्रयीत्वव्यवहारो दृश्यते, न स वेदानां चतुष्टयत्वनिरासाय, प्रत्युत तदुपयोगत्रैविध्यमालम्ब्य अस्ति ।

वेदशब्दो वेदेऽन्तोदान्तः आद्युदान्तश्चेत्युभयात्मकोऽस्ति । प्रत्ययादिरहितोऽव्युत्पन्नो वेदशब्दः 'फिसोऽन्त उदान्तः' इति फिट्सूत्रेण अन्तोदात्तो भवति । विद् सत्तायाम्, विद्ज्ञाने, विद् विचारणे, विद्लृलाभे, विद् चेतनाख्याननिवासेषु एतेभ्योऽदादिदिवादितुदादिरुधादिचुरादिगणानां धातुभ्यश्च 'घञ्' प्रत्यये कृते ञिदन्तः व्युत्पन्नो वेदशब्दः 'ञ्नित्यादिर्नित्तम्' इति सूत्रेण आद्युदात्तो भवति । शब्दस्तोमे अकारादिकोशेचाप्ये वेदशब्दः उ + अ + इ + द — एषाञ्चतुर्णाम् अक्षराणां संयोगेन प्रतिपादितः अत्र खलु उकारेण 'ऋग्वेदः' अकारेण 'यजुर्वेदः', इकारेण 'सामवेदः' दकारेण च 'अथर्ववेदः' गृह्यते इति ।

१— ऋग्. १०.९०.९ एवं ऋग्. ४.५८.३ मन्त्रस्य निरुक्तभाष्यम् (१३.७) ।

२— महाभारतेऽप्येवमेव कथितम्—

त्रयी विद्यामवेक्षेत वेदेसूक्तमथाङ्गतः ।

ऋक्साम वर्णाक्षरतो यजुसोऽथर्वणस्तथा ॥शा०प० २३५.१) ॥

३— निरुक्तम् ७.१.२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुरुकुल-पत्रिका

मासिक शोध पत्रिका

MONTHLY RESEARCH MAGAZINE

सम्पादक

डा० जयदेव वेदालंकार

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुरुकुल पत्रिका

मासिक शोध पत्रिका

MONTHLY RESEARCH MAGAZINE

सम्पादक :

डा० जयदेव वेदालंकार

न्यायाचार्य, पी-एच० डी०, डी० लिट्०

सीनियर प्रोफेसर—दर्शन विभाग

एवं

अध्यक्ष (डीन) – प्राच्य विद्या संकाय

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार

आश्विन, कार्तिक और पौष	वर्ष ४५	संयुक्तांक अक्टूबर, नवम्बर, दिसम्बर १९९३

मूल्य— ५ रुपये मात्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्पादक मण्डल :

मुख्य संरक्षक :	डा० धर्मपाल कुलपति
संरक्षक :	प्रो० रामप्रसाद वेदालंकार आचार्य एवं प्रो-वाइचान्सलर
परामर्शदाता :	डा० विष्णुदत्त राकेश प्रोफेसर-हिन्दी विभाग
सह सम्पादक :	डा० विजयपाल शास्त्री
व्यवसाय प्रबन्धक :	डा० जगदीश विद्यालंकार
प्रबन्धक :	श्री हंसराज जोशी
प्रकाशक :	डा० जयदेव वेदालंकार कुलसचिव गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

मूल्य— २५ रुपये (वार्षिक)

किरण प्रिंटिंग प्रेस, कनखल, हरिद्वार ☎ : ४२५९७६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय सूची :-

क्रमांक	विषय का नाम	लेखक का नाम	पृष्ठ संख्या
१.	श्रुति सुधा		
२.	सम्पादकीय	सम्पादक	
३.	औपनिषदिक विचारधारा में मुख्य आचारतत्त्व	डा० ईश्वर भारद्वाज, अध्यक्ष योग विभाग गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय	१—९
४.	महर्षि पंतजलि और आचार्य बुद्धघोष का भारतीय योग साधना में स्थान	डा० सुरेन्द्र सिंह, नेगी व्याख्याता दर्शन विभाग डा० हरिसिंह गौड विश्वविद्यालय सागर	१०—१७
५.	वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है	स्व० डा० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार पूर्व कुलपति गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय	१८—२५
६.	स्वामी श्रद्धानन्द (महात्मा मुंशीराम) तथा गोपाल कृष्ण गोखले का पत्र-व्यवहार	प्रस्तुतकर्त्ता—डा० भवानीलाल भारतीय नन्दन वन जोधपुर (राजस्थान)	२६—३०
७.	वेद एवं भगवद्गीता का जीवात्म चिन्तन	डा० दिनेशचन्द्र धर्म मार्तण्ड वेद विभाग गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय	३१—४१
८.	वैदिक सोम का महत्त्व	डा० सत्यदेव निगमालंकार मौ० चाकलान, ज्वालापुर, हरिद्वार	४२—४८
९.	अवतारवाद	कौशलेन्द्र प्रसन्न, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय	४९—५२
१०.	कालिदास कृत कुमार सम्भव तथा जयशेखर सूरि कृत जैन कुमार सम्भव का भाषा सौष्ठव	डा० श्रीमती पद्मजा अमित मुन्नालाल कालिज, सहारनपुर	५३—५८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

११.	हिन्दी एवं अंग्रेजी साहित्य में स्वच्छन्दतावाद	डा० कृष्णावतार अग्रवाल अंग्रेजी विभाग गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय	५९—६३
१२.	शक्तिवाद निरुक्ति :-	डा० विजयपाल शास्त्री रीडर एवं अध्यक्ष दर्शन विभाग गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय	६४—६८
१३.	वक्रोक्ति विभावनायां कुन्तकस्य स्वतन्त्र्यम्	श्री राधानाथ आचार्यः एम०ए०एम०फिल० बी०एड०, कृष्णचन्द्र महाविद्यालयः वीर भूमि पश्चिमवङ्गः	६९—७२
१४.	व्यञ्जना-	डा० महावीर अग्रवाल रीडर संस्कृत विभाग गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय	७३—७६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रुति सुधा

नमस्ते रुद्र मन्यव उतो तु इषवे नमः ।
बाहुभ्यामुत ते नमः । (यजु० अध्याय १६ मन्त्र-१)

पदार्थः– नमः - वज्रम्, नम इति वज्र नाम । ते – तव, रुद्र – दुष्टानां शत्रूणां रोदयितः । इषवे – इण्णात्यभीक्ष्णं हिनस्ति शत्रून् येन तस्मै । नमः–अन्नम् बाहुभ्याम् – भुजाभ्याम् । उत – अपि । ते – तव । नमः – वज्रः ।

अन्वय– हे रुद्र ! ते मन्यवे नमोऽस्तु । उतो इषवे ते नमोऽस्तु । उत ते बाहुभ्यां नमोऽस्तु ।

भावार्थः– ये राज्यं चिकीर्षेयुस्ते बाहुबलं युद्ध शिक्षा–शस्त्रास्त्राणि च समादधेयुः ।

हिन्दी अर्थः– हे रुद्र – दुष्ट शत्रुओं को रुलाने हारे राजन् ! ते – तेरे, मन्यवे– क्रोधयुक्त वीर पुरुष के लिये, नमः – वज्र प्राप्त हो । उतो – और इषवे – शत्रुओं के मारने हारे, ते – तेरे लिये नमः – अन्न प्राप्त हो, उत - और ते – तेरे, बाहुभ्याम् –भुजाओं से नमः – वज्र शत्रुओं को प्राप्त हो ।

भावार्थः– इस मन्त्र का देवता रुद्र है जो क्षत्रिय राजा का वाचक है । इस मन्त्र में नमः शब्द के दो अर्थ है वज्र और अन्न । भाव यह है कि जो राज्य किया चाहें वे हाथ पांव का बल, युद्ध की शिक्षा तथा शस्त्र और अस्त्रों का संग्रह करें ।

स्वामी दयानन्द के भाष्य से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्व० श्री वीरेन्द्र वीर

पूर्व कुलाधिपति गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
साथ में श्री अश्विनी कुमार (एडवोकेट)
महामन्त्री आर्यप्रतिनिधि सभा पंजाब बैठे हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्पादकीय

आर्यसमाज के नेता एवं स्वतन्त्रता सैनानी श्री वीरेन्द्र जी 'वीर' की अलविदा

आर्यसमाज के प्रधान, पंजाब के हिन्दुओं के संरक्षक, राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रबल पोषक और स्वतन्त्रता सेनानी श्री वीरेन्द्र जी 'वीर' अचानक पंजाब के हिन्दुओं को बिलखता हुआ छोड़कर दिवंगत हो गये। उपनिषदों के "चरैवेति चरैवेति" के सिद्धान्त पर चलने वाले, कर्मयोगी श्री वीरेन्द्र जी, दूरदर्शन से आये भेंटवार्ताकार के साक्षात्कार से निवृत्त हुये ही थे कि अचानक उन्होंने कहा 'मेरी तबियत कुछ बिगड़ सी रही है, ऐसा प्रतीत होता है कि अन्तिम यात्रा का समय आ गया हो"। बस इतना ही कह पाये थे कि साढ़े पांच बजे उनकी अन्तिम यात्रा का समय आ पहुंचा। जो प्रकाश पुन्ज सदा दूसरों को राह दिखलाता रहा हो, देश की स्वतन्त्रता के लिये संघर्ष करता हुआ कभी न घबराया हो, पजाब में हिन्दी के लिये सरकार से लोहा लेता रहा हो और आर्यसमाज को अपनी लेखनी से एवं अपने कर्त्तव्य से गति देता रहा हो वह नक्षत्र पंचत्व में अचानक विलीन हो गया। वास्तव में आर्यसमाज के इतिहास में श्री वीरेन्द्र जो 'वीर' को कभी भी विस्मृत नहीं किया जा सकता है।

ज्यों ही ३१-१२-९३ को उनका स्वर्गवास हुआ, पंजाब के कोने—कोने से आर्यसमाजी और हिन्दुओं के जत्थे के जत्थे अपने प्रिय नेता के अन्तिम दर्शन के लिये उमड़ पड़े। उन का अन्तिम संस्कार १—१—९४ को जालन्धर में सम्पन्न हुआ उस समय लगभग दस हजार व्यक्ति तथा पंजाव सरकार के मुख्यमन्त्री सहित उनके मन्त्री मण्डल के समस्त मन्त्रीगण उपस्थित थे। श्री वीरेन्द्र जी की शोक सभा मे पंजाव के राज्यपाल सहित अनेक मन्त्री, हरियाणा सरकार के मन्त्री गण, हिमाचल प्रदेश के अनेक मन्त्री और लगभग आठ हजार व्यक्ति शोक सभा में ३—१-९४ को उपस्थित थे। गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के कुलपति डा० धर्मपाल एव कुलसचिव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डा० जयदेव वेदालंकार ने भी शोक सभा में सम्मिलित होकर विश्वविद्यालय का प्रतिनिधित्व किया।

शोक सभा में पंजाब के राज्यपाल श्री सुरेन्द्र नाथ ने वीर जी को श्रद्धांजलि देते हुये कहा कि "श्री वीरेन्द्र जी बचपन से स्वतन्त्रता आन्दोलन में अपने पिता के पद चिन्हों पर चलते हुये कूद पड़े थे। मेरा परिवार उन दिनों पड़ोस में ही रहता था। जब पुलिस श्री वीरेन्द्र जी को पकड़ कर ले जाती थी तो कई-कई दिन परिवार को ज्ञात नहीं होता था कि वीर जी किस जेल या हवालात में बन्द है।

वास्तव में श्री वीरेन्द्र जी अनेक बार स्वतन्त्रता आन्दोलन में जेल गये। एक बार श्री वीरेन्द्र जी और आनन्द स्वामी के सुपुत्र श्री यश को फांसी की सजा भी हो चुकी थी। स्व० पण्डित ज्वाहर लाल नेहरु ने स्वयं काला कोट पहन कर वकालत की थी और दोनों को फांसी से बचाया था। पंजाब में स्वतन्त्रता के पश्चात् हिन्दी विरोधी आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। वहाँ पंजाब सरकार ने कैरों के मुख्यमन्त्रीत्व काल में हिन्दी विरोधी कानून बनाये। इसके परिणाम स्वरूप स्वामी आत्मानन्द जी के नेतृत्व में हिन्दी के समर्थन में आन्दोलन किया, उस समय श्री वीरेन्द्र जी का समाचार पत्र पंजाब सरकार के विरूद्ध आग उगलता था। पंजाब सभा का नेतृत्व स्वयं श्री वीर जी ने सम्भाला, वे जेल भी गये।

गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय के निर्माण में भी श्री वीरेन्द्र जी का विशेष हाथ रहा हैं। आप विश्वविद्यालय के कुलाधिपति भी रहे। कांगड़ी ग्राम में प्राचीन गुरुकुल कांगड़ी को गङ्गा की धारा से बचाने के सदैव प्रयत्नशील रहे। तत्कालीन कुलपति श्री सुभाष विद्यालंकार को इस निमित्त दस लाख रुपये प्रदान किये। यद्यपि वहां कार्य संतोषजनक नहीं हो पाया।

श्री वीरेन्द्र जी जब गुरुकुल कांगडी में अन्तिम बार आये तो गुरुकुल के प्रशासन से उन के गहरे मतभेद हो गये। मेरे घर पर उनका दोपहर का भोजन था। भोजन करने के पश्चात् कुछ देर तक गुरुकुल के प्रबन्ध के विषय में बातचीत हुई तो मैंने कहा मुझे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आपका इस विषय में आशीर्वाद चाहिये कि मैं विश्वविद्यालय की भूमि को बेचने से बचा सकूँ। मैंने यह कहकर न्यायालय का स्टे (निषेधाज्ञा) उनके हाथ पर रख दिया। वे एक मिनट चुप रहे, उसके बाद बोले मेरा आशीर्वाद आप के साथ है। बाहर चाहे मैं कुछ भी लिखूं या कहूं। मैं तुम्हारे साहस की प्रशंसा करता हूं। मुझे यह आशा नहीं थी कि वे मुझे इस विषय में आशीर्वाद देंगे। उनके महान् व्यक्तित्व की ही यह अभिव्यक्ति है। जिस समय १९७७ में गुरुकुल विश्वविद्यालय पर संकट के गहरे बादल मण्डरा गये थे, उस समय अवैध कब्जे को हटाने के लिये २०० कर्मचारियों के साथ स्वयं रुड़की जेल में रहे।

गुरुकुल पत्रिका परिवार की ओर से उस महान् विभूति को शतशः प्रणाम एवं परिवार के समस्त सदस्यों के लिये ईश्वर से प्रार्थना है कि उन्हें इस दुःख को सहन करने की शक्ति प्रदान करें।

जयदेव वेदालंकार
सम्पादक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्व० डा० प्रशान्त कुमार वेदालंकार

डा० प्रशान्त वेदालंकार का महा प्रयाण

गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय के यशस्वी स्नातक महान् कर्मयोगी एवं निर्भीक पत्रकार डा० प्रशान्त वेदालंकार जी भी पिछले दिनों हमसे सदा-सदा के लिये बिछुड़ गये । वे मारीशस की यात्रा के लिये एयरपोर्ट पहुंचे और वहीं उनकी जीवन यात्रा महाप्रयाण बन गयी । प्रशान्त जी का यह आकस्मिक प्रयाण केवल परिवारजन और इष्टमित्रों के लिये ही शोककारक नही है अपितु सम्पूर्ण आर्यजगत् के लिये विशेष रूप

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के लिये यह एक अपूरणीय क्षति है। पत्रकारिता के क्षेत्र में भी उनके चले जाने से एक शून्य सा उत्पन्न हो गया है जिसको भरा जाना असम्भव सा ही है। गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय और गुरुकुल पत्रिका परिवार उनके निधन से गहरे दुःख का अनुभव करता है।

डा० प्रशान्त वेदालंकार उच्चकोटि के वक्ता और निर्भीक लेखक थे। संवेदनशीलता के साथ बौद्धिक प्रखरता का अनूठा समन्वय उनके व्यक्तित्व में निहित था। उनका जीवन एक सत्यनिष्ठ कर्मयोगी और तार्किक बुद्धिवादी पत्रकार का जीवन था। अपने जीवन में अनेक उतार चढ़ाव देखे किन्तु उनके स्वर में कोई दीनता या पराजय का चिह्न दिखाई नहीं दिया। वे कर्म करते हुए जिए और कर्म करते हुए ही संसार से विदा हुए। अशक्त और असहाय अवस्था में खाट पर पड़े हुए दीर्घ जीवी होने से अल्प काल का प्रकाशमय और गतिशील जीवन लाख गुना बेहतर हैं। "मुहूर्तं ज्वलितं श्रेयः न तु धूमायितं चिरम्" इस मूलमन्त्र को अपनाकर प्रशान्त जी एक तेजस्वी और कर्मप्रधान जीवन जीते हुए महाप्रयाण को प्राप्त हुए हैं।

प्रशान्त जी गुरुकुल कांगड़ी के स्वजन थे। समस्त कुलवासी शोकाकुल हृदय से उन्हें श्रद्धासुमन समर्पित करते हैं।

जयदेव वेदालंकार
सम्पादक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

औपनिषदिक चिन्तनधारा में मुख्य आचार-तत्त्व

डा० ईश्वर भारद्वाज
अध्यक्ष, योग विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

उपनिषदें चिरन्तन ऋषियों की महामेधा से प्रसूत ज्ञान की वह दिव्य राशि हैं जो काल से अनवच्छिन्न हैं। काल की पुराणता जिसे जीर्ण नहीं कर सकती। अन्य वस्तुओं को काल परिवर्तित कर सकता है किन्तु उपनिषदों में जो सिद्धान्त ऋषियों ने प्रतिपादित किए हैं, उनमें परिवर्तन नहीं हो सकता। वे सिद्धान्त सार्वभौम, सार्वकालिक और सर्वजनहितकारी हैं। अध्यात्म विद्या केवल साधारण ज्ञान नहीं है अपितु एक महाविज्ञान है, मानव-मस्तिष्क की सबसे बड़ी उपलब्धि है। यह कहना भी कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि संस्कृत साहित्य का पूर्ण ज्ञान उपनिषदों में ही पर्यवसित होता है।

अध्यात्म-विद्या के तत्त्व—

भारतीय आध्यात्मिक चिन्तन धारा के अन्तर्गत तीन स्तम्भ विवेच्य हैं— तत्त्व मीमांसा, प्रमाण—मीमांसा व आचार—मीमांसा। अध्यात्म विद्या में इन तीनों का ही विश्लेषण और अनुशीलन किया जाता है। तत्त्वमीमांसा तीन प्रकार की है—आध्यात्मिक, आधिभौतिक व आधिदैविक। आध्यात्मिक तत्त्वों में आत्मा, मन व शरीर से सम्बन्ध रखने वाले तत्त्वों की परिगणना होती है। भौतिक तत्त्वों में पंचमहाभूत आते हैं। अतीन्द्रिय मूर्त व अमूर्त दिव्य शक्तियां आधिदैविक तत्त्वों में आती हैं। उपनिषदों में इन सभी प्रकार के तत्वों पर उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलय की दृष्टि से विचार किया गया है।

समस्त तत्त्वों को समेकित करके यदि संक्षिप्त शब्दों में कहा जाए तो उनका नाम ब्रह्म (ईश्वर), पुरुष (आत्मा) व प्रकृति सिद्ध होता है। इन्हीं तत्त्वों में सभी का अन्तर्भाव हो जाता है। इन तत्वों में ब्रह्म प्राप्तव्य है, जीवात्मा उसका प्राप्तकर्ता है तथा प्रकृति उसकी प्राप्ति का माध्यम है। सम्प्रति हमारा वर्ण्यविषय उन आचार तत्वों का उल्लेख करना है, जिनसे ब्रह्म की प्राप्ति तो होती ही है, साथ-ही-साथ जो वर्तमान संदर्भ में भी मानवमात्र के अभ्युदय के लिए आचरणीय हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

औपनिषदिक आचार शास्त्र—

समस्त उपनिषदों में आचारशास्त्र की उपयोगिता को दु:ख निवृति व स्वरूप प्राप्ति रूप मोक्ष के अधिगम हेतु स्वीकार किया गया है। समस्त विद्या, समस्त कर्म एवं समस्त उपदेशों का ध्येय केवल यही है। जो आचारशास्त्र इस उद्देश्य की प्राप्ति नहीं कराता, वह यहां अनुपयोगी है। यहां उपनिषदों में विद्यमान आचारशास्त्र के मुख्य तत्त्वों को दिङ्मात्र उदाहृत किया जा रहा है—

१. ज्ञान कर्म समुच्चय—

विद्या व अविद्या अर्थात ज्ञान व कर्म दोनों का संवलित रूप ही मोक्ष के लिए उपयोगी है।[1] सम्भूति और विनाश इन दोनों की उपासना भवसागर-संतरण के लिए अनिवार्य है।[2] ईशोपनिषद् में कहा गया है कि केवल विद्या और अविद्या अन्धकार में ले जाने वाली हैं।[3] अत: दोनों का समन्वित रुप ही मोक्षार्थियों के लिए उपासनीय है।

२. तप व श्रद्धा—

यह तो निर्विवाद है कि तत्वज्ञान से मोक्ष होता है।[4] किन्तु तत्वज्ञानप्राप्ति सबके लिए सुकर नही है। उसके लिए निरन्तर तप व अविचलित श्रद्धा और आस्था की नितान्त आवश्यकता है। स्मृति कहती है कि 'श्रद्धावांल्लभते ज्ञानम्। मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है कि जो शांत विद्वज्जन भिक्षाचरण करते हुए अरण्य में रहकर तप और श्रद्धा का अर्जन करते हैं, वे ही रजोगुण से रहित होकर सूर्यद्वार से अमृतलोक को जाते हैं।[5]

---

१. विद्यां चाविद्याँ च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ।।ई०—११

२. सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते ।।ई०-१४

३. अन्धन्तम: प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रता: ।।ई०—९

४. तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्य: पन्था: विद्यतेऽयनाय ।। —श्वे०—३/८

५. तप: श्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ताविद्वांसो भैक्ष्यचर्यां चरन्त:।
सूर्यद्वारेण ते विरजा: प्रयान्ति यत्रामृत: स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ।। —मु०—१/२/११

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐसा ही भाव छान्दोग्योपनिषद् में व्यक्त किया गया है।[1] अतः मोक्ष के अधिगम हेतु तप और श्रद्धा आवश्यक है। छान्दोग्य में कहा गया है कि जो व्यक्ति तप, दान आर्जव, अहिंसा और सत्यवचन में जीवन व्यतीत करता है, उसका जीवन वास्तव में उपकारी का जीवन है।[2] इसीलिए पिप्पलाद ब्रह्मचारियों को (जिज्ञासुओं को) तप, ब्रह्मचर्य और श्रद्धा का जीवन व्यतीत करने को कहते हैं।[3] तैत्तिरीयोपनिषद् का ऋषि तप से ब्रह्म को जानने का आदेश देता है।[4] केनोपनिषद् में तप, दम व कर्म ब्रह्मजिज्ञासु के लिए अनिवार्य बताया है।[5]

३. सत्य— उपनिषदों में 'सत्यं वद[6], का उपदेश देकर विभिन्न दृष्टान्तों से सत्य कथन के महत्व को समझाया गया है। गणिकापुत्र सत्यकाम जाबाल द्वारा सत्य बोलने पर गुरु हारिद्रुमत द्वारा उसे उपनयन की दीक्षा प्रसन्नतापूर्वक देना सत्य के महत्त्व को ही प्रतिपादित करता है।[7] प्रश्नोपनिषद् में तो यहां तक कह दिया है कि जो असत्य भाषण करता है, वह समूल सूख जाता है।[8] मुण्डकोपनिषद् में कहा है कि सत्य की ही जय होती है, असत्य की नहीं। देवमार्ग सत्य से ही बना

---

१. ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसंभव न्त्यर्चिषोऽहरह।
आपूर्यमाण पक्षमापूर्यमाणपक्षानद्यान षडुदङ्ङेति मासांस्तान्॥ —छा०-५/१०/१
२. अथ यत्तपोदानमार्जवमहिंसा सत्यवचनमिति ताऽस्य दक्षिणाः। -छा०-३/१७/४
३. तान्ह स ऋषिरुवाच भूय एव तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संवत्सरं संवत्स्यथ......प्र०-१/२
४. तपसा ब्रह्मविजिज्ञास्व। तैत्ति०-३/२
५. तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा वेदाः सर्वागानि सत्यमायतनम्॥केनो०-४/८
६. तैत्तिरीयोपनिषद्—१/११/१
७. नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति। समिधं सोम्याहरोपत्वानेष्ये न सत्यादगा इति। —छा०-४/४/५
८. समूलो वा एष परिशुष्यति योऽनृतमभिवदति। —प्र०—६/१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है तथा आप्तकाम ऋषि जहां पहुँचते हैं वह भी सत्य का ही धाम है ।[1]

४. दान— वेद में 'शतहस्त समाहर सहस्रहस्त संकिर' कहकर जिस दान की महत्ता प्रतिपादित की थी, वह उपनिषदों में यथावत बनी रही । इसी कारण कालान्तर में महर्षि पतंजलि ने योग की आचार-संहिता में 'अपरिग्रह' के रुप में दान को प्रतिष्ठापित किया ।

बृहदारण्यकोपनिषद् में प्रजापति ने मनुष्यों को दान करने का आदेश दिया है ।[2] तप व दान का जीवन बिताने वाला दक्षिणा स्वरुप कहा गया है ।[3] इसीलिए कहा गया है कि श्रद्धा या अश्रद्धा से, लाभ या हानि में, लज्जा या भय से अर्थात् किसी भी प्रकार से भी दान करना चाहिये ।[4]

५. शम व दम— मन के निग्रह को शम तथा बाह्य दशेन्द्रियों के निग्रह को दम कहा जाता है । श्रेयस् व प्रेयस् उभयविध कल्याण के लिए शम और दम का आचरण मानवमात्र के लिए सेवनीय है ।[5] 'न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो[6] कहकर नचिकेता भोगों को ठुकरा देता हैं । सच ही है, जीर्ण होने वाली मरणावस्था को जानकर कौन ऐसे जीवन की कामना करेगा ?[7] भोगों के भोग द्वारा कामनाएं

---

१. सत्यमेव जयति नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयान: ।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम् ।। मु०—३/१/६

२. द इति दाम्यत् दत्त दयध्वमिति तदेतत्त्रयं शिक्षेद् दमं दानं दयामिति ।
बृहदा०—५/२/३

३. यत्तपोदानमार्जवं......ता अस्य दक्षिणा: । छां० ३/१७/४

४, श्रद्धया देयम् । अश्रद्धया देयम् । ह्रिया देयम् । श्रिया देयम् । भिया देयम् ।
संविदा देयम् ।। तै०—१/११/३

५. तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा—केनो०—४/८

६. कठो०—१/१/२७

७. अजीर्यताममृतानामुपेत्य जीर्यन् मर्त्यः क्वधः स्थः प्रजानन् ।।कठो०—१/१/२८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बढती ही हैं, जैसे अग्नि में घृत डालने पर अग्नि बढ़ती जाती है।[1] हमारी इन्द्रियों के द्वार बाहर की ओर बनाए हैं। अतः उनका विषयोन्मुख होना स्वाभाविक है। मोक्ष के जिज्ञासु को चाहिए कि इन्द्रियों को अन्तर्मुखी करके वह अन्तरात्मा को देखे।[2]

६. ब्रह्मचर्य— ब्रह्मचर्य की महिमा से कौन परिचित नहीं है? ब्रह्मचर्य के बल के कारण ही इन्द्र देवताओं का राजा है।[3] देवताओं ने मृत्यु पर विजय ब्रह्मचर्य द्वारा ही पाई है।[4] अतः ब्रह्मचर्य को उत्कृष्ट तप कहा गया है। उपनिषदों में ब्रह्मचर्य की महत्ता का प्रतिपादन करते हुये पिप्पलाद ने अपने पास प्रश्नों के समाधान हेतु आए शिष्यों (सुकेशा, सत्यकाम, गार्ग्य, कौशल्य, वैदर्भि और कबन्धी) को एक वर्ष तक ब्रह्मचर्यपूर्वक रहने का आदेश दिया।[5] प्रश्नोपनिषद् में ही कहा गया है कि ऋग्वेद का ज्ञान मनुष्यलोक में ले जाता है, जहां वह तप, ब्रह्मचर्य व श्रद्धा से युक्त होकर परमात्मा की महिमा का अनुभव करता है।[6] इन्द्र व विरोचन जब आत्मा के ज्ञान हेतु प्रजापति के पास गए तो उन्होंने उन दोनों को ३२ वर्ष तक ब्रह्मचर्यपूर्वक रहने का आदेश दिया[7]। आत्मा का रहस्य जानने के लिए इन्द्र शताधिक वर्षों तक ब्रह्मचर्य का पालन करते रहे। इसीलिए कहा है कि जो ब्रह्मलोक को बह्मचर्यपूर्वक ढूंढते

---

१. न जातु कामाः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मे इव भूय एवाभिवर्धते॥ मनुस्मृति

२. परांचि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत चक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥ –कठो० २/१/१

३. इन्द्रोह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत्। अथर्व– ११/५/१९

४. ब्रह्मचर्यण तपसा देवा मृत्युमपाध्नत। वही

५. तान्ह ह ऋषिरुवाच भूय एव तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया······/ प्रश्नो० १/२

६. तमृचो मनुष्यलोकमुपनयन्ते स तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया सम्पन्नो
महिमानमनुभवति – प्रश्नो० ५/३

७. तौ ह द्वात्रिंशतं वर्षाणि ब्रह्मचर्यमूषतुस्तौ। छा०–८/७/३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं, वह उन्हीं को प्राप्त होता है[1]। इसमे यह तो सिद्ध है कि ब्रह्मचर्य से जो शक्ति प्राप्त होती है, वह अपरिमित है। वह ऐहिक व पारलौकिक सामर्थ्य प्रदान करती है। इसी कारण कहा गया है— 'सिद्धे बिन्दौ महायत्ने किं न सिद्धयति भूतले'। छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है कि जिस (ब्रह्मचर्य) के द्वारा ब्रह्म को जाना जाए, वह यज्ञ है।[2] इस प्रकार ब्रह्मचर्य की महत्ता अनेक स्थलों पर प्रतिपादित की है।

७ — संन्यास व वैराग्य —

गृह, धन व मोह के त्याग को संन्यास कहते हैं। यही वैराग्य का मूल है। संन्यास के द्वारा मोह नष्ट होकर वैराग्य दृढ़ होता है तथा शुद्धान्तःकरण होकर आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ होते हैं[3] मात्र यज्ञादि कर्मानुष्ठान से मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती[4] उसके लिए वैराग्य आवश्यक है। अतः मनुष्य को चाहिए कि कर्म द्वारा प्राप्त होने वाले लोकों की परीक्षा करके वह वैराग्य को प्राप्त हो जाए।[5] तभी वह जीवन के चरम लक्ष्य की प्राप्ति कर सकता है। संन्यास और वैराग्य तो उपनिषदों में मुख्य सिद्धान्त रूप में वर्णित हैं।

१— तद्य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येणानुविन्दन्ति तेषामेवैष ब्रह्मलोकस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति। छान्दो० ८/४/३

२— अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्ब्रह्मचर्येण ह्येव यो ज्ञाता तं विन्दतेऽथ यदिष्टमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद् ब्रह्मचर्येण ह्येवेष्ट्वाऽऽत्मानमनुविन्दते। यत्सत्रायणं······ यदनाशकायनमित्याचक्षते। — छान्दो० ८/५/१–३

३ — वेदान्त विज्ञान सुनिश्चितार्थाः
संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः। — मुण्डको० ३/१/६

४— इष्टापूर्तंमन्यमाना — मु०— १/२/१०

५ — परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो
निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन ॥
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥ मु० १/२/१२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

८— योग साधना—

उपनिषदों में योग साधना का प्रतिपादन करते हुए ऋषियों ने श्रेय मार्ग को चुनने के लिए ही उत्साहित किया है। योग्य मार्ग पर चलने वाला पथिक श्रेय और प्रेय दोनों पथों पर सुगमता से चल सकता है। विभिन्न उपनिषदों में इसी साधना को कैवल्य प्राप्ति का उत्तम साधन माना गया है।

श्वेताश्वतरोपनिषद् में ध्यान, आसन, प्राणायाम व सिद्धियों का वर्णन प्राप्त होता है।[1] योगाभ्यास के योग्य स्थान तथा आसन की स्थिति का वर्णन किया गया है।[2] कठोपनिषद में इन्द्रियों की स्थिरधारणा को योग कहा गया है।[3] कठोपनिषद् में ही एक सौ एक नाड़ियों का वर्णन मिलता है।[4] ईश्वर पर विश्वास और उसके प्रति समर्पण भाव के बिना योग साधना में गति नहीं।[5] इसीलिए आस्तिक्य भाव को निरन्तर दृढ़ करते रहना चाहिए।[6] योगसाधना के द्वारा ही मरणधर्मा मनुष्य अमरता प्राप्त कर सकता है। उसके हृदय की समस्त ग्रन्थियां खुल जाती हैं।[7] यमराज ने

---

१. अग्निर्यत्राभिमथ्यते............ श्वे०–२/६
सवित्रा प्रसवेन.............. वही–२/७
त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं ...... वही– २/८
प्राणान् प्रपीडयेह .... वही– २/९
समे शुचौ शर्करा .... वही– २/१०
नीहार धूमार्का .... वहीं– २/११
लघुत्वमारोग्य .... वही– २/१३

२. कठो०–२/१०

३. यदापंचावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्॥
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्तस्तदाभवति योगो हि प्रभवाप्ययौ॥ कठो० २/३/१०–११

४. शतं चैका हृदयस्य नाडयस्तासां............वही–२/३/१६

५. अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते– कठो० २/३/१२

६. अस्तीत्येवोपलब्ध............ वही– २/३/१३

७. यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्यनुशासनम्॥ वही– २/३/१५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नचिकेता को योगविधि बताकर मोक्षमार्ग का उपदेश दिया है ।[1]

योगसाधना में प्रणवोपासना अत्यन्तावश्यक है । उपनिषदों में अनेक स्थलों पर प्रणवोपासना का वर्णन प्राप्त होता है ।[2]

सत्य, तप, ज्ञान, ब्रह्मचर्यादि को परमात्मप्राप्ति का साधन स्वीकार किया है[3] तथा तर्क, प्रमाद, निर्बलता और गुणहीनता के द्वारा भगवद्प्राप्ति असम्भव कही गई है ।[4]

प्राण की महिमा तो अनेक स्थलों पर वर्णित है ।[5]

---

१. मृत्यु प्रोक्तां नचिकेतोपलब्ध्वा विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम् ।कठो०-२/३/१/८

२. स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्–श्वे० १/१४

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा............ मु०– २/२/४

छान्दोग्य–अध्याय १ व २, तैत्ति०– १/८, माण्डू० ८/१२- प्रश्नो० ५/१-७

३. सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् । -मु० ३/१/५

४. नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम् । वही० ३/२/३

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्तपसो चाप्यलिंगात् ।

एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वांस्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम ।। वही० ३/२/४

५. प्रश्नो०— १,२,३, प्रश्न

प्राणं देवानुप्राणन्ति । मनुष्याः पशवश्च ये । प्राणो हि भूतानामायुः ।

.... प्राणं ब्रह्मोपासते । तैति०– २/३/१

प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात् । प्राणाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते ।

प्राणेन जातानि जीवन्ति । प्राणं प्रयत्यभिसंविशन्ति......वही ३/३

प्राणो वा इदं सर्वं भूत, यदिदं किंच तमेव तत्प्रापत्ति । छा०– ३/१५/४

प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च–छा० ५/१/१

प्राणः सामवेदः – बृ० १/५/५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

बृहदारण्यकोपनिषद् व प्रश्नोपनिषद् में जाग्रतादि अवस्थाओं का वर्णन है।[1] तैत्तिरीयोपनिषद् में पंचकोशों का अत्यन्त सुन्दर वर्णन प्राप्त होता है।[2] योग के उपनिषदों की ही संख्या २१ है। साधना की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है।

९. **सदाचरण**— क्या करणीय है? क्या अकरणीय है? उपनिषदों में इसका प्रतिपादन करके सदाचरण करने का उपदेश दिया गया है। शुभ कर्मों से शुभ लोक तथा अशुभ कर्मों से अशुभ लोकों की प्राप्ति होती है।[3] अतः शुभ कर्मों को करके सुख प्राप्त करना चाहिए। अशुभ कर्म जैसे— चोर, मद्यपानी, गुरु-निन्दक और ब्रह्मज्ञानी को मारने वाला— ये सभी अधोलोकों में जाते हैं।[4] अतः ऐसे कर्म करने चाहिए जिनमें इह लोक व परलोक दोनों का कल्याण हो। इसलिए दीक्षान्त में आचार्य उपदेश करता है कि सत्यधर्म का पालन करो। स्वाध्याय में प्रमाद न करो। माता-पिता-अतिथि का सत्कार करो। दान करो। हमारे सद्गुणों को धारण करो तथा दुर्गुणों को कभी धारण न करो।[5]

औपनिषदिक चिन्तनधारा में आचारशास्त्र के ये स्फुट मणि तो यहां उनमें भरी अथाह ज्ञान राशि की ओर इंगित मात्र करते हैं। यदि इनमें अवगाहन करेंगे तो अनेक अन्य तत्वों का साक्षात् कर सकेंगे।

हमारी देववाणी का ही वह परम सौभाग्य कहा जाएगा कि व्यवहारिक ज्ञान के साथ-साथ पारलौकिक जीवन को सुन्दरतम बनाने के लिए महत्वपूर्ण तथ्य इसमें भरे पड़े हैं। यह हम सब संस्कृत प्रेमी जनों का दायित्व है कि नवीनतम अनुसंधान करके उस अमृत तत्व को जन-सुलभ करें ताकि जन-जन का कल्याण हो सके। शन्नि-त्योऽस्तु।

---

१. बृहदा०-४-२.३
   प्रश्नो०—१—४
२. तैत्ति०-२-१-५, ३-२-६
३. पुण्येन पुण्यं लोक नयति पापेन पापम्-प्रश्नो०-३-७
४. स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिबंश्च गुरोस्तल्पमावसन्ब्रह्मा च।
   एते पतन्ति चत्वारः पंचमश्चाचरस्तैरिति ॥ छा०-५-१०-९
५. वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति। सत्यं वद। धर्मं चर।
   स्वाध्यायान्माप्रमदः....मातृदेवो भव। पितृदेवो भव।
   आचार्य देवो भव। अतिथि देवो भव।...यान्यस्माकं
   सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि ॥ तै०-१-११-१-२

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महर्षि पतंजलि और आचार्य बुद्धघोष की योग साधना का भारतीय योग साधना में स्थान-

डा० सुरेन्द्र सिंह नेगी
व्याख्याता दर्शन विभाग
डा० हरी सिंह गौर वि०वि० सागर (म०प्र०)

प्राचीन भारतीय मनीषियों के अनुसार जीवन का परम लक्ष्य अनंत सुख प्राप्त करना रहा है। सुख से तात्पर्य इन्द्रिय सुख से नहीं है क्योंकि इन्द्रिय सुख वास्तव में सुख नहीं है वह तो पराधीन, क्षण भंगुर और बन्ध का कारण होने के कारण दुःख रूप ही है। उन्होंने ऐसे सुख को प्राप्त करना चाहा है जो आत्मजन्य, अनन्त और अविनाशी हो।[1] इस सुख की प्राप्ति का अर्थ हैं मोक्ष की प्राप्ति।

भारत में जीवन की समस्याओं को हल करने के लिये दर्शन का सृजन हुआ है। जब मानव ने अपने को दुःखों के आवरण में घिरा हुआ पाया तब उसने पीड़ा और क्लेश से छुटकारा पाने की कामना की। इस प्रकार दुखों से निवृति के लिये उसने दर्शन को अपनाया। इसलिये प्रो० हिरियान्ना ने कहा है" पाश्चात्य दर्शन की भांति भारतीय दर्शन का आरम्भ आश्चर्य एवं उत्सुक्ता से न होकर जीवन की नैतिक एवं भौतिक बुराइयों के शमन के निमित्त हुआ था। दार्शनिक प्रयत्नों का मूल उद्देश्य था जीवन के दुखों का अन्त ढूंढना और तात्विक प्रश्नों का प्रादुर्भाव इसी सिलसिले में हुआ।[2] उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत में ज्ञान की चर्चा ज्ञान के लिये न होकर मोक्षानुभूति के लिए हुई है। मोक्ष की प्राप्ति आत्मा के द्वारा मानी गयी है। यही कारण है कि चार्वाक को छोड़कर सभी दर्शनों में आत्मा का अनुशीलन हुआ है। भारतीय दर्शन को आत्मा की परम महत्ता प्रदान करने के कारण कभी-कभी "आत्मविद्या" भी कहा जाता है। अतः व्यावहारिकता और आध्यात्मिकता भारतीय दर्शन की विशेषता है।

---

(१) आचार्य कुन्दकुन्द, प्रवचनसार का-१३
(२) आउट लाइन आफ इंडियन फिलासफी, पृष्ट-१८,१९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारत में यद्यपि सभी दर्शनों का विकास एक ही साथ नहीं हुआ है फिर भी सभी दर्शन-साथ-साथ जीवन्त रहे है। ज्यों ही एक सम्प्रदाय का विकास होता है, त्यों ही उसके मानने वाले अनुयायियों का भी प्रादुर्भाव हो जाता है। उस दर्शन के समाप्त हो जाने के बाद भी उसके अनुयायियों के द्वारा दर्शन एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक जीवित होता चला जाता है। भारत के विभिन्न दर्शनों के शताब्दियों तक जीवित रहने का यही रहस्य है। भारतीय दर्शन के आस्तिक सम्प्रदायों का विकास सूत्र-साहित्य के द्वारा हुआ है। प्राचीन काल में लिखने की परिपाटी नहीं थी। दार्शनिक विचारों को अधिकांशत: मौखिक रूप से ही जाना था। समय के विकास के साथ ही साथ दार्शनिक समस्याओं का संक्षिप्त रूप सूत्रों में आवद्ध किया गया। इस प्रत्येक दर्शन के प्रणेता ने सूत्र साहित्य की रचना की। गौतम, कणाद, कपिल, जैमिनी, पतंजलि और बादरायण द्वारा महान् दर्शन-सूत्रों का प्रणयन हुआ। ये दर्शन-सूत्र अत्यन्त ही संक्षिप्त, अगम्य और सारगर्भित होते थे। इनका अर्थ समझना साधारण व्यक्ति के लिए अत्यन्त ही कठिन था। अत: इनकी व्याख्या के लिये टीकाओं की आवश्यकता प्रतीत हुई। इस प्रकार बहुत से टीकाकार प्रकाश में आये। दर्शनों का विकास सूत्र साहित्य के माध्यम से होने के कारण उनकी प्रामाणिकता अधिक बढ़ गई है। प्रत्येक सूत्र को समझ लेने के बाद उस दर्शन के विभिन्न दृष्टिकोणों को समझने में कठिनाई नहीं होती।

महर्षि पतंजलि की योग साधना का भारतीय योग साधना में स्थान:–

भारतवर्ष में योग का उद्भव प्राचीन काल से ही माना जाता है। सैंधव संस्कृति में इसके प्रमाण मिलते हैं। वर्तमान में भारत के अतिरिक्त पश्चिम में भी पातंजल योग का पर्याप्त प्रचलन है। इसका प्रसार और प्रचार भी इतना हुआ कि पातंजल-योग ही "योग" का पर्यायवाची बन गया है। इससे कुछ लोगों ने अनुमान लगाया है कि पतंजलि ही योग सिद्धान्त के पुरस्कर्ता हैं। लेकिन उनका यह कथन युक्ति संगत प्रतीत नहीं होता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महर्षि पतंजलि का समय विवादास्पद है विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न विचार व्यक्त किये हैं। जैकोनी और ए० हिरियन्ना ने उनका समय पाँचवी शताब्दी का अन्त माना है।[1] डा० राधाकृष्णन ने उनका समय ईसा पूर्व तीसरा शताब्दी माना है।[2] पतंजलि ने "योग सूत्र" नामक ग्रन्थ लिखा। इसके प्रथम सूत्र "अथयोगानुशासनम्" में आये हुये "अनुशासन" शब्द से विद्वानों ने निष्कर्ष निकाला है कि पतंजलि योग के प्रवर्तक नहीं है। उन्होंने अपने पूर्व प्रतिष्ठित योग सिद्धान्त का परम्परागत अनुसरण कर उसमें संशोधन कर व्यवस्थित किया और उपदेश दिया है।[3] बलदेव उपाध्याय ने लिखा भी है- "पतंजलि ने योग का केवल अनुशासन किया अर्थात् प्रतिपादित शास्त्र का उपदेश मात्र दिया है। अतः वे योग के प्रवर्तक न होकर प्रचारक या संशोधक मात्र है। अनुशासन का अर्थ है-उपदेश दिये गये सिद्धान्त का प्रतिपादन। इससे सिद्ध है कि पतंजलि के पूर्व भी भारत में योग-साधना के बीज विद्यमान थे। अब प्रश्न यह होता है कि पतंजलि योग के उद्भावक नहीं थे तो उनसे पहले किसने योग का आविष्कार किया जिसका अनुशासन पतंजलि ने किया है।

कतिपय विद्वानों ने याज्ञवल्क्य स्मृति का हवाला देते हुये हिरण्यगर्भ को योग का पुरस्कर्ता माना है। इनका उपदेश प्रतिपादक शास्त्र "हिरण्यगर्भ योग" के नाम से प्रसिद्ध है। हिरण्यगर्भ और उनके योग सिद्धान्त को निःशंक रूप से प्राचीन और पतंजलि से पूर्व साख्यालम्बी योग माना गया है[4] लेकिन उनको योग सिद्धांत का आविष्कर्ता नहीं माना है। एक विचारणीय बात यह भी है कि तथाकथित योग के वक्ता हिरण्यगर्भ कौन है "महाभारत" में कृष्ण अपने को हिरण्यगर्भ कहते हुये योगियों द्वारा पूजित बतलाते हैं। यदि स्मृतियों के आधार पर हिरण्यगर्भ को योग का पुरस्कर्ता मान लिया जाय तो प्रश्न यह उठता है कि उपनिषदों और वेदों में इनके नाम का उल्लेख योग के प्रवक्ता के रूप में क्यों नहीं मिलता है। यद्यपि वहां यौगिक साधना के बीज यत्र-तत्र बिखरे हुये हैं। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि योग दर्शन में जिस योग की परम्परा उपलब्ध है वह पतंजलि की मौलिक देन नहीं हैं अर्थात् पतंजलि योग सिद्धांत के आविष्कारक नहीं थे। यह सिद्धांत उन्हें परम्परा से प्राप्त हुआ था।

---

(१) एम० हिरियन्ना, भा०द०पृ० २६९ और उसकी पाद टिप्पणी।

(२) डा० राधाकृष्णन "इण्डियन् फिलासफी" भाग-२, पृ० ३४१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेकिन इस बात से कोई भी इन्कार नही कर सकता है कि उन्होंने योग सिद्धान्त को परिमार्जित कर उसका विकास तथा प्रचार कर उसे अपनाने के लिये लोगों को प्रेरित किया। आत्म विकास क लिये "योग" एक महत्वपूर्ण साधन है। भारतीय संस्कृति के समस्त चिंतकों ने योग साधना के महत्व को स्वीकार किया है।

योग का अर्थ:-

"योग" शब्द "युज्" धातु से "घञ्" प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है। संस्कृत व्याकरण में "युज्" धातु के दो अर्थ है-संयोग (जोड़ना) एवं समाधि। भारतीय योग-दर्शन में "योग" शब्द दोनों अर्थो में प्रयुक्त हुआ है। महर्षि पतंजलि ने योग का अर्थ किया है- समाधि अर्थात चित्त वृत्ति का निरोध [1]। प्राय: सभी वैदिक योग चिन्तकों ने "योग" का अर्थ समाधि ग्रहण किया है। आचार्य हरिभद्र ने "योग" का अर्थ संयोग किया है। वे कहते हैं कि "मोक्षेण योजनाद् योगः [2] अर्थात योग एक सार्थक शब्द है क्योंकि वह आतमा को मोक्ष से जोड देता हैं। जैन दर्शन में "योग" शब्द का अपना एक विशिष्ट अर्थ भी है।

'कायवाङ्मनः कर्म योगः [3] अर्थात शरीर वचन एवं मन की प्रवृत्ति को योग कहते हैं। यह दो प्रकार का है-शुभ योग और अशुभ योग से पाप कर्मो का आस्त्रव होता हैं। यह दोनों प्रकार का योग कर्मबन्ध का कारण है। अतः मोक्ष (संवर) करना पड़ता है।

समाधि अर्थात चित्तवृत्तिनिरोध एक क्रिया है, साधना है। वह निषेधपरक

---

(१) पा०यो०सू० १/२

(२) योग बिन्दु-३१

(३) आ० उमास्वामी का तत्वार्थ सूत्र ६/१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं प्रत्युत विधेयात्मक है। चित्त वृत्ति के निरोध का वास्तविक अर्थ है अपनी संसाराभिमुख चित्त वृत्तियों को रोक कर साधना को साध्य-सिद्धि या मोक्ष के अनुकूल बनाना। जैन विचारक मोक्ष के साथ सम्बन्ध कराने वाले क्रिया साधना को योग कहते है। इस प्रकार योग के दोनों अर्थों में वस्तुतः भेद नहीं किन्तु अभेद समझना चाहिये।

भारतीय संस्कृति मूलतः दो धाराओं में प्रवाहमान रही है-वैदिक एवं श्रमण। इस अपेक्षा से योग साधनाओं की भी दो परम्परायें हैं।-वैदिक एवं श्रमण परम्परा। दोनों परम्पराओं का अपना स्वतन्त्र चिन्तन एवं मौलिक परिपार्श्व है। फिर भी दोनों परम्पराओं के विचारों में भिन्नता के साथ-साथ पर्याप्त साम्य भी है।

वैदिक योग परम्परा:-

वेद-उपनिषद काल की अपेक्षा षड्दर्शनों में योग की रूपरेखा अधिक स्पष्ट हो गई थी। योग दर्शन का प्रस्तोता ग्रन्थ महर्षि पतंजलि का योगसूत्र है। इसमें जो योग का स्वरुप प्राप्त होता है, वह वैदिक योग परम्परा का पूरा प्रतिनिधित्व करता है। इसमें योग के आठ अंगों का विवेचन है : जिनका परिपालन करके मानव जीवन के चरम लक्ष्य कैवल्य (मोक्ष) को प्राप्त किया जा सकता है। इन आठ अंगों के नाम हैं[1]। (१) यम (२) नियम (३) आसन (४) प्राणायाम (५) प्रत्याहार (६) धारणा (७) ध्यान (८) समाधि। वैदिक साहित्य में सबसे प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद माना जाता है। उसके अनेक मंडलों में 'योग" शब्द का उल्लेख हुआ है। यहां पर योग जोडने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है[2]। ऋग्वेद के पश्चात उपनिषदों में योग के विभिन्न रुप दृष्टिगोचर होते हैं। जहां कठोपनिषद तैतिरीयोपनिषद्, छान्दोग्य, वृहदारण्यक आदि में आत्म साक्षात्कार और समाधि के अर्थ में योग, ध्यान और तप शब्द का प्रयोग मिलता है। वहीं अर्वाचीन उपनिषदों में योग के विविध अंगों का भी वर्णन मिलता है। गीता में योग के तीन रुप दृष्टिगोचर होते हैं। कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग। इसके अलावा योग प्रक्रिया और उसके सिद्धान्तों का विवेचन भी किया गया है।

---

(१०) पा० योग सूत्र–२/६
(११) सुरेन्द्रदास गुप्ता भा०द० भाग-१, पृ० २३४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बौद्ध-श्रमण योग परम्परा:—

बौद्ध साहित्य में योग के स्थान पर "ध्यान" और "समाधि" शब्दों के प्रयोग मिलते हैं। विसुद्धिमग्ग में शील व समाधि का विवेचन उपलब्ध है। बौद्ध दर्शन में ध्यान की प्रक्रिया को समाधि कहा गया है। अतः यहां योग का अर्थ समाधि है। शील के द्वारा अकुशल कर्म दूर हो जाते है और समाधि अवस्था में कुशल कर्मों की ओर चित्त एकाग्र हो जाता है। चित्त के एकाग्र हो जाने से तृष्णा और वासनायें नष्ट हो जाती है। समाधि दो प्रकार की होती है-उपचार समाधि और अप्पना समाधि। उपचार समाधि में चित्त एकाग्र हो जाता है और अप्पना समाधि में चित्त को अत्यधिक शुद्ध बनाने की प्रक्रिया होती हैं। इस प्रकार क्रमशः प्रज्ञा उत्पन्न होने पर अर्हत् अवस्था प्राप्त हो जाती है। उसके बाद स्कंधों, पुनर्जन्म, दुख तथा पीड़ा से अत्यधिक निवृत्ति हो जाती हैं।

महात्मा बुद्ध ने निर्वाण प्राप्ति के लिये जिस अष्टांगिक मार्ग का उपदेश दिया, उसमें आठवें अंग समाधि का विशेष महत्व बताया गया है[1]। इस 'सम्यक् समाधि' को प्राप्त करने के लिये चार प्रकार के ध्यान का भी वर्णन है।

आर्य अष्टांग के वर्णन में शील समाधि और प्रज्ञा के उल्लेख प्राप्त होते हैं[5]।

बौद्धों द्वारा स्वीकृत शील में पतंजलि सम्मत यम-नियम का समावेश हो जाता है। बौद्ध समाधि में योग सूत्र द्वारा वर्णित प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि का समावेश हो जाता है। बौद्ध परम्परा द्वारा मान्य "प्रज्ञा" और योगसूत्र में वर्णित "विवेकख्याति" में पर्याप्त अर्थ साम्य है। इस प्रकार बौद्ध साहित्य में वर्णित योग अन्य परम्पराओं से कहीं शब्द से, कहीं अर्थ से और कहीं प्रक्रिया से साम्य रखता है। बौद्ध दर्शन में योगाचार नामक प्रमुख सम्प्रदाय का वर्णन भी उपलब्ध होता है, जिसके प्रवर्तक वसुबन्धु माने गये हैं।

---

(१२) संयुक्त निकाय-५/१०

(१३) "विसुद्धिमग्ग" १/१६/२५, ३/२/३, १४/२/३,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जैन :—

भगवान महावीर ने साढ़े बारह वर्ष तक मौन रहकर घोर तप, ध्यान और आत्म चिन्तन के द्वारा योग साधना का ही जीवन बिताया था। जैनागमों में वर्णित साध्वाचार पंच महाव्रत, पंच समिति, तीन गुप्ति, बारह प्रकार का तप, चार प्रचार का ध्यान आदि जो योग के मुख्य अंग हैं, उन्हें साधु जीवन श्रमण-साधना का प्राण माना गया हैं। जैन दर्शन में योग साधना के अर्थ में "ध्यान" शब्द का प्रयोग हुआ है। आचार्य उमा स्वामी ने "ध्यान" का लक्षण किया है' उत्तम संहननस्येकाग्र चिंता-निरोधि ध्यानमन्त मुंहूर्तात्. अर्थात किसी एक विषय में चित्त का निरोध (रोकना) ध्यान है। यह उत्तम संहनन वाले व्यक्ति के केवल अन्तर्मुहूर्त तक हो सकता है। आचार्य ने इसके चार भेद किये हैं-(१) आर्त (२) रौद्र (३) धर्म (४) शुक्ल। इनके प्रथम दो आर्त ध्यान एवं रौद्र ध्यान ससार के कारण है तथा अंतिम दो धर्म ध्यान तथा शुक्ल-ध्यान मोक्ष के कारण है [1]। इस ध्यान का पातंजल चित्तवृत्ति निरोध रूप समाधि से सामंजस्य बैठता प्रतीत होता है।

आचार्य बुद्धघोष की योग साधना का भारतीय योग साधना में स्थानः—

"योग शब्द से आशय प्रत्येक क्षेत्र में बोधचित्त होना ही बौद्ध परम्परा का प्राण-भूत तत्व है। इसमें मन के संतुलन को हम "योगः कर्मसु कौशलम्" कह सकते हैं। बौद्ध परम्परा में योग साधना के यत्र—तत्र संकेत प्राप्त होते हैं। यहां मूल रूप में हठयोग का परित्याग है। यद्यपि यह पूर्णतया क्रमिक विकसित रुप में परवर्तीकाल में ही प्रकाश में आया। विद्धानों की इस मत में पूर्ण आस्था नहीं है कि महात्मा बुद्ध पातंजल योग दर्शन से ही प्रभावित थे। क्योंकि पतंजलि को "बुद्ध" के परवर्ती ही माना गया है तथापि इतना सभी स्वीकार करते है कि बुद्ध के समय के पूर्व भी योग साधना का विकास हो चुका था। भले ही यह पातंजल योग दर्शन के रूप में उपलब्ध न हो। क्योंकि बुद्ध वचनों में अनेक स्थलों पर हमें विचार साम्य, विधि साम्य, वाजि साम्य प्राप्त होते हैं इसलिये भगवान बुद्ध योग प्रधान थे।

आचार्य बुद्धघोष बौद्ध दार्शनिकों एवं ग्रन्थकारों में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। स्थविरवाद के मूल सिद्धान्तों को अक्षुण्ण बनाये रखने और पालि साहित्य की श्री वृद्धि के लिये उन्होंने जो कार्य किया, वह स्थविरवादी जगत तथा

(१) तत्वार्थ सूत्र ६/२७, ६/२६

(२) जैन योग परिशीलन पृ०- ६४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पालि साहित्य का जीवन वर्धक बन गया। उन्होंने त्रिपिटक साहित्य की विस्तृत रूप से व्याख्या कर वास्तविक भाव को लुप्त होने से बचा लिया। यदि आचार्य बुद्धघोष ने अट्ठकथा ग्रन्थों को लिखकर गूढ़ अर्थों एवं भावों की व्याख्या न की होती तो त्रिपिटक ग्रन्थों का समझना सरल न होता। आचार्य बुद्धघोष के समान अन्य कोई भाष्यकार भी नहीं हुआ है। पालि साहित्य के ग्रन्थ निर्माताओं में त्रिपिटक वाङ्मय के पश्चात् महान् पालि ग्रन्थ निर्माता आचार्य बुद्धघोष ही हुये हैं। उन्होंने अट्ठकथाओं में जिन दार्शनिक, ऐतिहासिक, धार्मिक, राजनैतिक, आर्थिक एवं सामाजिक विषयों का विवेचनात्मक वर्णन किया है, उससे उनका पाण्डित्य पूर्णरूप से सामने आता है।

विशुद्धिमार्ग नामक ग्रन्थ में आचार्य बुद्धघोष ने बौद्ध दर्शन की विवेचनात्मक गवेषणा के साथ योगाभ्यास की प्रारंभिक अवस्था से लेकर सिद्धि तक की सारी विधियां सुन्दर ढ़ंग से समझाई हैं। इस ग्रन्थ में बौद्ध धर्म का कोई भी ऐसा अंग नहीं है, जो अछूता हो। इस प्रकार से इसे बौद्ध धर्म का विश्वकोश कहा जा सकता है। विशुद्धि-मार्ग प्रधानतः योग ग्रन्थ है। योगियों के लिये तो यह गुरू के समान निर्देश करने वाला महोपकारी ग्रन्थ है।

पतंजलि आदि दर्शन ग्रन्थों का ज्ञान बुद्धघोष को था। उन्होंने अटठकथा में उनके मतों पर अच्छा प्रकाश डाला है। अणिमा, लघिमा का उल्लेख तो साधारण बात है। रामायण तथा महाभारत का बुद्धघोष ने जहां वर्णन किया है, वहां उससे अधिक वे लिख नहीं सकते थे। वहां उनके कथन का भाव केवल इतना ही है कि रामायण तथा महाभारत की कथायें आसक्ति की ओर ले जाने वाली है, उनमें अहिंसा के स्थान पर हिंसा और वैराग्य के स्थान पर भोग-विलास का वर्णन अधिक है। अतः भिक्षुओं को उनके श्रवण, अवलोकन से वंचित रहना उत्तम है। जो भिक्षु घरबार छोड़कर अनासक्ति पथ पर चल रहे हैं, उनके लिये बुद्धघोष का कथन अनुकूल ही हैं और केवल इतने से ही नहीं कहा जा सकता कि उन्हें रामायण, या महाभारत का ज्ञान नहीं था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वेद सब सत्य-विद्याओं का पुस्तक है

स्व०डा० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार
पूर्व कुलपति गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

वेद-विषयक हमने जो लेख लिखे हैं, उनका मुख्य-लक्ष्य आर्यसमाज के तीसरे नयम को समझने का यत्न करना है। आर्यसमाज का तीसरा नियम है कि वेद सब 'सत्य'-विद्याओं का पुस्तक है'। इस नियम को समझने के लिये ऋग्वेद का अदिति' शब्द बहुत सहायक सिद्ध हो सकता है। यह एक अद्भुत शब्द है। 'अदिति' के लिये ऋग्वेद (१.८९.१०) में निम्न मंत्र है-

अदितिः द्यौः अदितिः अन्तरिक्षं अदितिः माता सः पिता सः पुत्रः।
विश्वेदेवाः अदितिः जनाः अदितिः जातं अदितिः अदितिः जनित्वम् ॥

इस मंत्र का अर्थ यह है कि संसार में जो-कुछ है, वह 'अदिति' है। 'अदिति'-शब्द 'दिति' से बना है। जो 'दिति' न हो वह 'अदिति' होगा। 'दिति'-शब्द 'दोः अवखंडने धातु से बना है। 'दिति' का अर्थ है-खंडित 'अदिति' का अर्थ हुआ-'अखंडित'। खंडित का अर्थ है-एक से दो, दो से तीन, तीन से चार इस प्रकार बंटते जाना, अखंडित का अर्थ है-सदा-सर्वदा एक बने रहना, टुकड़ों में न बंटना। जितना भौतिक-ज्ञान है, जिसे हम 'विज्ञान' कहते हैं, वह सब 'दिति' के भीतर समा जाता है क्योंकि वह कभी सत्य माना जाता है, कभी गवेषणा करते-करते असत्य हो जाता है और छोड़ दिया जाता है। अगर सब कुछ 'अदिति' हैं जो जात या जनित्व है वह सब 'अदिति' है तो वेद भी 'अदिति' है, सत्य भी 'अदिति' है, वेद—ज्ञान भी 'अदिति' है। वेद-ज्ञान को 'अदिति' कहने का अर्थ हुआ 'अखंडित'-ज्ञान, ऐसा ज्ञान जो सदा- सर्वदा एक बना रहता है, कभी बदलता नहीं-सदा सत्य, सनातन। इसी 'अदिति'-शब्द के लिये ऋग्वेद (८.१८.६) में दो अन्य शब्दों का प्रयोग हुआ है। जिससे हमारा विषय अधिक स्पष्ट हो जाता है। वह मन्त्र है-

अदितिर्नो दिवा पशुं अदितिर्नक्तं अद्वया।
अदितिः पात्वंहसः सदावृधा ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस मंत्र में अदिति' के लिये 'अद्वय' तथा 'सदावृध' शब्दों का प्रयोग हुआ है। 'अद्वय' का अर्थ है-जो दो न हो, 'सदावृध' को पदच्छेद करके इसके दो अर्थ हो जाते हैं-'सदावृध'-अर्थात्. जो सदा बढ़ता रहे, विकसित होता रहे, एक से दो,दो से तीन, तीन से चार होता रहे, बंटता रहे। इसका दूसरा अर्थ है-सद अवृध, जो सदा एक रहे, एक से दो, दो से तीन न हो, नित्य-सनातन, एक रूप में बना रहे। इस प्रकार वेद ने ज्ञान को तीन भागों में विभक्त किया है-'अदिति', 'सदावृध' तथा 'सदा-अवृध'। 'अदिति' वह ज्ञान है जो सदा एक रहता है, उसमें दो पक्ष नहीं हो सकते। 'सदावृध' वह ज्ञान है जो सदा बढ़ता रहता है, बदलता रहता है, आज यह और कल वह, बढ़ेगा तो बदल कर ही तो बढ़ेगा। यह वह ज्ञान है जिसे हम आज की भाषा में 'विज्ञान' कहते हैं। यह सदा अवृध वह ज्ञान है जिसे हम पहले 'अदिति' कह आये हैं-सत्य ज्ञान, अखंडित-ज्ञान, एक ज्ञान, न बदलने वाला ज्ञान या जिसे हम ईश्वरीय-ज्ञान कहते हैं। भौतिक ज्ञान सदा बढ़ता रहता है, 'सदावृध रहता है, बदलता रहता है, यह भौतिक विज्ञान है, इसका गुरु-शिष्य- परम्परा द्वारा आदान-प्रदान हो सकता है या मनुष्य द्वारा आविष्कार हो सकता है, आध्यात्मिक-ज्ञान सदा एक रहता है, 'अदिति' या 'अद्वय' है, सदा-सनातन है, इसका आविष्कार नहीं हो सकता, यह सदा दिया जाता है। संसार में सदा एक रहने वाली अगर कोई वस्तु है तो वह 'सत्य' है, 'सत्य' ज्ञान है। 'सत्य' सदा एक रहता है, अखंडित रहता है, वेद के शब्दों में कहें तो सत्य सदा 'अद्वय' है, 'अदिति' है। यह नहीं हो सकता कि किसी बात के लिये हम कहें कि यह भी ठीक है और उसकी विरोधी बात भी ठीक है। सत्य सदा 'अद्वय' होता है। उदाहरणार्थ हिन्दू हो, ईसाई हो, मुसलमान हो, यहूदी हो, पारसी हो-सभी कहेंगे कि सत्य बोलना चाहिये, कोई नही कहेगा कि सच भी बोल सकते हैं और झूठ भी बोल सकते. हैं। सब कहेंगे कि प्रेम करना चाहिये, कोई नहीं कहेगा कि प्रेम भी करो, द्वेष भी करो। सब कहेंगे कि परोपकार करना उचित है, कोई नहीं कहेगा कि परोपकार भी करो, पर-अपकार भी करो। ये तथा इस प्रकार के अनेक ऐसे आधार भूत तत्व हैं जिन्हें 'अद्वय'–अर्थात्

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनमें दो पक्ष नहीं हो सकते-ऐसा सब कोई कहते हैं। अगर 'अदिति' का अभिप्राय 'अद्वय' है तो वेद ने इस शब्द को उक्त मंत्र में 'सदावृध-शब्द के साथ (जिसका अर्थ है-सदा बर्धमान, सदा बदलने वाला) क्यों रखा ? वर्धमान' तो वह तत्व है जो सदा बढ़ता रहता हैं। छोटे से बड़ा, बड़े से बहुत-बड़ा हो जाता या हो सकता है। आज जैसा है कल वैसा नहीं है अर्थात् पहले जैसा नहीं है। जो चीज या जो विचार बदलता रहेगा, वही तो बढ़ेगा। वेद में एक-साथ 'अद्वय' तथा 'वर्धमान' को जोड़ देना एक रहस्य की बात है। इस रहस्य को खोलने का कुछ प्रयत्न हम पहले कर चुके है, कुछ अब प्रयत्न करेगे। यजुर्वेद के ४० वें अध्याय में 'विद्या' तथा 'अविद्या'-इन दो शब्दों का उल्लेख करते हुए लिखा है :-

अन्यदाहुः विद्यया, अन्यदाहुः अविद्यया।
इति शुश्रुम धीराणां येनस्तद् व्याचचक्षिरे ॥
विद्यां च अविद्यां च यस्तद् वेद उभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाममृत अश्नुते ॥

वेद के ये दोनों मंत्र विलक्षण हैं। इनमें से पहले का अर्थ तो स्पष्ट है। प्रायः अक्षर-ज्ञान तथा पढ़ने-लिखने को हम 'विद्या' कहते हैं। वेद का कहना है कि 'विद्या' तथा 'अविद्या' के ये अर्थ नहीं हैं। इतना ही नहीं, इन शब्दों के यथार्थ-अर्थ बतलाते हुए वेद का कहना है कि 'अविद्या'-रूपी-विद्या से मनुष्य मृत्युंजय बन जाता है, मृत्यु को जीत लेता है, परन्तु 'विद्या'-रूपी-विद्या से तो वह अमरत्व को प्राप्त कर लेता है। वेद की यह विलक्षण घोषणा है। ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक तथा लौकिक शब्दावली में जमीन-आसमान का अन्तर है। उक्त घोषणा से स्पष्ट है कि वेद यहां भौतिकवाद तथा भौतिक-विज्ञान को 'अविद्या' कह रहा है क्योंकि औषधि आदि तथा उसी प्रकार के भौतिक साधनों से जीवन को दीर्घ किया जा सकता है, मृत्यु से लढ़ा जा सकता है, मृत्यु-समुद्र को तरा जा सकता है। किन्तु अमरत्व तो सिर्फ अध्यात्मवाद तथा अध्यात्मविज्ञान से ही प्राप्त होता या हो सकता हैं। तभी कहा-'अविद्या' मृत्युं तीर्त्वा, और आगे कहा- 'विद्यया अमृत मश्नुते'।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह ठीक है कि हमारा ज्ञान, ज्ञान तभी कहला सकता है जब वह 'वर्धमान' हो आगे-आगे बढ़े। आज का वैज्ञानिक-जगत् इसीलिये श्रेयस्कर माना जाता है क्योंकि आज जो बात ठीक मानी जाती है, कल वही परीक्षण तथा खोज करते-करते गलत मानकर छोड़ दी जाती है। अगर विज्ञान रुक जाय, किसी जगह आकर खड़ा हो जाय, तो वह फेंक देने लायक होगा। परन्तु हमारी यह बात सिर्फ भौतिक-विज्ञान पर ही लागू होती है, आध्यात्मिक-विज्ञान पर नहीं। आध्यात्मिक तत्व सदा 'अद्वय', वर्धमान' होता हुआ भी 'अवर्धमान' होता है। 'हिंसा' से शुरू कर मनुष्य 'अहिंसा' पर जाकर रुक जाता है, 'असत्य' से शुरु कर 'सत्य' की खोज में भटकता है, चोरी-डाके-'स्तेय' से चलता-चलता शान्ति-सन्तोष 'अस्तेय' को जीवन का लक्ष्य बनाता है, पर-दारा-गमन या अब्रह्मचर्य और दुराचार में भटकता-भटकता 'ब्रह्मचर्य' तथा 'सदाचार' को परम-ध्येय समझने लगता है। भौतिक-तत्व जबतक 'वर्धमान' तक सीमित रहते हैं, तबतक जीवन अपने ध्येय को नहीं पकड़ता। जब जीवन के 'वर्धमान'-तत्व 'अवर्धमान' हो जाते हैं, जब वे हिंसा से अहिंसा, असत्य से सत्य, स्तेय से अस्तेय, अब्रह्मचर्य से ब्रह्मचय, परिग्रह से अपरिग्रह तक पहुंच जाते हैं, तब मनुष्य 'अद्वय' 'अदिति, 'अवर्धमान', एक-नित्य-सनातन को पा लेता है। उसी 'अद्वय' 'अदिति', 'अखडित' सत्य का वर्णन वेद में है। हमारे कथन का यह अभिप्राय नहीं है कि वेद में सिर्फ अध्यात्मवाद का वर्णन है भौतिकवाद या विज्ञान का वर्णन नहीं है। भौतिक ज्ञान जब बढ़ेगा, तो बढ़ते-बढ़ते उसकी सीमा भी कभी-न-कभी आयेगी। वृक्ष ऊंचा जाता है, परन्तु कहीं तो बढ़ना रुक जाता है। 'वर्धमान' जब 'अवर्धमान' हो जाता है, तब वही 'अद्वय' हो जाता है, 'अदिति' हो जाता है। भौतिकवाद जब रुक जाता है और जहां रुक जाता है, तब और वहां अध्यात्मवाद शुरु हो जाता है। इसीको ऋग्वेद में 'अद्वय' 'अदिति' या 'सदावृध' से 'सदा-अवृध कहा है। जैसा हम पहले लिख आये हैं, ज्ञान या तो 'वर्धमान' होगा या 'अवर्धमान' होगा। 'वर्धमान' ज्ञान भौतिक है, समय-समय पर मनुष्य की खोज के आधार पर बना रहता है, बढ़ता रहता है। 'अवर्धमान ज्ञान आध्यात्मिक है, नित्य है, सनातन है, एक है, अद्वय है, अदिति है बदलता नहीं। क्योंकि वेद का ज्ञान मनुष्य की खोज नहीं, ईश्वरीय देन है। इसलिये वेद ने उसे 'अद्वय' तथा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'अदिति' कहा है । परन्तु ज्ञान का स्रोत मनुष्य तथा परमेश्वर दोनों हैं-इसलिये ज्ञान को वेद में 'सदावृध' कहा है । 'सदावृध' के हमने दो अर्थ किये हैं । जब मनुष्य द्वारा खोज किये ज्ञान के लिये इस शब्द का प्रयोग होता है, तब इसका अर्थ सदा सर्वदा उत्तरोत्तर बढ़ने वाला, बदलनेवाला अर्थ होता है । जब इस शब्द का प्रयोग ईश्वरीय ज्ञान के लिये होता है, तब इसका अर्थ सदा 'अवृध' सदा एक रहने वाला, कभी भी न बदलने वाला, 'अद्वय' ,अदिति', 'अवर्धमान' अर्थ होता है । जैसे 'विद्या' तथा 'अविद्या' वेद के विलक्षण शब्द है, वैसे 'सदावृध' भी वेद का विलक्षण शब्द हैं जो सदावृध' के रूप में भौतिकविज्ञान के लिये प्रयुक्त हुआ है और 'सदा-अवृध' के रूप में ईश्वरीय-ज्ञान या वेद के लिये प्रयुक्त हुआ है ।

मुंडकोपनिषद् में इसी बात की चर्चा करते हुए कहा है: 'द्वे विद्ये वेदितव्ये परा च अपरा च' । 'परा' क्या हैं ? 'यया तदक्षरं अधिगम्यते सा परा-अर्थात्, जिस विद्या से अक्षर-ब्रह्म का ज्ञान होता है वह 'परा-विद्या' है, अर्थात् 'आध्यात्मिक-विद्या' । इस कथन से स्पष्ट हैं कि जिस विद्या से क्षर-प्रकृति के विषयों का ज्ञान होता है, वह 'अपरा-विद्या' है अर्थात् 'भौतिक-विद्या' । यजुर्वेद के १९ वें अध्याय के ७७ वें मन्त्र में इसी भाव को 'सत्य' तथा 'अनृत'-इन शब्दों से व्यक्त किया गया है । वहां कहा है: 'दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः अश्रद्धां अनृत अदधात् श्रद्धां सत्ये प्रजापतिः ।।'-संसार की सब वस्तुओं को देखकर प्रजापति ने उन्हें दो भागों में विभक्त कर दिया- सत्य' तथा 'अनृत' । 'सत्य' में सब को स्वाभाविक रुप में श्रद्धा होती है । 'अनृत' में सब को स्वाभाविक रुप में अश्रद्धा होती है । उक्त विवरण से स्पष्ट है कि वेद में 'विद्या' 'सत्य' तथा 'परा' का एक ग्रुप बनाया है तथा 'अविद्या' 'अनृत' एवं 'अपरा' का दूसरा ग्रुप बनाया है । यजुर्वेद में, 'विद्या' तथा 'अविद्या'—इन दोनों की महिमा का बखान है- 'अविद्यया मृत्यु तीर्त्वा-'अविद्या से मृत्यु को तरा जाता है । इससे स्पष्ट है कि वैदिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

टर्मिनोलोजी में 'अविद्या' का अर्थ निरक्षरता या अज्ञान नहीं है। तो फिर वेद में 'अविद्या' का अर्थ क्या है ? हमारी दृष्टि में वेद में 'अविद्या' का अर्थ भौतिकवाद या भौतिक-विज्ञान है। भौतिक-अविष्कारों से मनुष्य संसार की सब सुख-सुविधाओं को भोगता हुआ, यन्त्रों तथा औषधियों के आविष्कारों से दीर्घ एवं स्वस्थ जीवन की प्राप्ति कर सकता है जिसे वेद ने 'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा' कहा है। हमारा कथन है कि वेद में भौतिकवाद या वर्तमान-विज्ञान को वह उच्च स्थान नहीं दिया गया जो अध्यात्मवाद को दिया गया है। भौतिक-ज्ञान दिनोंदिन बदलता रहता है, 'वर्धमान' है, इसलिये वेद ने उसे अविद्या', 'असत्य' तथा 'अपरा' विद्या कहा है। आध्यात्मिक-ज्ञान सदा एक रहता है, 'अवर्धमान' है, इसलिये वेद ने उसे 'विद्या', 'सत्य' तथा 'परा विद्या' कहा है। इसका यह अर्थ नहीं है कि वेदों में भौतिक-विज्ञान का सर्वथा अभाव है। वेदों में भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों विद्यायें हैं, परन्तु मुख्यता आध्यात्मिक विद्या की है क्योंकि वही सत्य है, सनातन है, सब देश-काल में एक ही बनी रहती है।

हमारा मुख्य कथन यह है कि वेदों का मुख्य-विषय अध्यात्मवाद है भौतिकवाद या भौतिक विषयों का वेदों में गौण रुप से वर्णन आता है, इसीलिये वेदों में दो विद्याओं का उल्लेख पाया जाता है-'द्वे विद्ये वेदितव्ये'-दो विद्याओं को जानना चाहिये-'विद्या' तथा 'अविद्या', 'सत्य' तथा 'अनृत' 'परा' तथा 'अपरा'। जो-कुछ हम लिख रहे हैं, यह बात ऋग्वेद (१.१६४.१३९) तथा अथर्ववेद (९.१०.१८) के निम्न मंत्र से और अधिक स्पष्ट हो जाती हैं।

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा: अधिविश्वे निषेदु:।
य: तत् न वेद किं ऋचा करिष्यति य इत् तत् विदु: त इमे समासते ॥

ऋचाओं का स्थान परम-अक्षर परमात्म-देव में है अर्थात् ऋचाओं में वर्णन परम-ब्रह्म परमात्म देव का है और उसी अध्यात्म का वर्णन अन्य देवताओं के रुप में किया गया है। जो इस रहस्य को नहीं जानता वह वेद की ऋचाओं से क्या पा सकेगा ? जो यह जानता है कि वेद में अध्यात्म-विद्या है, वह वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गत विवरण में हम लिख आये है कि वेद में उदाहरण रूप मे भौतिक विज्ञान का उल्लेख है । ऐसे स्थान हैं जिनसे सिद्ध होता है कि पृथिवी गोल है'इमं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या' इसी प्रकार यजुर्वेद (३ ६) में लिखा है कि पृथिवी सूर्य के गिर्द चक्र काटती है तथा यजुर्वेद (३३.४३) से ज्ञात होता है कि लोक-लोकान्तर आकर्षण शक्ति से परस्पर बंधे हैं, परन्तु इन मंत्रों का आध्यात्मिक अर्थ करना ही उचित है। इन मंत्रों का अर्थ यह है कि भक्त भगवान की तरफ खिचा-खिचा उस से आकर्षित होकर उसी के गिर्द ऐसे चक्कर काटता है जैसे पृथिवी सूर्य के गिर्द चक्कर काटती है। इसी भावना को मूल में रखते हुए हम वेद को ईश्वर-प्रदत्त मानते हैं।

मेरी इस लेख-माला में कई बातों को जगह-जगह दोहराने का कारण विषय को अधिकाधिक स्पष्ट करना है। इस लेख-माला से किसी को भ्रान्ति न हो इसलिये इस लेख-माला के मुख्य मुद्दों को लिखकर मैं इसे समाप्त कर रहा हूं। इस लेख माला में मैंने जो विचार रखा है, उसमें कुछ नवीनता है। इसलिये इतने विस्तार से लिखना पड़ा और किसी को कोई भ्रान्ति न हो इसलिये निम्न बिन्दु दोहरा रहा हूं :-

(क) इस लेख-माला में हमने जो दिशा अपनायी है उससे स्पष्ट है कि वेद सब सत्य-विद्याओं का पुस्तक है जिसके निम्न कारण हैं:

(ख) वेद ने विद्या के दो भाग किये है-'परा-विद्या' तथा 'अपरा विद्या'। 'द्वे विद्ये वेदितव्ये परा च अपरा च'। 'परा-विद्या' वह है जो सांसारिक-विद्या नहीं है, भौतिक-विज्ञान' से परे है। 'अपरा-विद्या' वह है जो इधर की, संसार की विद्या है, पदार्थ विज्ञान या भौतिक-विज्ञान। इस प्रकार वेद ने 'अपरा' या सांसारिक-विद्या को भी विद्या का नाम दिया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(ग) 'परा' तथा 'अपरा' की तरह वेद में दो अन्य शब्द भी ध्यान देने योग्य हैं जिनका प्रकृत-विषय के साथ सम्बन्ध है। वे शब्द हैं-'अविद्या' तथा 'विद्या'। वेद की शब्दावली में 'अविद्या' का अर्थ अज्ञानता या निरक्षरता नहीं है। यजुर्वेद में लिखा है— 'अविद्यया' मृत्युं तीर्त्वा विद्यया अमृतमश्नुते'-अविद्या से मृत्यु को तर कर विद्या से अमृत प्राप्त होता है। इस कथन से स्पष्ट है कि वेद की शब्दावली में 'अविद्या' का अर्थ भौतिकवाद या वर्तमान-विज्ञान है और विद्या' का अर्थ अध्यात्मवाद है, क्योंकि वर्तमान-'विज्ञान के भौतिक-साधनों से दीर्घ-जीवन प्राप्त होता है। औषधि आदि के द्वारा रोगों पर विजय प्राप्त की जा सकती है, मृत्यु-रूप सागर को तरा जा सकता है, परन्तु अमरता तो अध्यात्मवाद से ही प्राप्त हो सकती है। इस कथन से स्पष्ट है कि वेद में 'परा'-विद्या से अध्यात्मवाद तथा 'अपरा'-विद्या से भौतिकवाद अभिप्रेत है।

(घ) जैसे वेद ने ज्ञान के परा'-विद्या तथा 'अपरा'-विद्या-ये दो भाग किये हैं, वैसे ही यजुर्वेद ने इन्हीं भावों को प्रकट करने के लिये दो अन्य शब्दों का प्रयोग किया है-वे हैं 'सत्य' तथा 'अनृत'। 'अनृत'-शब्द का अर्थ है-जो ऋत न हो ऋत का अर्थ है-'सत्य'। 'ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत-इस मंत्र में ऋत' और 'सत्य' का एक-साथ प्रयोग किया गया है। यजुर्वेद के जिस मंत्र का हमने निर्देश किया है वह है, 'दृष्ट्वा रुपे व्याकरोत् सत्यानृते' प्रजापतिः। इस प्रकार यह 'स्पष्ट है कि परा'—'विद्या'-सत्य'-इन तीन एकार्थक शब्दों का एक ग्रुप है, 'अपरा'-'अविद्या'- अनृत'-इन तीन एकार्थक शब्दों का दूसरा ग्रुप है। इसी तरह इस लेख-माला से स्पष्ट है कि 'परा'-'विद्या'-'सत्य'-ये एकार्थक-शब्द अध्यात्मवाद का प्रतिनिधित्व करते हैं 'अपरा'-'अविद्या'-'अनृत'- ये तीनों एकार्थक शब्द भौतिक-वाद या भौतिक-विज्ञानों का प्रतिनिधित्व करते हैं। अध्यात्मवाद नित्य है, सनातन है, सत्य है, अपरिवर्तनशील है. स्थिर है। भौतिकवाद जिसकी उपज भौतिक-विद्यायें हैं, अनित्य हैं, बदलता रहता है, वेद की परिभाषा में अनृत है, परिवर्तनशील हैं अस्थिर है।

इसी विचारधारा के आधार पर हम कहते हैं, "वेद सब सत्य-विद्याओं का पुस्तक है"। भौतिक-विज्ञान बदल सकता है, अध्यात्म-विज्ञान बदल नहीं सकता क्योंकि वह 'सत्य' है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वामी श्रद्धानन्द (महात्मा मुन्शीराम) तथा श्री गोपाल कृष्ण गोखले का पत्र व्यवहार

प्रस्तुतकर्ता – डा० भवानीलाल भारतीय
नन्दन वन जोधपुर, (राजस्थान)

पत्र संख्या—१

भारत सेवक सोसाइटी पूना सिटी
७ अगस्त १९११

मेरे प्रिय लालाजी,

आपके ३१ जुलाई के अत्यन्त उदार पत्र क लिये बहुत धन्यवाद । मुझे यह कहते हुए खेद होता है कि मेरी पुत्री का स्वास्थ्य, जो कुछ दिनों से सुधार की ओर था, पुनः खराब हो गया है और इसी कारण हमारी चिन्ता भी बढ़ गई है । आज उसके ज्वर का २२वां दिन है और ज्वर मुक्त होने की निकट भविष्य में कोई आशा भी नहीं दिखाई देती । तथापि यही मानना होगा कि ये बातें हमसे अधिक शक्तिशाली (ईश्वर) के हाथ में हैं । हम अपनी ओर से अच्छे से अच्छा इलाज कर रहे हैं और अच्छा होने की ही आशा करते हैं, और यही एक व्यक्ति कर भी सकता है ।

मैं ९ सितम्बर को शिमला में रहूंगा, यदि इस बीच सब कुछ ठीक रहा । आपके द्वारा प्रदर्शित सहानुभूति के लिये पुनः धन्यवाद तथा आदर सहित ।

आपका
गो० कृ० गोखले

पत्र संख्या—२

भारत सेवक सोसाइटी,
पूना सिटी
२१ अगस्त १९११

मेरे प्रिय लालाजी,

वायसराय ने निश्चय किया है कि शिमला में कोई प्रस्ताव पेश न

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया जाय । वहां जो बिल पेश किये जायेंगे, वे बहुत महत्वपूर्ण नहीं हैं और अन्य प्रस्ताव रखने की अनुमति भी नहीं है । अतः गैर सरकारी सदस्यों का कौंसिल की केवल औपचारिक बैठक में शामिल होने के लिये वहां जाना व्यर्थ ही है । अतः आगामी मास शिमला जाने के विचार को मैंने छोड़ दिया है । यह खेद का विषय है कि इस प्रकार आपसे भेंट करने के आनन्द से मैं वंचित रहूंगा, किन्तु इसके अलावा कोई चारा भी नहीं है ।

आपको यह सूचित करते हुए मुझे प्रसन्नता है कि मेरी पुत्री का स्वास्थ्य निरन्तर प्रगति की ओर अग्रसर है । अतः मैं अपने प्रारम्भिक शिक्षा विधेयक के काम को, जो बीच में रुक गया था, पुनः हाथ में लेने की सोच रहा हूं । कल मैं बंगाल के लिये प्रस्थान करूंगा, जहां मेरे मित्रों ने लगभग १५ दिन का मेरा व्यस्त कार्यक्रम बना रखा है । सितम्बर के मध्य तक मैं पूना लौटने का विचार रखता हूं । लौटते समय मैं नागपुर तथा अमरावती भी ठहरूंगा । इस आशा के साथ कि आप सानन्द हैं ।

आपका

गो० कृ० गोखले

वायसराय की कौंसिल की बैठक में सम्मलित होने के लिये श्री गोखले उपर्युक्त पत्र में निर्दिष्ट कारण वश नहीं गये । किन्तु उनका पत्र मिलने के पहले ही मैं शिमला के लिये रवाना हो चुका था । मैं वहां अनेक सचिवों और भारत सरकार के शिक्षा मंत्री से भी मिला । उनके वार्तालाप से तथा उनके व्यवहार में जो वे हिन्दू और मुसलमान विश्वविद्यालयों के प्रस्तावों के प्रति दिखा रहे थे, मैं जो कुछ जान पाया उससे मेरी पूर्व धारणा की पुष्टि ही हुई । मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि किसी व्यक्ति को अपने लक्ष्य की ओर सीधे सादे ढंग से बढ़ते रहने में ही सफलता प्राप्त होती है । यह आवश्यक नहीं है कि अपने कार्य के लिये वह दूसरों को सफाई देना फिरे । मैंने इस बात को लेकर श्री गोखले को एक लम्बा पत्र लिखा ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१९१२ के आरम्भ में वायसराय की कौंसिल के कलकत्ता सत्र में श्री गोखले का अनिवार्य शिक्षा विषयक विधेयक विचारार्थ आने वाला था। उन्होंने इसमें मुझे अपनी सहायता और सहयोग देने के लिये लिखा। मैंने उन्हें स्पष्ट रूप में लिखा कि प्रथम तो इस बात की आशा ही नही है कि सरकार शिक्षा के व्यापक प्रचार के लिये कोई सहायता देगी और यदि किसी प्रकार की सहायता दी भी गई तो वह पूर्णतया स्वार्थ-रहित नहीं होगी।

यदि आम जनता में निःशुल्क तथा अनिवार्य शिक्षा प्रचलित करने के लिये कोई राष्ट्रीय स्तर का आंदोलन चलाया जाता है, तो मैं इसमें अपना हार्दिक सहयोग तथा सक्रिय योगदान करूंगा, ऐसा वचन भी मैंने उन्हें दिया। श्री गोखले को अन्तिम पत्र लिखने के पश्चात् मुझे कलकत्ता बुलाया गया और मैंने उन्हें अपने आगमन की सूचना दी। दूसरे ही दिन आर्य समाज मन्दिर में वे मुझ से मिलने आये और मेरे कुछ कहने के पहले ही वे बोल पड़े-आप ठीक थे, मैं ही गलत था। ईश्वर ही जानता है कि लोगों के प्रति सरकार को सही ढ़ंग से व्यवहार करने के लिये बाधित करने में मुझे कितना प्रयत्न करना पड़ता है और किसी भी साधारण बात के लिये, जिसको मैं अत्यधिक महत्त्व देता हूं, सरकार को कहा जाता है तो वह निःसंकोच उस मामले को दबा देती है। जहां तक मुझे स्मरण है, उन्होंने इन्हीं शब्दों को प्रयुक्त किया था। कलकत्ता में अपने कार्य के सम्बन्ध में मैंने उनसे विस्तृत वार्तालाप किया और उसके पश्चात् कुछ काल तक उनसे मुलाकात नहीं हो सकी। इसके बाद गोखले बीमार हो गये और जलवायु परिवर्तन के लिये उन्हें इंग्लैंड जाने की राय दी गई। उनके स्वास्थ्य में थोड़ा सुधार हुआ ही था और वे एक उपचार गृह में रह रहे थे, तभी एक सुपरिचित भारत विरोधी पत्रकार उनसे मिला तथा दिल्ली षड्यंत्र अभियोग के बारे में उन्हें बताया। उस बेरहम पत्रकार ने इस महान् भारतीय की मानसिक शान्ति की थोड़ी भी चिन्ता नहीं की और नितान्त रूखे ढंग से कहा—देखिये मि० गोखले, यह दूसरे षड्यंत्र का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मामला आगे आ रहा है। इससे आपके यहां के कार्य को भारी नुकसान पहुंचेगा और मुझे पक्का विश्वास है कि आपकी प्यारी संस्था गुरुकुल कांगड़ी की ही सबसे पहले तलाशी ली जायेगी। इससे श्री गोखले को गहरा धक्का लगा और वे पुनः बीमार हो गये। भारत लौटने वाले उनके एक मित्र ने उन्हें पुनः आश्वस्त किया।

श्री गोखले की बीमारी का कारण क्या था? यही प्रश्न था जो उनके देशवासियों को उस समय उत्तेजित कर रहा था, जब वे १९१३ के अन्त में इंग्लैण्ड के लिये प्रस्थित हुए थे। इसका उत्तर यह है कि महात्मा गांधी द्वारा दक्षिण अफ्रीका में चलाये जा रहे सत्याग्रह आन्दोलन को लेकर ही वे चिन्तित और अस्थिर थे। गोखले अत्यन्त भावुक प्रकृति के पुरुष थे। अपने देशवासियों के दक्षिण अफ्रीका में किये जाने वाले अपमान और तिरस्कार ने ही उनमें दिल की बीमारी के कीटाणुओं का प्रवेश करा दिया, जो अन्ततः उनकी मृत्यु का कारण बना। मैं यहां एक पत्र उद्धृत कर रहा हूं जो इसी तथ्य को बतलाता है।

पत्र संख्या—३

मेटकाफ हाउस,
दिल्ली

२७ नवम्बर, १९१३

मेरे प्रिय महात्माजी,

आपके १३ नवम्बर के पोस्टकार्ड के उत्तर में जो विलम्ब हुआ उसके लिये आप मुझे क्षमा करें। किन्तु आप मेरे प्रति सदा ही अत्यन्त उदार रहे हैं। मुझे आपके अनुग्रह पर पूरा विश्वास है। तथ्य यह है कि मुझे अपने दुर्बल स्वास्थ्य के उपरान्त भी अत्यधिक श्रम करना पड़ रहा है, अतः मुझे पत्र व्यवहार के लिये अधिक समय नहीं मिलता। मुझे आपके पुत्र श्री हरिश्चन्द्र से ज्ञात हुआ कि आप खुद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यहां आने वाले हैं। उस स्थिति में आपसे भेंट होगी ही और हम सम्पूर्ण स्थिति पर विचार करेंगे।

रे० एण्ड्रूज तथा पं० हरिश्चन्द्र दोनों ने ही मुझे बताया कि गुरुकुल के छात्र किस प्रकार दक्षिण अफ्रीकावासी भारतीयों के संघर्ष की सहायता के लिये अपने नाश्ते का दूध और भोजन के घी का परित्याग कर तथा साधारण श्रमिकों और कुलियों की भांति काम करके धन एकत्र कर रहे हैं। सच तो यह है कि उनके इस देश भक्ति के अत्यन्त मार्मिक कार्य के लिये धन्यवाद देने का अधिकारी भी मैं नहीं हूं। यह तो उनका भी उतना ही बड़ा कार्य है जितना आपका या मेरा, और वे अपने तरीके से अपनी मातृभूमि के प्रति स्वकर्तव्य का ही पालन कर रहे हैं। किन्तु वे देश के युवा और वृद्ध दोनों ही वर्गों के लोगों के लिये जो एक उच्च आदर्श उपस्थित कर रहे हैं, उसके प्रति अपना हार्दिक प्रशंसा भाव प्रकट किये बिना मैं नहीं रह सकता। यदि आप मेरी इस भावना को उन तक पहुंचायेंगे, तो मैं आपका अत्यन्त कृतज्ञ होऊंगा।

आपने मुझे गुरुकुल आने का आग्रह अनेक बार किया है, किन्तु यह बड़े खेद का विषय है कि मैं अब तक ऐसा नहीं कर पाया। किन्तु यदि सब ठीक रहा, तो मैं १९१५ की जनवरी में वहां आने का प्रयत्न करूंगा। इस अन्तराल में आपकी समृद्धि की कामना के साथ,

आपका

गो० कृ० गोखले

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वेद एवं भगवद्गीता का जीवात्म-चिन्तन

डा० दिनेशचन्द्र 'धर्ममार्तण्ड'

वेद विभाग, गु० कां० विश्वविद्यालय (हरिद्वार)

वेद और गीता संस्कृत वाङ्‌मय की अमरकृतियां है। परवर्ती मानव और साहित्य इनसे सदा ही आप्लावित और अनुप्राणित रहा है। जहां वेद का ज्ञान परमपिता परमात्मा ने मनुष्यमात्र के कल्याण के लिये सृष्टि के आदि में दिया, वहीं गीता का उपदेश भी योगिराज कृष्ण ने दिग्भ्रमित अर्जुन को युद्धभूमि में दिया। यह सुविदित है कि पार्थसारथि भगवान् श्री कृष्णचन्द्र ने महाभारत-युद्ध भूमि कुरुक्षेत्र में धर्माधर्म के विषय में किंकर्तव्यविमूढ़ अपने जिज्ञासु भक्त पृथा-पुत्र के प्रति अनादि एवं अपौरुषेय वेदों का जो निष्कृष्टार्थ गान किया, [1] उसी का श्रीवेदव्यास द्वारा संगुम्फित स्वरुप 'श्रीमद् भगवद्‌गीता' है जिसका सात सौ श्लोकों का अष्टादशाध्यायात्मक आकार है। इन सात सौ श्लोकों में से प्रथम अध्याम के सैंतालीस तथा द्वितीय अध्याय के दस, कुल सत्तावन श्लोक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से सम्बन्ध रखते हैं, शेष छह सौ तैंतालीस श्लोक दार्शनिक भावों के सूक्ष्म विवेचन से सम्बद्ध हैं।

महर्षि मनु के अनुसार वेद 'सर्वज्ञानमय' [2] हैं। इनमें तृण से लेकर-मोक्षपर्यन्त सभी पदार्थों का कहीं विस्तार से तो कहीं अल्प 'ग्राम गच्छन् तृणं स्पृशतिवत्' वर्णन हुआ है। आध्यात्मिकता से तो वेद अनुस्यूत हैं। इनमें दार्शनिक भावों का तो बड़े ही मार्मिक शब्दों में वर्णन किया गया है। जहां ईश्वर और प्रकृति की सत्ता का बखान

---

(१) क—गीता में उन्हीं सत्यों का प्रतिपादन किया गया है जो वेदों में पहले से ही विद्यमान है—ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्। ब्रह्म सूत्र पदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ।। (गी० १३.४)

ख—गीता शास्त्र सम्पूर्ण वैदिक शिक्षाओं के तत्वार्थ का सार-संग्रह है—'समस्त वेदार्थसार संग्रहभूतम्. । द्र० गीता, शांकरभाष्य की भूमिका।

(२) मनु० २.७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया, वहीं जीव की 'पिप्पल स्वाद्वत्ति' कहकर उसकी सत्ता भी सिद्ध की है। डा० एस० राधाकृष्णन् के अनुसार वेदों में जीव की अमरता और मृत्यु के उपरान्त की स्थिति के विषय में दार्शनिक-चिन्तन अत्यल्प है।[1]

गीता के आविर्भाव के पश्चात् से ही तत्तत्कालीन भाष्यकार, सम्प्रदायाचार्य तथा उनके अनुयायी विद्वान् अपने-अपने दृष्टिकोण से इन दार्शनिक-भावों का सुविशद-विवेचन करते आ रहे हैं और सबने यत्र-तत्र यह स्वीकृत भी किया है कि गीता के दार्शनिक-भावों की आधार-शिला वेद ही है। किन्तु वेद और गीता के इन दार्शनिक-भावों का सोदाहरण प्रतिपादन करके दिखाने का प्रयास बहुत कम किया गया है, इसलिये हमारा यहां विवेच्य-विषय केवल वेद और गीता के आधार पर जीवात्म-चिन्तन का रहा है। इसमें हरसम्भव यह प्रयास किया गया है कि इन दोनों अमर ग्रन्थों के आधार पर जीवात्मा से सम्बन्धित सभी सिद्धान्तों का उद्घाटन बुद्धिपूर्वक किया जाये।

दार्शनिकों में जीवात्मा के विषय में मतैक्य नहीं है। उनमें जीव की विभुता, अणुता, चैतन्य और ज्ञानात्मकता को लेकर अनेक दृष्टिकोण पाये जाते हैं। आत्मा के साथ जब जीव शब्द जुड़ जाता है, तो उसका मौलिक स्वरुप ही बदल जाता है। आत्मा शब्द एक चेतन तत्व का बोधक है जो ईश्वर और पुरुष दोनों के लिए ही प्रयुक्त होता है। किन्तु जीव शब्द के साथ आत्मा का प्रयोग केवल पुरुष के लिए ही होता है।

संस्कृत भाषा के व्याकरण की प्रकृति एवं प्रक्रिया के अनुसार सततगमनवाची 'अत्' धातु से 'मनिण्' प्रत्यय करने पर 'आत्मा' शब्द सिद्ध होता है। जिसका अर्थ होता है—सतत गतिशील तथा सतत सर्वत्र व्याप्त। जीवात्मा अनादिकाल से एक देह से दूसरे में और दूसरे से तीसरे में निरन्तर गति करता चला आ रहा है। इसलिए सतत गतिशील अर्थ जीवात्मा पर लागू होता है और जो सतत सर्वत्र व्यापक रहता है।

---

(३) डा० एस० राधाकृष्णन्, उपनिषदों का तत्वज्ञान, पृष्ठ १४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसे परमात्मा कहते हैं। श्री वा० शि० आप्टे ने अपने 'संस्कृत-हिन्दी कोश' में आत्मा को जीव का पर्यायवाची माना है।[1]

इस पंचभौतिक शरीर का नियन्त्रणकर्त्ता (देहेऽस्मिन् पुरुषः-गी० १३/२२) कोई ऐसा तत्व इसमें निश्चित रुप से विद्यमान है जिसकी प्रेरणा से आंख देखती है, कान सुनते हैं, वाणी भाषण करती है। अभिप्राय यह कि शरीर की सम्पूर्ण गतिविधियां जिस पर आश्रित हैं, जिसके न रहने पर शरीर में जड़ता के अतिरिक्त कुछ भी शेष नहीं रह जाता, उस तत्व को वेदादिशास्त्रों में जीव अथवा जीवात्मा कहा गया है। जीवात्मा शरीर नहीं है किन्तु शरीर से अलग एक चेतन अभौतिक पदार्थ है जिसमें कर्तृत्व, भोक्तृत्व और ज्ञातृत्व लक्षण पाये जाते हैं। शरीर इन लक्षणों के प्रकाश का केवल उपकरण मात्र है। ऋग्वेद १.१६४.३०. जीवो मृतस्य चरतिस्वधाभि रमर्त्यो मर्त्येना स योनिः'[2] के अनुसार-जीव नाम से प्रसिद्ध तत्व शरीरादि से भिन्न सत्ता वाला है, शरीरादि के नष्ट हो जाने पर विनाश को प्राप्त नहीं होता। गीता में भी नाशवान् शरीर से व्यतिरिक्त (भिन्न) आत्मा को शरीरी कहा गया है।[3] ऋग्वेद के अनुसार यह अमरणधर्मा जीव, मरणधर्मा शरीर के साथ समानस्थान वाला होकर, धारण करने वाली अन्नादि शक्तियों द्वारा नश्वर शरीर के अन्दर विचरण करता है। 'अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतो ऽ मर्त्यो मर्त्येना स योनि' (ऋ १.१६४.३८) में इसी सिद्धान्त को संपुष्ट किया गया है कि प्रकृत्यादि पदार्थों के भोगों के द्वारा पकड़ा हुआ अमरणधर्मा जीव, मरणधर्मा शरीर के साथ समान स्थानवाला होकर विभिन्न योनियों को प्राप्त होता है। गीता के दूसरे अध्याय भी में संख्य की दृष्टि से जीव (पुरुष) का वर्णन हुआ है। जैसे सांख्य दर्शन में 'प्रकृति' और 'पुरुष' (जीव) को

पृ० १४४

(२) (क) अनेन देहस्य असारता जीवस्य नित्यत्वं च प्रतिपाद्यते। (सायणभाष्य)

(ख) अमर्त्यः अनादित्वान्मृत्युधर्मरहितः, मर्त्येन मरणधर्मेण शरीरेण। (द.भा.)

(३) अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।

अनाशिनो ऽ प्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥ (२.१८)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अलग-अलग माना गया है, वैसे ही इस अध्याय में 'देह' और 'देही' का, 'शरीर' तथा 'आत्मा' का अलग-अलग विवेचन किया गया है। श्रीकृष्ण ने ११ से ३० श्लोक तक दो सिद्धान्तों को स्पष्ट किया है। पहला सिद्धान्त तो यह है कि 'आत्मा' अमर है, अविनाशी है; दूसरा सिद्धान्त यह है कि 'शरीर' मरणधर्मा है, विनाशी है। 'आत्मा' के अमरत्व का वर्णन करते हुए कहा गया है कि जैसे शरीर में बालपन, यौवन तथा जरा आती है, एक अवस्था बीतती है, दूसरी आ जाती है, वैसे ही आत्मा का एक शरीर छूटता है, दूसरा आ जाता है; जैसे पुराने कपड़े उतारकर हम नये पहन लेते हैं वैसे आत्मा पुराना शरीर छोड़कर नया धारण कर लेता है; उसे न शस्त्र छेद सकते हैं, न वायु सुखा सकती है; आत्मा अच्छेद्य है अदाह्य है, अक्लेद्य है, अशोष्य है। जो आत्मा इस प्रकार अमर है उसके लिए यह सोचकर कि यह मर जायेगा-इस प्रकार शोक करना कहां तक संगत हो सकता है? शरीर मरणधर्मा है, उसे कोई बचा नहीं सकता, आत्मा अमर है, उसे कोई नष्ट नहीं कर सकता।

जीवात्मा स्वरुप से अल्पज्ञ और अल्प शक्ति है। एक मन्त्र में जीवात्मा को नित्य, चेतन, अल्प, अल्पज्ञ, अल्पदेशस्थ, शरीरादि का धारक तथा पाप और पुण्य के फलों का भोक्ता बतलाया गया है।[1] जीवात्मा चाहे जब तक और चाहे जितना अपना ज्ञान और सामर्थ्य बढ़ाता जाये उसका ज्ञान परिमित और सामर्थ्य सीमित ही रहेगा। अपने सीमित साधनों के बल पर वह चाहे कितना ही पुरूषार्थ करे, ईश्वर के समान सर्वव्यापक, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् नहीं बन सकता। योगाभ्यास के द्वारा जीव ब्रह्म को जानकर-मोक्ष को प्राप्त कर सकता है-'तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति'।[2]

एक स्थान पर आत्मा (जीव) को सुखप्रद कहा गया है। "देवोनयः सविता.... आत्मेव शेवो दिधिषाय्योऽभूत्" (ऋ. १.७३.२) में पठित 'आत्मेव शेवः' पद का अर्थ सायण ने आत्मा के समान सुखकारक किया है। मन, वाणी तथा समस्त इन्द्रियों का

---

(१) अयं होता प्रथम···अमर्त्यस्तन्वा वर्धमानः। (ऋ. ६.९.४) द्रष्टव्य इस मन्त्र का द: भाष्य।

(२) यजुः ३१-१८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धारणकर्त्ता जीवात्मा ही है । 'पतङ्गो वाचं मनसा बिभर्ति,'[1] अर्थात, आत्मासंकल्प विकल्प द्वारा ज्ञान करने वाले मन से वाणी को धारण करता है। वह जीवात्मा साथ रहने वाली और चारों ओर फैलने वाली इन्द्रियशक्तियों को धारण करता हुआ देहों के बीच में आता जाता है ।[2] यह आना जाना ही जीवात्मा के उत्क्रान्ति, गति और आगति आदि धर्म है ।[3] जीवात्मा के ये तीन धर्म तभी सम्भव हैं जब उसे अणु अथवा परिच्छिन माना जाये अथर्ववेद में जीवात्मा को परिच्छिन्न माना गया है। अथर्ववेद का भाष्य करते हुए सायणाचार्य ने 'अव्यसः' (१९.६८.१) शब्द का अर्थ किया है—अव्यस.अव्यापकस्य परिच्छिन्नस्य जीवात्मनः अर्थात्, अव्यापक परिच्छिन्न जीवात्मा का । यह उत्क्रान्ति एवं आना जाना अणु परिमाण जीव में ही संभव है। प्रकारान्तर से जीव के अणुत्व का उल्लेख करते हुए अथर्ववेद-(१०.८.२५) में कहा गया है-'बालादेकमणीयस्कमुतैकं नैव दृश्यते । ततः परिष्वजीयसी देवता सा मम प्रिया ।' एक अर्थात् जीवात्मा बाल से भी सूक्ष्म है और प्रकृति है जो दीखती ही नहीं । उन दोनों में व्याप्त जो देवता है वही मेरा प्रिय है ।' अथर्ववेद[4] के ही अनुसार इस अणु परिमाणवाले आत्मा का निवास स्थान हृदय अर्थात् मस्तिष्कगत प्रदेश है ।[5]

जीवात्मा प्रकृत्यादि पदार्थों का भोक्ता है ।[6] भोग का आधार जीवात्मा के अपने कर्म हैं। मन्त्र कहता है—मैं वाणी के पालन करनेवाले को कभी नाश हुआ नहीं देखता हूं। उसको पास और दूर के मार्गों से कर्मफल भोगते हुए[7] देखता हूं ।[8] जीव कर्मफल भोगने मे परतन्त्र है। अपने सामर्थ्यानुसार कर्म करने में जीव

---

(१) ऋ० १०.१७७.२

(२) (क) सः सध्रीचीः सः विषूचीर्वसानं आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तः । (ऋ.१०.१७७.३)
(ख) ऋ. १०/१७०.६

(३) ब्रह्मसूत्र २.३ १९

(४) अथर्व०. १०..२३१, ३२, ३३,

(५) आ. लक्ष्मीदत्त दीक्षित, अनादितत्वदर्शन, पृ० ७१

(६) तयोरेकं पिप्पलं स्वाद्वत्ति । (ऋ. १.१६४.२०)

(७) पक्वः पक्तारं पुनराविशाति (अथर्व)

(८) ऋ. १.१६४.३१ (द. भा.), १०.१७७.३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वतंत्र है। ज्ञातृत्व कर्तृत्व और भोक्तृत्व जीव के स्वाभाविक गुण हैं। पाणिनि के अनुसार 'स्वतन्त्रः कर्त्ता' (अष्टा० १.४.५४)–कर्त्ता वह है जो 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम्' करने, न करने अथवा उल्टा करने में स्वतन्त्र है। और स्वतन्त्र वह है कि जिसका शरीर, प्राण, इन्द्रिय और अन्तःकरण उसके अधीन है। इस प्रकार अपने सामर्थ्यानुसार कर्म करने में जीव पूर्ण रूप से स्वतन्त्र है।

वेदों और गीता में विधि-निषेधात्मक अर्थ जीवात्मा को लक्ष्य करके कहे गये हैं। उनका अधिष्ठाता होने से वह (जीव) कर्त्ता है। 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत्' (यजु. ४०.२), त्यक्तेन भुंजीथाः मा गृधः कस्य स्विद्धनम्' (यजु. ४०.१), अक्षैर्मा दिव्यः (ऋ. १०.३०.१३), पशून् पाहि (यजु. १.१), कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन (गी. २.४), योगस्थः कुरू कर्माणि (गी. २.४८), तस्माद् योगाय युज्यस्व (गी. २ ५०), तस्माद् युध्यस्व भारत (गी. २.१८)-इत्यादि सन्दर्भों में अनेकत्र जीवात्मा के लिये 'किं कर्म किम् अकर्मेति' का विधान है। विहित कर्मों के अनुष्ठान और निषिद्ध कर्मों के परित्याग का निर्देश होने से स्पष्ट है कि कर्म करने में जीव स्वतन्त्र है।

गीता (१३-२९) के अनुसार 'जीव' कर्त्ता नहीं है, 'प्रकृति' ही कर्त्ता है। जीव तो गीता (११-३३) के अनुसार 'निमित्तमात्र' है, असली कर्त्ता तो प्रकृति है। प्रकृति के गुण ही काम करते हैं, जीव काम नहीं करता :—

'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकार विमूढात्मा कर्त्ताऽहमिति मन्यते ॥ गी. ३.२७)

प्रकारान्तर से इसी सिद्धान्त को प्रतिपादित करते हुए गीता (१८.६१) में कहा गया है—

'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थात्, ईश्वर हमारे भीतर बैठा हुआ 'यन्त्रवत्' हमारा सञ्चालन कर रहा है। इस सिद्धान्त का यह अर्थ नहीं है कि हम कुछ नहीं करते, वही सब कुछ करता है, हम तो मशीन की तरह चल रहे हैं। इसका यह अर्थ है कि हम चाहे जो करें, कर्म करने में तो हम स्वतन्त्र हैं, स्वतन्त्र तो दीखते ही हैं—इससे कौन इन्कार कर सकता है, परन्तु कर्म का फल तो हमारे हाथ में नहीं, वह तो 'यन्त्रवत्' चल रहा है, उसमें कारण कार्य का अखण्ड-नियम [Law of cause and effect] काम कर रहा है।

जीवात्मा के कर्म-स्वातन्त्र्य की भावना गीता के इन शब्दों में भी स्पष्ट झलकती है—'विमृश्यैतदशेषेण–यथेच्छसि तथा कुरु' (गी. १८.६) अर्थात्, श्रीकृष्ण ने जो कहना था वह कह दिया और अन्त–'मैं इस पर पूरी तरह विचार करके जैसी तेरी इच्छा हो वैसा कर'। इस प्रकार गीता भी ईश्वर के मात्र प्रेरयिता होने तथा जीव के अपनी इच्छानुसार कर्म करने में स्वतन्त्र होने के सिद्धान्त की पुष्टि करती है।

वेदों में जीवात्मा की दृष्टि से जीव अनेक हैं। 'रेतोधा आसन् महिमान आसन्' (ऋग्० १०.१२९.५)—इस मन्त्र–खण्ड का अर्थ आचार्य सायण ने "सृष्टि के आदि में बीज धारक पुरुष (भोक्ता) उत्पन्न हुए" इस प्रकार किया है। आ. वैद्यनाथ शास्त्री "दर्शन तत्व विवेक" के पृ० ३९ पर "रेतोधाः–कर्मफल धारण करने वाले तथा महिमानः–मुक्तजीव, आसन्– विद्यमान थे" इस प्रकार अर्थ करते हैं। उपर्युक्त दोनों ही अर्थ तथा मन्त्रगत बहुवचनान्त क्रिया और कर्त्ता जीवात्मा की अनेकता सिद्ध करते हैं। अन्य भी कई ऋचाओं में जीवात्मा के लिए बहुवचन का प्रयोग हुआ है। जिससे आत्माओं का नानात्व सिद्ध होता है। जैसे–'इमे जीवाः' (ऋ. १०.१८.३) 'इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि' (ऋ. १०.१८.४), 'वयं जीवाः प्रतिपश्येम (ऋ.१०.३७.८), 'वयं जीवा जीवपुत्राः' (ऋ.१०.३६.९), 'ये समानाः समनसो जीवाः' (यजु. १९.४६), यस्मिन्नोताः प्रजा इमा (अथर्व. १०.८.३७)। लोक में भी मैं, हम, तू, तुम, वह आदि व्यवहार होने से प्रत्येक देह में भिन्न आत्मा के अस्तित्व की पुष्टि होती हैं।

गीता में भी आत्मा की अनेकता कई स्थलों पर दर्शायी गयी है। भगवान् कृष्ण अर्जुन से कहते हैं—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥ २/१२

ऐसा कोई समय नहीं था, जब मैं नहीं था या तू नहीं था या ये सब राजा नहीं थे और न कभी कोई ऐसा समय आएगा जबकि हम सब इसके बाद नहीं रहेंगे।' शङ्कराचार्य इस अनेकता के उल्लेख को केवल रुढ़ मानते हैं। इनकी युक्ति है कि बहुवचन का प्रयोग केवल शरीरों के लिये किया गया है, जो कि मलग–अलग हैं, एक विश्वजनीन आत्मा के लिए नहीं।[1] मां ये जनाः पर्युपासते (गी. ९.२२), 'ईश्वर सर्वभूतानां (गी. १८.६१), आदि वचनों से भी आत्मा का बहुत्व सिद्ध होता है।

आत्मा के लिये ऋग्वेद में जीव 'ऋ. १.१६४.३०, १०.१८.३–४, १०.३७.८) आत्मा (ऋ. १.१६४.४), इन्द्र (ऋ. १०.१६७.१, ६.४७.१८), पतंग (ऋ. १०.१७७ १–२) अमर्त्य (ऋ. १.१६४.३०.३८) तथा त्वष्टा (ऋ. ६.४७.१९) आदि संज्ञाओं का व्यवहार हुआ हैं। गीता में भी जीवात्मा को देही (२.३, २२, ३०), शरीरी (२.१८), अविनाशी (२.२१), अव्यय (२.२१), सनातन (२.२४), अक्षर (१५-१६), क्षेत्रज्ञ (१३.१) आदि नामों से अभिहित किया गया है।

जीव की तीन अवस्थायें:—

गीता के १५ वें अध्याय के ७ से ९ श्लोकों में श्री लो. बा. गं. तिलक के अनुसार जीव की तीन अवस्थाओं का वर्णन किया गया है। सातवें श्लोक में बतलाया कि सूक्ष्म या लिंग शरीर क्या है। लिंग शरीर पांच इन्द्रियों तथा मन के संघात का नाम है। आठवें श्लोक में बतलाया कि लिंग शरीर इस स्थूल देह में कैसे प्रवेश करता है और कैसे इसमें से निकलता है। जैसे वायु गन्ध को लेकर चलता है, वैसे लिंग शरीर मन तथा इन्द्रियों को सूक्ष्म रुप में लेकर पुराने शरीर से निकलता और नये जन्म में प्रवेश करता हैं। नौवें श्लोक में कहा कि जब लिंग शरीर, स्थूल देह धारण कर लेता है तब विषयों का उपभोग कैसे करता है। देह धारण करने के बाद वह कान, आँख, त्वचा, जीभ, नाक और मन का आश्रय लेकर विषयों का सेवन करता है।[2] गीता (१५ १) के अनुसार शरीर में रहते, भोगों का भोग करते तथा शरीर से निकलते हुए आत्मा को ज्ञानचक्षु से देखा जा सकता है।

---

१. देहभेदानुवत्या बहुवचनम्, नात्मभेदाभिप्रायेण।

२. सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, गीताभाष्य, पृ० ४६०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीव और ब्रह्म का सम्बन्ध—वेदों में जीवात्मा और परमात्मा (ब्रह्म) के सम्बन्ध को अनेक उपमाओं से दिखाया गया है। जैसे—

१. स नः पितेव सूनवे। (ऋ. १.१.६)

'वह हमारे लिए उसी प्रकार दयालु है जैसे पुत्र के लिए पिता।'

२. तमित् सखित्व ईमहे। (ऋ. १.१०.६)

'हम सखापन के लिए ईश्वर से प्रार्थी हैं।'

३. त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता। (ऋ. ८.६८.११)

'हे प्रभो! तुम हमारे पिता भी हो और माता भी।'

४. इन्द्र क्रतुं न आभर पिता पुत्रेभ्यो यथा।
शिक्षा णो अस्मिन् पुरुहूत यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि॥
(ऋ. ७.३२.२६., अथर्व २०.७६.१)

'हे ईश्वर! हमारे कामों को भरपूर कर जैसे पिता पुत्रों को करता है। हे उपास्यदेव! हमारे इन मार्ग में हमको शिक्षा दे कि हम प्रकाश को प्राप्त हों।

५. स नो बन्धुः। (यजु०, ३२.१०)

'वह हमारा सम्बन्धी है।'

६. एक इत् राजा। (यजु. २३.३)

'वही हमारा राजा हैं।'

परन्तु ये सब उपमायें हैं। उपमायें एकाङ्गी होती हैं। इनसे भी अधिक सूक्ष्म सम्बन्ध दिखाने के लिए एक वेद मन्त्र है:-'त्वमस्माकं तव स्मसि' (ऋ. ३.६२.३२). अर्थात्, तू हमारा है और हम तेरे हैं। पं.गं.प्र. उपाध्याय के शब्दों में—यह सम्बन्ध की पराकाष्ठा है। यहां सब उपमायें समाप्त हो जाती हैं इससे अधिक क्या कहना चाहिए समझ में नहीं आता।[1]

गीता में भी जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध को दर्शाया गया है। श्री अरविन्द के अनुसार यह जीव (अक्षर-पुरुष गी. १५-१६,) ब्रह्म का एक अंश है। श्री अरविन्द

१. गंगाप्रसाद उपाध्याय, जीवात्मा, पृ० ४७५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का कहना है कि गीता का श्लोक "ममैवांश: जीवलोके जीवभूत: सनातन:' (१५-७)-'मेरा एक अंश ही जीवों के जगत् में जीव बनता है'-अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस श्लोक में जीव को ब्रह्म का 'अंश' कहा गया है। इसका यह अर्थ है कि व्यक्तिगत आत्मा इस लोक के परे सनातन के अन्दर विद्यमान है और सदा विद्यमान था क्योंकि वह स्वयं भी सनातन है। स्पष्टत:, जीव की इस समानता के इस विचार से प्रेरित होकर ही गीता ने ऐसे किसी भी शब्द का प्रयोग नहीं किया है जो जीव के पूर्ण लय की ओर जरा भी संकेत करता हो, बल्कि उसने पुरुषोत्तम के अन्दर निवास को ही जीव की सर्वोच्च स्थिति बतलाते हुए कहा है—'निवसिष्यसि मयि एव 'माम् एव एष्यसि' मुझमें ही निवास करेगा, मेरे पास ही पहुंचेगा। जीव के ब्रह्म में 'निवास' और 'लय' में जमीन-आसमान का अन्तर है। 'निवास' में उसका अस्तित्व बना रहता है, 'लय' में अस्तित्व समाप्त हो जाता है।

श्री अरविन्द का कहना है कि यद्यपि जीव मुक्तावस्था में ब्रह्म में निवास करता है, उसका अस्तित्व मिट नहीं जाता, वह मौजूद रहता है, फिर भी, क्योंकि वह ब्रह्म का ही अंश है. इसलिए यह जीव, यह पुरुष उस पुरुषोत्तम से इतर नहीं है, उस पुरुषोत्तम का ही अंश है। ईश्वर का 'अंश' होने के कराण या अपनी सत्ता में साक्षात् ईश्वर ही है। ईश्वर अपने एकत्व के सनातन बहुत्व के द्वारा हमारे अन्दर अविनाशी जीव के रूप में सदा विद्यमान रहता है।[1]

द्वैतवादियों की सम्मति मे गीता में जीव को सत्-चित् कहा गया है (ममैवांश:)। ब्रह्म के दो गुण सत्-चित् जीव में हैं 'आनन्द' ब्रह्म का ही गुण है. तभी वेद, उपनिषद् गीता-सबका उद्देश्य जीव को 'आन्नद' तक पहुंचाना है।

न्याय-दर्शन के अनुसार 'इच्छा-द्वेष-प्रयत्न-सुख-दु:ख-ज्ञान' ये आत्मा के लिंग हैं, गुण हैं, उपनिषद् के अनुसार 'स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रियाच' ये ब्रह्म के लिंग हैं गुण हैं। इस दृष्टि से इन बातों में तो जीव तथा ब्रह्म समान हैं। ये दोनों बातें 'सत्-चित्' इन दो शब्दों में आ जाती हैं। जीव तथा ब्रह्म में मुख्य भेद यह है कि जीव में सुख

१. स.व्र. सिद्धान्तालंकार, गी० भा० पृ० ४६८-६९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के साथ दुःख बना रहता है, ब्रह्म में दुःख नहीं रहता, आनन्द ही आनन्द रहता है। इसी बात को सम्मुख रखकर गीता ने जीव को ब्रह्म का -'ममवांशः'- कहा है, अर्थात् जीव अंश रूप में ब्रह्म के समान गुणोंवाला है।

पुनर्जन्म- हम ऊपर लिख चुके हैं कि जीवात्मा 'उत्क्रान्ति, गति और आगति धर्मवाला अर्थात् अनुच्छितिधर्मा' है। उसका शरीर से निकल जाना मृत्यु और शरीर से संयुक्त होना जन्म है। शास्त्रीय भाषा में इसे ही पुनर्जन्म कहते हैं। वेदों और श्रीमद्भगवद्गीता में पुनर्जन्म के बारे में स्पष्ट उल्लेख मिलता है। शरीर में संयुक्त होकर जीवात्मा के जन्म लेने के सम्बन्ध में ऋग्वेद (५.७८.६) और अथर्व: (१.११.६) का यह मन्त्र द्रष्टव्य है—

''दश मासाञ्छशयानः कुमारो अधि मातरि।
निरैतु जीवो अक्षत जीवो जीवन्त्या अधि ॥

अर्थात् दस मास तक माता के भीतर रहकर प्राणों को धारण किये हुये जीव जीवित माता के गर्भ से सुखपूर्वक निकले।'' इसके अतिरिक्त अथर्व. (११.४.१४., ७.६.७.१., ५.१.२) और यजु. (४.१५) में भी पुनर्जन्म के सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ है। अथर्व. (५.१ १) के अनुसार यद्यपि जीव अमर जीवन शक्ति से युक्त है, फिर भी वह उत्तम जन्म लेने वाला है (अमृतासुः सुजन्मा)। ऐसा ही वर्णन 'अजायमानो बहुधा विजायते' (यजु० ३१.१९) में भी आया है।

गीता में भी पुनर्जन्म के सिद्धान्त की पुष्टि की गई है। भगवान् कृष्ण अर्जुन से कहते हैं —

'बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥ (४.५)

मेरे और तेरे भी बहुत-बहुत से जन्म पहले हो चुके हैं। हे शत्रुओं को सहाने वाले (अर्जुन), मैं इन सबको जानता हूं, पर तू नहीं जानता। गीता २.२२ और २.१३ में भी बड़े जोरदार शब्दों में पुनर्जन्म सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है।

इस प्रकार वेदों और गीता के सिद्धान्तानुसार जीव अनादि (गी.१३.१९) और अनन्त है। यह परिच्छिन्न अर्थात् एकदेशी और चेतनसत्ता कर्त्ता है, जो कर्म स्वतन्त्र है। इसको – 'कर्तृत्व– भोक्तृत्व– ज्ञातृत्ववानणु' कह सकते हैं। जीव अनेक अर्थात् संख्या की अपेक्षा अनन्त हैं। इनमें भिन्न-भिन्न कालों में परिस्थिति के अनुसार ज्ञान की अपेक्षा से परिवर्तन होता रहता है। अर्थात् जीव का ज्ञान घटता बढ़ता रहता है, और इसी के अनुसार उसकी भोक्तृत्व और कर्तृत्व शक्ति भी प्रभावित होती रहती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"वैदिक सोम का महत्व"

लेखक– डॉ० सत्यदेव निगमालंकार
मौ० चाकलान, ज्वालापुर, हरिद्वार

वेद भारतीय संस्कृति के मूल–स्रोत के साथ ही ज्ञान एवं विज्ञान के भी मूल स्रोत माने जाते हैं। भारतीय इतिहास में वेदों को हमारी सभ्यता और संस्कृति के उद्भावक होने का गौरव प्राप्त होने के साथ ही उनका स्थान पूजनीय एवं वन्दनीय माना गया है। प्राचीन काल से लेकर आज तक भी इन्हें सदाचार, धर्म, सभ्यता और संस्कृति रूपी ज्ञान स्रोत के उद्गम–स्थल माने जाते आ रहे है। वेद वस्तुत: भारतीय ही नहीं अपितु मानव मात्र के ज्ञान चक्षु है। वेद स्वत: प्रमाण तो है ही साथ में अन्य सत्य शास्त्रों का प्रमाण भूत स्वयं वेद हैं। समस्त सत्य विधाओं के जनक तथा सकलान्य ज्ञान विज्ञान के उदभाषक भी ये ही हैं। इसी लिये महर्षि याज्ञवल्क्य ने लिखा–

न वेदशास्त्रादन्यन्तु किञ्चिच्छास्त्रंहि विद्यते।
निस्सृतं सर्व शास्त्र तु वेद शास्त्रात्सनातनात् ॥

इन वेदों को विद्वानों ने बहुत आहार दिया। उन्होंने तो वेद का विरोध करने वाले को नास्तिक तक की संज्ञा प्रदान कर दी –

नागरिको वेद निन्दक: ॥मनु० ११ ॥

समस्त वैदिक साहित्य में स्मृतियों और पुराणों में इनकी पद पद पर प्रशंसा की गयी हैं। महर्षि मनु तो वेदों को पितृगण देवता और मनुष्यों का सनातन चक्षु घोषित करते हैं। संसारस्य पदार्थों को जानने के लिये जिस प्रकार इन चर्म चक्षुओं की महती आवश्यकता होती हैं। बिना इनके लोकस्थ पदार्थों का ज्ञानकदापि नहीं हो सकता है। उसी प्रकार अलौकिक तत्वों को जानने के लिए वेद रूपी चक्षु आवश्यक है। —

पितृदेव मनुष्याणां वेदश्चक्षु: सनातनम्
अशक्यं चाप्रमेयं च वेदशास्त्रनिति स्थिति ॥म०नु१२।६४॥

इन्हीं अपरिहार्य कारणों से हमारे शास्त्रकारों ने वेदों का स्वाध्याय अपरिहार्य अंग स्वीकार किया है। शतपथकार में वेद के स्वाध्याय की ओर–प्रेरित करते हुये कहा है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि धन धान्य से परिपूर्ण भूमि के दाब से जो फल, दाता को प्राप्त होता है। उससे भी अधिक फल वेद का स्वाध्याय करने मात्र से अध्येता प्राप्त कर लेता है। —

याबन्तं ह इमां पृथिवीं वित्तेन पूर्णाददल्लोकं जयतिस्त्रिभिस्तावत् जयति भूयांसं च अक्षय्य च य सर्व विद्वान अहरहः स्वाध्यायमधीतेतस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्यः ।। श० ब्रा० ११।५।६।१।। इस वेद स्वाध्याय परम्परा के अन्तर्गत जब हम प्रवेश करते हैं तब बहुशः इस प्रकार के शब्दों की पुनरावृत्ति अध्येता के समक्ष उपस्थित होती है। कि वह कदाचित् उसकी उहापोह में ही खो जाता है। इस पुनरावृत्ति की परम्परा में आज सोम पर ही कुछ दृष्टि पात करते हैं। यद्यपि सोम को विद्वानों ने बहुत रूपों में देखा हैं। उणादि कोष में सोम को कपूर और चन्द्रमा के नाम से पढा गया है।

सवत्ययैश्वर्य हेतुर्भवतति सोमः कर्पूरश्चन्द्रमा वा ।। १।२।६० ।।
श्री अमर सिंह ने अपने कोष में सोम को चन्द्रमा के रूप में कहा है- अब्जोजैवातृक सोमोग्लौमृगाङ्कः कलानिधिः ।।१।३।१४।। नर्मदा नदी के नाम गिनाते हुए उसे सोमोद्भवां (सोम से– उत्पन्न होने वाली) कहा है—

रेवातु नर्मदा सोमोद्भवा मेकल कन्यका ।।१।१०/३२।।
वैदिक परम्परा में सोम से अनेक प्रकार क यज्ञ होते थे। उस यज्ञ में सोम को एक लता के रूप में स्वीकार किया जाता था। जिसके रस का पान यजमान–दम्पति किया करते थे और यथेच्छ फल प्राप्ति किया करते थे। इसलिए उस दम्पत्ति को सोमपीथी और सोमय नामों से पुकाराः जाता था–

सोमपीथो तु सोमपाः ।।अमरकोश २।७।९।।
भौतिक जगत में सोम को विद्वानों में अनेक रूपों में देखा है। किन्तु वेद में सोम को अत्यधिक रूप में परमात्मा ब्रह्मचारी, और आचार्य के रूप में देखा गया है। यजुर्वेद के चतुर्थ अध्याय के विसवां मन्त्र में इस सोम को चवालीस वर्ष पर्यन्त विद्याऽध्ययन के साथ ब्रह्मचर्य ब्रत पालक को रूद्र ब्रह्मचारी के नाम से पुकारता है —

सोमं रुद्रस्त्वावन्यर्तन्तु ।। इति

अथर्ववेद का ऋषि इस सोम को आचार्य के रुप में देखकर ऋचा का गान कर रहा है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आचार्यो मृत्युर्वरुणः सोमः ॥११/५/१/७॥
सोम को ऐश्वर्य सम्पन्न नाम से करते हुये इसकी व्युत्पत्ति निम्न प्रकार से की जाती है—

सुवति ऐश्वर्यवान् भवतीति सोमः षु प्रसवैश्वर्ययोः से सोम सिद्ध किया जाता है। जहां वेद में आनन्दमयकोश की सिद्धि हेतु चित्त को समाहित करने वाले साधनों के वर्णन के साथ समाधि का अभ्यास निरन्तर रुप से आवश्यक बताया है। वहीं उस स्थिति से लाभों का वर्णन करते हुये कहा गया है कि उपासक समाधि की अवस्था में पहुंचकर जब परमात्मा के सोम स्वरुप का सेवन करता है तब उसके आनन्दमयकोश के चारों ओर अहंकार तथा सूक्ष्म प्रकृति आदि बन्धन के कारण स्वतः क्षीण होकर नष्ट हो जाते हैं। अन्य कोई साधन उसकी आत्मा को वैसा परिमल नहीं कर सकता है जैसा सर्वोत्पादक सोम स्वरुप परमात्मा करता है। वैदिक ऋचाओ में परमात्मा की इस सोम-स्वरुपाशक्ति काप्रतिपादन अनेकशः दृष्टिगोचर होता है—

येन देवाः पवित्रेणात्मानं पुनते सदा ॥साम० १३०२
सोमः पुनानः कलशेषु सत्ता।
आते रुचः पवमानस्य सोमः ॥ऋग ९/९६/२३,२४॥

संयम पूर्वक जब योगी आन्तरिक उपासना निरन्तर करता है तब उसकी उपलब्धि का सार सोम ही तो है—

प्रतेधारा अत्यण्वीनंमेष्यः पुमानस्थ संयतो यन्ति रंहयः।
यद् गोभिरिन्दोचम्वोः समन्यस आ सुवानः सोमकलशेषु सीदसि, ०९/८६/४७॥

जब उस योगी के हृदय में आनन्द की धाराओं का स्रोत अनवरत गति से प्रवाहित होता है तब कर्मो को जानने वाला सोम परमात्मा सर्वोपासनाओं के आधार एवं रक्षक, वरणीय पुरुष में प्रेमपूर्वक शान्ति स्थापित करता है, पवस्व सोम क्रतुविन्नः उक्थ्योवारे परिधाव मधु प्रियम् ॥०९/८६/४८॥

सोम का रुप इतना विशाल है कि उसको वेदों में बहुशः वर्णित किया है। सोम की महिमा का उच्चस्तरीय वर्णन सर्वत्र उपलब्ध होता है। सोम को जगदुत्पादक तथा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शुभ गुण प्रेरक परमात्मा के नाम से सम्बोधित किया गया है। सोम तो वस्तुतः प्रजाओं और शुभकर्मों में सुप्रज्ञ और सुकर्मा रूप से जगत में प्रसिद्ध हुआ है। यहां सर्वत्रव्यापक और सब कुछ जानने वाला होकर अपनी दक्षताओं (बलों) के कारण सुदक्ष (अतिकुशल) नाम से प्रसिद्ध हुआ है। सुख धन, विद्या और शान्ति को वह सतत रूप से वर्षाता रहता है। इसीलिए ये लोकवासी उसे सुखवर्षक नाम से जानते हैं। साथ ही वह सोम संसारस्थ समस्त मानवों के हृदयों को जानता है। इसीलिये यशः अन्न और धनों से स्वयं तेजस्वी यशस्वी अन्नवान् धनी हुआ है—

त्वं सोम क्रतुभिः सुक्रतुर्भूः त्वं दक्षैः सुदक्षो विश्ववेदाः।
त्वं वृषा वृषत्वेभिर्महित्वा द्युम्नेभिर्द्युम्न्यभवो नृचक्षाः ॥१/९१/२॥

वह सदा वर्षणशील सोम हमारे ऊपर निरन्तर सुखों की वर्षा कर रहा है। वह जो कुछ भी करता है सब सुक्रतु रूप ही है। इसका किया हुआ कर्म कदापि अशुभता में परिवर्तित नहीं होता है। निरन्तर रूप से प्रत्येक कर्म में वह सुदक्षता अपनाये बैठा है। कुशलता सुदक्षता में परिवर्तन हो रही है। मनुष्य के पास कुशलता तो है किन्तु यह कुशलता तभी सुदक्षता का रूप धारण कर सकती है जब मानव विश्व वेदाः हो जाये। विश्ववेदा अर्थात् सर्वव्यापक और सर्वज्ञ होना मनुष्य के सामर्थ्य से बाहर की बात है। विश्वस्मिन् विद्यते (विद् सत्तायाम्) से अथवा विश्वं न वेत्ति (विद् ज्ञाने) से विश्व वेदाः शब्द सिद्ध होता है। जो विश्व में व्यापक हो जाये अथवा जो इस विश्व को जाने—दोनों अर्थों के होने पर ही विश्ववेदाः बन सकता है। ये दोनों गुण मानव की पहुंच से दूर की वस्तुएं हैं। जब पहुंच से दूर है तो मानव सुदक्ष कैसे बन सकता है फिर तो मानव को अपनी नियत शक्ति कुशलता में ही निर्वाह करना पड़ता है। मानव प्रत्येक कर्म को करने से पूर्व उसमें अपनी कुशलता का प्रयोग कर उसके परिणाम का ध्यान करता है। किन्तु कभी—कभी उसकी इस कुशलता का परिणाम बहुत विपरीत निकलता है। जिसको वह कभी सोच नहीं रहा था, वही परिणाम उसके समक्ष उपस्थित हो जाता है। उसकी सम्पूर्ण कुशलता का दावा एक क्षण मात्र में गुड—गोबर होकर रह जा है। वह अपने को कोसता है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसके समस्त प्रयास काम नहीं देते और वह छटपटाता हुआ आँसू बहाता रहता है। कभी–कभी असह्य स्थिति में वह आत्महत्या पर भी तुल जाता है। किन्तु उस सोम प्रभु की कुशलता में कभी भी सुदक्षता की कमी नहीं आती है। वह जिसको रचता है उसे देखकर वह ही नहीं अपितु लोक लोकान्तरों के प्राणी अपने - अपने आनन्दातिरेक में डूबने लगते हैं। सृष्टि की रचना करके वृक्ष, पत्ते, फल, फूल आदि की सुन्दरता और परिणाम पर प्रत्येक आस्तिक और नास्तिक मोहित हो रहा है जन्म और मृत्यु की सृष्टि रचकर उसके परिणाम से भी समाज हैरान है। वह राजा को रंक और रंक को राजा बनाने में क्षण की भी देरी नहीं करता है। तब आध्यात्मवादी जन उसकी वाह-वाह कर उठते है। क्योंकि वह सोम जो कर रहा हैं, वह सब भोक्ता के कर्म का ही फल मात्र है। उसके यहां से फल–प्राप्ति में न देर है न अन्धेर ही है। वह तो तत्काल कालानुसार कार्य की सम्पन्नता प्रदान करता है। अतः वह सुदक्ष है विश्ववेदा है।

निरन्तर वर्षा करने के कारण वह वर्षक बना हुआ है। उसकी यह सुख शान्ति धन और ऐश्वर्य की वर्षा सभी के लिये है। सूर्य की धूप, चन्द्रमा की शीतलता, वायु का प्रवाह, नदियों के स्रोत, पृथिवी की गन्ध, अग्नि की उष्णता, सायँकाल की शान्ति, ब्रह्म मुहूर्त की गम्भीरता, वेद का ज्ञान, पुण्य का फल–सुख, पाप का फल दु.ख औषधियों की शक्ति, और पक्षियों का मधुर संगीत–धनी और निर्धन, राजा और रंक, छोटा और बड़ा, गौरा तथा काला, मूर्ख तथा विद्वान्, शक्त तथा अशक्त, पापात्मा तथा पुण्यात्मा, देवात्मा तथा अन्त्यज, एवं मौनी और वडभाषी–सभी के लिए समान रुप से अपना - अपना गुण प्रसारित कर रहे हैं। किसी को कम या अधिक होना उसके दरबार में यह अन्याय नहीं हैं। वह तो सतत प्रवाह से सभी को वर्षा रुप में धाराओं की गति से प्रदान कर रहा है। इस वर्षा को वह अहर्निश कर रहा है, करता आ रहा है। उसके करने का कोई काल भी तो नहीं है। कोई अन्तिम घड़ी का क्षण भी नहीं है। अतः वह वर्षक है। ग्रहण करने की क्षमता मनुष्य के ऊपर है कि वह कितना अपने पात्र में उड़ेलता है। मनुष्य जब कुछ बांटता है तो कुछ ही लोगों को उसकी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फल प्राप्ति होती है। किन्तु उस सोम की वर्षणशीलता सभी को प्रतिक्षण प्रत्येक स्थान पर ऐश्वर्य से भरपूर कर रही है। यही तो उसकी महनीयता है। अपनी इसी महनीयता से उसने अपना नाम सोमवर्षा रखा है। वह तो वृषु सींचने धातु से निष्पन्न होकर सींचने का कार्य अबाध गति से निःशंकता के साथ कर रहा है। आचार्य सायण उसी को ही—

"वृषा कामनां वर्षिता महांश्च"

अर्थात् जो उत्तमोत्तम कामनाओं का वर्षक है और महान् भी है, ऐसा सोम वर्षक कहा है। वर्षक बनकर सोम हमारे घर पर सभी प्रकार के धनैश्वर्यों की वृष्टि कर रहा है।

वह सोम ऐसा महान् है कि प्रत्येक मनुष्य के कर्म को देख रहा है। मनुष्य कहीं भी छिपकर कुछ कर्म करे वह सोम तो नृचक्षा बनकर उसे साक्षात् रुप से निहार रहा है। "चष्टे पश्यति" धातु यही इशारा हमें कर रही है। जिससे कि नृचक्षा शब्द सिद्धि को प्राप्त हो रहा है। जब वह सोम नृचक्षा बन जाता है। तब तेज, यश अन्न और धन को यथोचित रुप से मानव कृत क्रमानुसार प्रदान करता है। वह जानता है कि अमुक मनुष्य का यह कर्म है। अतः इसे इस मात्रा में धन, तेज, यश और अन्न देना चाहिए। मनुष्य नृचक्षा कदापि नहीं हो सकता है। अतः मनुष्य द्वारा प्रदत्त पद पुरस्कार अथवा दण्ड पूर्ण रुप से ही उचित हो यह नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि मनुष्य ने तो दण्ड धारक अथवा फलधारक के मात्र कुछ ही कर्मों को मात्र स्थूल नयनों से देखा है। जिनको देखकर वह स्वयं गद्-गद् हो गया है। किन्तु उस नृचक्षा सोम ने तो मनुष्य की प्रत्येक क्रिया को क्षण–प्रतिक्षण निहारा है। अतः उसकी न्याय व्यवस्था में कदापि दोष नहीं आ सकता है। वह सोम मनुष्य के विचारों को, चिन्तन को, मनन को और ज्ञान को नृचक्षा बनकर देख रहा है। इसलिए वह न्यायकारी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होने से तेजस्वी, यशस्वी, अन्नवान् और बलवान् स्वयं बना है। उसका तेज कदापि निःतेज नहीं होता है। उसका बल कदापि दुर्बलता में परिवर्तित नहीं होता है। उसका यश कभी भी अपयश का भागी नहीं बनता है और उसका धन निर्धनता का रुप नहीं लेता है। वह स्वयं में इन द्युम्नों से परिपूर्ण होकर अन्यों को भी भरपेट द्युम्न दे रहा है। वह तो पूर्ण है इसका सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड पूर्ण है। उस पूर्ण से यह सारा पूर्ण ब्रह्माण्ड निर्मित हुआ है और उस पूर्ण से यदि सारा कुछ निकालने की कोशिश भी की जाये वह तब भी पूर्ण ही बना रहेगा। यही तो उसकी परिपूर्णता है—

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्ण मुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

इस प्रकार वेद में उस आध्यात्मिक सोम रुपी प्रभु की सर्वत्र चर्चा की गई है। वस्तुतः वह सोम परम शक्तिमान् परमात्मा ही है जो चराचर का स्वामी और सर्वशक्तिमान् है। जिसका सामर्थ्य अनन्त है। सुमित्रः सोम न भव—कहकर ऋग्वेद प्रथम मण्डल के इक्यानवे सूक्त का बारहवां मन्त्रांश हमें उसी सोम को मित्र बनाने की ओर निरन्तर निर्देश दे रहा है। उस का सामर्थ्य तो अनन्त है। उस सोम की शक्ति अद्भुत है। वह सोम चन्द्रमा के समान हमारी वृद्धि और पुष्टि का कर्ता है। वह सोम हमारे घर में, सन्तान में धन में, और प्राण में पुष्टि को करता है। वह निरन्तर रुप से समस्त मानवों को अविद्यादि दोषों से दूर करया है। आत्मानन्द को अहर्निश प्रदान करता जा रहा है। और समस्त ऐश्वर्यों का प्रदाता वही सोम प्रभु है। हम उस सोम रुपी प्रभु के अनन्त सामर्थ्य को जानें, उसी की शान्तिप्रद शरण मे अपने को समर्पित करें तो हमें भी सुख और शान्ति का मार्ग प्राप्त हो सकता है, अन्यथा नहीं—नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥इतिशम्॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अवतारवाद

लेखक—कौशलेन्द्र प्रपन्न
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

अवतार शब्द "अव" उपसर्ग पूर्वक "तृ" धातु से निष्पन्न होता है। जिसका अर्थ होता है उतरना। अवतार शब्द का प्रयोग परमात्मा मे सर्वव्यापक रूप में नहीं घटता। अतः उतर तो वह सकता है जो कहीं स्थान विशेष पर सिंहासन पर बैठा हो। उतर तो वही सकता है जो ऊपर हो, नीचे न हो।

जो सर्वव्यापक है, अणु–अणु, कण–कण में विद्यमान है, वह किस स्थान से किस स्थान पर उतरेगा ? अतः उसका अवतार कैसा ? यजुर्वेद में कहा गया है कि—
'स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषि परिभूः स्वयंभू याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ ·········यजु० ४०/८॥

वह परमेश्वर सर्वव्यापक, शीघ्रकारी, सर्वशक्तिमान, (स्थूल, सूक्ष्म और कारण) शरीर से रहित, छिद्र रहित, नस–नाड़ियों के बन्धन से परे, पवित्र, शुद्ध, निष्पाप, क्रांतदर्शी, सर्वज्ञ, सब जीवों के मनोभावों को जानने वाला, दुष्ट और पापियों का तिरस्कार करने वाला तथा सब के ऊपर विराजमान है। वह स्वयम्भू अनादि स्वरुप है तथा अपनी सनातन प्रजा के लिये यथार्थ सब पदार्थों को रचता हैं।···कठोपनिषद् २/२२

"न तस्य प्रतिमाऽस्ति यस्यनाम महद्यशः।"·········यजु०

दर्शन शास्त्र ने भी इस बात को स्वीकार किया है कि "क्लेश कर्म विपाकाशयैर–परामृष्ट पुरुषविशेष ईश्वरः।

अविद्या आदि पांच क्लेशों, कर्मफल और वासनाओं के ससर्ग से रहित पुरुष विशेष ईश्वर होता है। इस लक्षण से सिद्ध होता है कि ईश्वर देहधारी नहीं हो सकता क्योंकि यह सब बातें देहधारी में ही होती हैं।

हमारे पौराणिक बंधुओं का ऐसा कहना है कि जब–जब धर्म की हानि हुई है तब–तब ईश्वर अवतार लेकर पृथ्वी पर आता है और धर्म को नष्ट होने से बचाता है। भगवद् गीता के चतुर्थ अध्याय में भी कहा गया है कि:—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

":यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
"अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।।"

परन्तु उसी गीता के अठारहवें अध्याय के श्लोक को नहीं पढ़ा तथा उसका अर्थ गलत समझा जा रहा है जो यह है :–

"ईश्वर: सर्वभूतानाँ हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वं भूतानि यन्त्रारूढानि मायया ।।"

पौराणिक लोग उन्हीं अवतारों में से एक वामनावतार मानते हैं। आप थोड़ा इस पर विचार तो कीजिये। भगवान को उस राजा से डर भी लग गया, ऐसा न हो कि अपने पुण्य कर्मों के फल से हमारा सिंहासन न ग्रहण कर ले। जरा सोचिये जो लोभ, मोह, काम, भय आदि से बिलकुल ही परे है वह आखिर क्यों अपने सिंहासन छिन जाने के कारण भयभीत होगा।

भगवान क्या ऐसा कर सकते हैं? जो पुण्यकर्मों को कर अपने यश वृद्धि में लगा हो उसे उसके कर्मों की वजह सिंहासन न मिल जाये। इसलिये उसे छल द्वारा रसातल में भेज दें। ईश्वर तो किसी को मारता नहीं, वह तो केवल उसके कर्मों का फल मात्र ही देता है।

ऐसे भी मनुष्य कर्म करने के लिये स्वतंत्र है तथा ईश्वर भी कर्मानुसार फल देने के लिये स्वतंत्र है। तो क्या उस राजा के पुण्यकर्मों का फल यही था कि उसका सारा राज पाट छल द्वारा जीत कर उसे रसातल भेज दिया जाग। यह भी तो प्रकृति के नियम के विरुद्ध ही है कोई अपने पैरों द्वारा पृथ्वी, आकाश और पाताल क्रमशः माप ले। अतः यह प्रमाणित करता है कि वामन ईश्वर का अवतार नहीं हो सकता है। यह दन्त कथा मात्र ही है। आप अगर गहराई से इस विषय पर विचार करेगें तो आपको यह स्पष्ट समझ में आ जायेगा कि वामन एक मानव मात्र ही होगा न कि ईश्वरावतार ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फिर पुरुषोत्तम राम को भी भगवान् का हो अवतार मानते है। यहां तक कि स्वयं राम ने अपने को भगवान् का रूप नहीं माना। वो तो अपने को एक साधारण मानव ही मानते थे। सच्चरित्र, धर्मरक्षक, समाज–सुधारक आदि भी ईश्वर के समान ही हो सकते हैं। मगर इसका अर्थ यह तो नहीं कि उसे हम अवतार मानने लगेंगे तथा उसकी पूजा आदि मूर्ति स्थापित करके करेंगे। अगर ईश्वर अवतार लेने लगे तो उसमें तो विकार उत्पन्न हो सकता है। अवतार ग्रहण करने पर तो इसकी शक्ति भी सीमित मात्रा में ही हो जायेगी। ईश्वर तो निराकार है तो फिर अवतार कैसा ? यह तो केवल बिडम्बना ही चली आ रही है कि ईश्वर अवतार भी ग्रहण करता हैं। क्या एक मानव को मारने हेतु उसे शरीर को धारण करना पड़ेगा ? वह तो मनुष्य के कर्मों का फल ही देने का भागीदार है। जब वह कर्मों का फल देने के लिये स्वतंत्र है तो उसको अवतार लेने की क्या आवश्यकता ? सीता के अपहरण कर्ता रावण को दण्ड ही देना था तो उसके मरने के उपरान्त भी दे सकते थे। राम ने जो रावण की हत्या की तो क्या राम ईश्वर के अवतार हो गये ? भगवान ने तो केवल प्रेरणा देकर प्रतिनिधि राम को बनाकर काम पूर्ण किया। अतः राम ईश्वरावतार नहीं हो सकते।

अगर ईश्वर एक व्यक्ति को मारने के लिये अवतार लेने लगे तो उसकी सत्ता का अस्तित्व ही क्या रह जायेगा। हाँ, राम एक महान पुरुष थे। इनका जीवन तो तपस्वियों की तरह था। श्री राम के आदर्श ग्रहण करने के योग्य हैं। उन्होंने यह दर्शाया है कि एक भाई का सम्बन्ध भाई के साथ कैसा होना चाहिये ? एक पति पत्नी का संबंध कैसा हो ? राजा–प्रजा का कैसा हो ? श्री राम तो पुरुषोत्तम थे। उन्हें ईश्वरावतार कहना उचित नहीं होगा। वांस्तव में देखा जाय तो ईश्वर के शरीर धारण करने की आवश्यकता ही क्या है ? जिसने सारी सृष्टि की रचना बिना शरीर धारण किये की।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पौराणिक बन्धुओं ने तो योगीराज कृष्ण को भी भगवान का अवतार ही माना है। यह भी बिल्कुल ही गलत है। क्या ईश्वर कभी ऐसी लीलायें कर सकता है? क्या वह नारियों के साथ नाचने और लीलायें करने हेतु अवतार ग्रहण करेगें? जो कि कामनाओं आदि से मुक्त हैं। योगी कृष्ण तो एक तपस्वी थे। वे एक ब्रह्मचारी थे। शादी शुदा ब्रह्मचारी। शादी के बारह साल बाद तक जंगलों में रहे। बाद में एक पुत्र प्रद्युम्न हुआ। ईश्वर तो इन्द्रियों के बन्धन से मुक्त हैं फिर वह क्यों इसमें फसेगा?

पौराणिकों ने यह भी बिल्कुल ही गलत अर्थ लगाया कि योगी कृष्ण ने ग्वालों की लड़कियों के साथ रास लीला रचाई। उन ग्वालों की लड़कियों को गोपी कहा जाता है। वे लोग अर्थ बिल्कुल ही गलत लगाते हैं क्योंकि जो गऊवों को चराता है उसे गोप कहते हैं, और इसी कारण चराने वालों को गोप कहने से गऊवों को गोपियाँ भी कह सकते हैं। यहाँ तक सुनने में आता है कि वे नग्न ग्वालियों को देखा करते थे। स्नान करते समय उनके कपड़े चुराकर भाग जाते थे। यह काम तो एक साधारण मनुष्य के लिये भी उचित नहीं है और ईश्वर तो कामनाओं से रहित है। क्या अवतारावस्था में कृष्ण ने यही काम किया। योगी कृष्ण ने ऐसे काम किये हों जिससे मानवों की भावनाओं को ठेस पहुंचे, यह तो मैं नहीं मानता। यह तो बिल्कुल मिथ्या ही है।

उपर्युक्त तथ्यों पर विचार करने से ऐसा लगता है कि अवतारवाद मिथ्या ही है। यह तो अज्ञानता है या फिर ढकोसला ही है। चाल है और कुछ भी नहीं है।

मैं एकबार पौराणिकों से क्षमा माँगूगा कि मेरे ऊपर क्रोधित न हों क्योंकि सत्य कड़वा ही होता है। किसी रास्ते से भटके राही को मार्ग पर लाना हर एक मानव का ही कर्तव्य बन जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कालिदास कृत कुमार संभव तथा जयशेखरसूरि कृत जैन कुमार संभव का भाषा सौष्ठव

डा० श्रीमती पद्मजा अमित
मुन्नालाल कालिज, सहारनपुर

यह सत्य है कि भाषा स्वरूप को रूप प्रदान करती है और रूप शब्द का प्रयोग किसी संज्ञा या क्रिया की विभक्तियों और उसके लकारों के लिए होता है। व्याकरण भाषा प्रयोग की प्रक्रिया की पहचान कराने में समर्थ होता है। भाषा के अन्तरंग और बहिरंग पर विचार करने से किसी कवि के काव्य निर्णय में सहायता मिलती है। व्याकरण भाषा का बाह्य स्वरूप निर्धारित करता है। एकार्थक अनेक धातुओं का प्रयोग अथवा अनेकार्थक एक धातु का प्रयोग कालवाची भूतार्थक अनेक लकारों में से किसी एक का प्रयोग ही अधिक करना, भाषा–लालित्य की अभिव्यक्ति के लिए कुछ प्रत्यय विशेष के प्रयोग इत्यादि विचारणीय होते हैं। इस दृष्टि से कालिदास के कुमारसम्भव एवं जयशेखर सूरि कृत जैन कुमार संभव की भाषा पर विचार करना इष्ट है।

कुन्तक ने सम्भवत: कालिदास को सुकुमार मार्ग का कवि माना है। अश्वघोष व कालिदास के काव्य रीतिमुक्त शैली के प्रतिनिधि काव्य माने गये है। कालिदास की भाषा में सहजता और गम्भीरता, लघुता एवं विस्तार, माधुर्य एवं गाम्भीर्य काव्य–प्रतिभा और पाण्डित्य का मिश्रण है। जैन कुमारसंभव का अध्ययन करने पर यह अनुभूति होतो है कि जयशेखर की भाषा कालिदास का अनुकरण करती हुई भी समकालीन परिस्थितियों से भी प्रभावित है। पाण्डित्य प्रदर्शन के इस युग में जैनकुमार संभव तत्कालीन प्रवृत्तियों से अछूती नहीं रह पायी है। जैनकुमारसभव १४वीं शती की रचना है। उस युग के जैनमहाकाव्यों में व्याकरण पक्ष अति प्रबल हो चुका था। जिनप्रभसूरि का श्रेणिकचरित इसका उदाहरण है।[1] अपने युग से प्रभावित जयशेखर ने हेमचन्द के व्याकरण सिद्ध प्रयोग अपने जैनकुमार संभव में किये हैं तथापि कहीं–२ कालिदास से विलक्षण साम्य दिखलाई देता है यथा

---

१. द्रष्टव्य श्रेणिक चरित, षष्ठसर्ग १४०–१४१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कालिदास रघुवंश के प्रारम्भ मे—

क्वसूर्यप्रभवो वंश क्व चाल्पविषयामतिः ।

तितीर्षु दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम् ॥रघु० २/२

कहकर आत्मविनय प्रकट करते हैं वैसे ही ऋषभ-गुणगान में—

गुणास्तवाकोदधिपारवर्तिनो मतिः पुनस्तच्छफरीवमामकी

अहो महाधाष्टर्यमियं यदीहते जडाशया तत् क्रमणं कदाशया जैनकु० २/५०

जयशेखर ने इन्द्र के मुख से विनयशीलता प्रगट की है। जैन कुमार संभव की भाषा में लालित्य एवं माधुर्य भी विद्यमान है। इसमें भूतार्थक परोक्ष, अनद्यतन तथा सामान्य भूत के लिए अधिकाँशतः लिट तथा लुङ् के प्रयोग मिलते हैं। इन लकारों का प्रयोग कालिदास तथा अश्वघोष के महाकाव्यों में भी मिलता है। कुमारसंभव में परिपालयाँ बभूव (४/४६) स्नावयाँ बभूवुः (७/१०) तथा जैनकुमारसंभव में निवेशयामास (१/१) प्रथयां बभूवुः (१/६६) आदि धातुओं के णिजन्त रूप हैं। लिट् लकार के आत्मनेपदी व परस्मैपदी रूप भी उभय कवियों के काव्यों में मिलते हैं। कालिदास कृत कुमारसंभव में लिट् लकार के रुप निम्नलिखित हैं :—

दुदुहः १/२, पुपोष १/२५, जुहाव १/२६, चुचुम्बे ३/३८।

जैनकुमारसंभव में लिट्लकार के रूप परस्मैपदी तथा आत्मनेपदी दोनों में मिलते हैं। यथा निनाय १/७, निनिन्दुः २/४, जहास ३/४४, ममर्द ३/४६, जिजीवे ३/५४, सिषेवे ३/६९/ जैनकु० में लुङ् लकार का विशेष प्रयोग मिलता है—अगायताम् २/१, व्यघत २/३९, अवर्धि ३/६३, अमूमुहत् ४/५१, अपिवीडत् ५/६।

जैन कुमारसंभव में च्वि प्रत्ययान्त शब्दों का बहुलता से प्रयोग किया है—अधरीक्रियेत् १/३०, मुखरीकरोति ३/५२, मृगीकृत्य ६/३८, सुमगलाङ्गीभवितुं ६/५७।

जैनकुमारसंभव में नामधातुप्रक्रिया के प्रयोग भी मिलते हैं—पोतति ५/२५, पवित्रयते ४/३६, औष्मायते ४/५८, अप्सरायसे ६/१५, आदि। जयशेखर सूरि की इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कृति में निपातित शब्दों का बाहुल्य है—चाचलि: २/१६, । जान्यिका ४/५४, मातरिश्वन-४/५५, घनाघनौदका ६/२२, । निपातित प्रयोग कालिदास में भी मिलता है—भोज्यं २/१५, उदन्वान् ७/७३, ।

जैनकुमारसंभव से व्याकरण के कुछ अन्य विशिष्ट प्रयोग प्रस्तुत हैं:—सन्नन्त प्रयोग-रिरसया ८/१५, जिजल्पिषा ८/६, उरमिरमति ६/१७ । जुहोत्यादिगण प्रयोग-पिपर्त्ति ८/३०, इयर्तु १०/८ ।

तल् प्रत्ययान्त शब्दों का प्रयोग जैनकुमारसंभव में बहुलता से किया गया है:—
स्वादुतां मृदुलतामुदारतां सर्वभावपटुतामकूटताम् जैनकु० १०/६

यह तो स्पष्ट है कि दोनों ही कवियों का माध्यम संस्कृत हैं परन्तु कालिदास के प्रयोग पाणिनीय हैं और जयशेखर सूरि ने जैनाचार्यों द्वारा लिखे गये व्याकरण का आश्रय लिया है । विशेष रूप से हेमचन्द कृत व्याकरण ग्रन्थ का । कालिदास ने कृतसंधि सप्तर्षि (१/१६) शब्द का प्रयोग किया है जबकि जयशेखर सूरि ने सप्तऋषि (१/२३) शब्द का प्रयोग किया है । जैन कुमारसंभव में दुःप्रयुक्ता (१/१७) प्रयोग किया जबकि कालिदास ने ऐसे स्थल पर विसर्ग का प्रयोग न करके 'रु' का प्रयोग किया है ।

कालिदास शब्द शास्त्र में निष्णात कहे जाते हैं ।[1] संस्कृत भाषा में हर, भव पिनाकी, कपालि आदि शब्द शिव के ही वाचक हैं । कालिदास ने इन शब्दों का प्रयोग प्रसङ्गानुसार ही किया है । 'हर' शब्द का प्रयोग शिव के रुप सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के लिये किया है ।[2] शिव के क्रोध का चित्रण करते समय कवि ने भव[3] शब्द का

---

१. द्रष्टव्य, कालिदास ग्रंथावली में प्रस्तुत 'निबन्ध कालिदास के शब्द प्रयोग' अम्बिका दत्त उपाध्याय पृ० २७
२. कुमारसंभव १/५०
३. वही ३/७२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रयोग किया है। शिव के वीर रूप का चित्रण करने के लिए पिनाकी[1] शब्द का तथा शिव की निन्दा करने के लिये कपालि[2] शब्द का प्रयोग किया है। ध्वन्यात्मकता कालिदास की भाषा की प्रमुख विशेषता है। कालिदास का व्यंजना पर असाधारण अधिकार है। तपोरता पार्वती का चित्रण कवि की इसी क्षमता का परिचायक है।[3]

कालिदास का शब्दलाघव उनकी कलात्मक रुचि का परिचायक है। शिव-पार्वती विवाह की चर्चा हिमालय व सप्तर्षियों के मध्य में हो रही है। समीप में बैठी पार्वती की मनः स्थिति का चित्रण कालिदास ने सुन्दर रूप में किया है—

लीला कमल पत्राणि गणयामास पार्वती ६/८४

विभिन्न सूक्तियों के माध्यम से कवि ने अपनी भाषा को सजाया है। यथा—

शाम्येत् प्रत्यपकारेण नोपकारेण दुर्जनः २/४०

प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता ५/१

सूक्तियों एवं लोकोक्तियों के द्वारा भाषा प्रभावशाली, प्राणवान् एवं गतिशील बन गई है। साथ ही कालिदास के विचार गाम्भीर्य का भी बोध कराती है। इन वाक्यों में लोक व्यवहार ज्ञान का अनुभव है।

जैनकुमार संभव की भाषा में ध्वन्यात्मकता विद्यमान है। प्रथम सर्ग में जिन-वृत्तगान से बालिका समूह में सप्तर्षियों से संख्याधिक्य की व्यंजना होती है।[4] जयशेखर की भाषा में विषयोपयुक्तता का गुण भी विद्यमान है। जहां दर्शन जैसे क्लिष्ट विषय की अभिव्यक्ति है, वहां भाषा में सरलता तथा लालित्य की अनुभूति

---

१. वही ५/१
२. वही ५/७८
३. वही ५/२४
४. जैन कुमारसंभव १/१३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होती है।[1] सुमंगला के गर्भस्थ पुत्र के भोगों का उल्लेख करते हुये 'न मानवीष्वेव सनाप्तकाम:' कहकर उपमा के लिए सुर नदी गङ्गा की उपभोग भङ्गियों का चयन किया है जो कुमार की विलास प्रवृत्ति में भी पवित्रता का द्योतन कराने में समर्थ है।[2] भगवान् ऋषभ की आह्लादकारणी बाल्य प्रवृति को ध्वनित करने क लिए जयशेखर ने मन्दारतरो: प्रवाल:[3] शब्द का प्रयोग किया है। राजनीति के विषय में गम्भीर भावों को उदित करने वाली भाषा का प्रयोग किया है सुमगला को गर्भकाल में समुद्र दिखलाई देता है। समुद्र को अलब्धमध्य कहा है जिससे सुमंगला के पुत्र का गम्भीर होना व्यंजित है। गम्भीर व्यक्ति मर्यादा का उल्लघन नहीं करते। इस भाव को व्यक्त किया है—

निभालनान्नीरनिधेरधीश्वर: सरस्वतीरसपूर्तिसंस्पृशाम्।
अलब्धमध्योऽर्यिभि राश्रितो घनै: सुतस्तवात्येष्यति न स्वधारणाम्॥
जैनम ९/६२

कुछ पदार्थो एवं शक्तियों के लिए ऐसे शक्तिशाली विशेषणों का प्रयोग कवि जयशेखर ने किया है जो कवि के मानस में व्याप्त वस्तुस्वरूप की अभिव्यक्ति कराते हैं। कालिदास ने तारुण्य और मार का मनोहर चित्रण किया है परन्तु जैन कुमार संभव में तारुण्य-मार की दृढ़ मैत्री में शठता का भाव देखा है—

शठौ समेतौ दृढसख्यमेतौ, तारुण्यमारौ कृतलोकमारौ।
जै. कु. ३/१६

रमणीय स्त्रियों के लिए कामदेव की तलवार की तीव्रधारा मनोभूतरवारि-धारा:[4] रूप उपमान का चारु प्रयोग है। समासविहीना भाषा नाद सौन्दर्य से परिपूर्ण है—

१. वही ११/४९
२. वही ११/४५
३. वही १/३१
४. जैनकु० ३/१९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सर्वेषु यातेषु नरामरेषु (६/१) निशानिशा भंग विशेष कान्तिः (६/२)

जयशेखर सूरि की सूक्तियां विभिन्न ज्ञान के साथ-साथ भाषा की अर्थ शक्ति का भी उद्‌घाटन करती हैं—

नयं न भिन्ते विबुधेशिता यतः २/१६

वेद चरितं महतां कः ५/६

कालेन विना क्वशक्तिः ६/५

फलोफलब्धिः खलु दैववश्या ११/६३

जयशेखर के द्वारा प्रयुक्त कुछ शब्द जिज्ञासुओं को दर्शन की ओर प्रवृत्त करते हैं।[1] नय शब्द जैन दर्शन में प्रथित नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र शब्द समभिरुढ़ तथा सप्तनय की ओर इंगित करता है तथा संग्रह शब्द की परिभाषा 'सद्रूयतानतिक्रान्तं स्वस्वभावमिदं जगत्। सत्त्वरुपतया सर्वे संग्रहणन् संग्रहो मतः' की गई है।[2]

जैनकुमारसंभव की भाषा सर्वथा विषयानुकूल है। सुमंगला की सुख शान्ति की निद्रा की अभिव्यक्ति के लिए कवि ने दार्शनिक क्षेत्र में प्रविष्ठ हो समाधि के चित्र का आश्रय लिया है।[3]

उभय कवियों के द्वारा प्रयुक्त भाषिक अनुशीलन से यह तथ्य प्रकट होता है कि दोनों के अपने-अपने मान्य आदर्शों के मनुष्य अनुरुप भाषा में औचित्य का निधान किया है। कालिदास व जयशेखर की भाषा में जो अन्तर दिखलाई देता है वह उनकी परिस्थितियों के कारण हैं। कालीदास ने पाणिनीय भाषा का प्रयोग किया है 'तथा अपाणिनीय प्रयोग न के बराबर है। जयशेखर ने अपने द्वारा स्वीकृत जैन सम्प्रदाय गत दर्शन की अभिव्यक्ति के लिए जिस संस्कृत का प्रयोग किया है वह जैनाचार्यों विशेषतः हेमचन्द्र के शब्दानुशासन के अनुरुप है। इसमें निपाति प्रयोगों का बाहुल्य है है जबकि कालिदास स्वभावतः भाषा में कहीं भी किसी भी कवि की अनुकृति सी करते प्रतीत नहीं होते।

१. नयस्य वश्यः किगु संग्रहस्य.........जैनकु० ३/२०

२. जैनकु० ३/२२ की टीका

३. जैनकु० ७/१८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दी एवम् अंग्रेजी साहित्य में स्वच्छंदतावाद

डा० कृष्ण अवतार अग्रवाल
अंग्रेजी विभाग, गु. कां. विश्वविद्यालय, हरिद्वार

साहित्य मानव मन की भावनाओं को व्यक्त करने का एक माध्यम है जो देश एवम् काल की सीमाओं से मुक्त होता है। इस क्षेत्र में सभी देशों एवम् कालों के साहित्यकार का छायावाद एवम् अंग्रेजी साहित्य का रोमांटिरिज्म यद्यपि दो भिन्न-भिन्न देशों और कालों में है परन्तु वे मूलतः एक ही भाव व्यक्त करते हैं।

स्वच्छन्दतावाद अंग्रेजी साहित्य में १८७८ ई० में आरम्भ हुआ। जबकि इस काल के प्रमुख कवि वर्ड सवर्थ एवं कोलडरिज ने संयुक्त रुप में 'लिरिकेल वैलेड्स' को प्रकाशित कराया। निओ कलासिकल जो बौद्धिक, अतिनैतिक, सुधारवादी एवं शास्त्रीय रूढ़ियों से ओत-प्रोत था उससे साहित्यकार ऊब चुके थे और उन्होंने इस काल के क्लिष्ट छन्दों का परित्याग कर प्रकृति की मानव प्रेम, प्रकृति में चेतना का आरोप, रहस्यवाद, स्वतंन्त्रता, समानता, पारभौतिकता. पीड़ा सौन्दर्य के सूक्ष्म गुणों की पूजा, पलायन, व्यापक, मानवतावाद, वैयक्तिक प्रेम की अभिव्यंजना, सरल छंद, ऐन्द्रियता, धारा प्रवाह, उपासना कल्पना एवम् भावना, अतीत के प्रति प्रेम एवम् प्राचीन रूढ़ियों के प्रति विद्रोह है। ठीक इसी प्रकार हिन्दी में भी द्विवेदी युग में यही परिस्थितियां विद्यमान थीं। जिनका विरोध छायावादी काव्य धारा ने किया। अंग्रेजी के काव्यों को फ्रांस की राज्य क्रांति ने स्वतंत्रता का सन्देश दिया। उसी प्रकार हिन्दी के छायावादी कवियों को भी 'स्वराज हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है ने प्रेरणा दी। उन्होंने अपने आपको अंग्रेजी की दासता से मुक्त करने की भावना को अपने छायावादी साहित्य में व्यक्त किया है। रोमान्टिक युग के कवियों की सौन्दर्य और प्रेम भावनाएं धार्मिक संस्थाओं एवम् समाज की मान्यताओं के कारण कुण्ठित हो चुकी थी तो हिन्दी के छायावादी युवक कवि हिन्दू समाज की अनेक कुप्रथाओं एवं रूढ़ियों से अपने समाज को दबा हुआ प्रतीत करने लगे थे। हिन्दी के सुप्रसिद्ध आलोचक डा० नगेन्द्र छायावाद के विषय में लिखते हैं, 'इसमें सन्देह नहीं कि 'छायावाद' मूलतः रोमानी कविता है और दोनों की परिस्थितियों में भी जागरण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और कुण्ठा का मिश्रण है।' इस प्रकार अंग्रेजी साहित्य ने निओ क्लासिकल (Neo classical) युग की कठोर परम्परागत रूढ़ियों को तोड़कर स्वछंदतावाद को जन्म दिया तो हिन्दी साहित्य ने इतिवृत्तात्मकता को त्याग कर छायावाद को स्वीकार किया। दोनों ही साहित्य मानव भाव, विचारों और अनुभूतियों की दृष्टि से भिन्न-भिन्न भाषाएं होने पर भी एक हैं। अस्तु छायावाद एवम् रोमाण्टिसिज्म' में जीवन के असतोष को व्यक्त करने की समान विचार धाराएं विद्यमान हैं।

अंग्रेजी साहित्य के प्रसिद्ध रोमाण्टिक कवि वर्डसवर्थ, कोलडरिज, स्कौटस, राबर्ट साऊदे, वाइरन, कीट्स एववं शैले हैं। इन्हीं के काव्य स्तंभों पर 'स्वच्छंदतावाद' का विशाल दुर्ग निर्मित है। हिन्दी में छायावाद का काव्य महल जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानन्दन पत, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' एवम् महादेवी वर्मा के अमर साहित्य स्तंभों से सुसज्जित है। दोनों ही साहित्य के ये अमर सरस्वती पुत्र सौन्दर्य एवं प्रेम की भावनाओं को लेकर साहित्य के क्षेत्र में अवततिरत हुए।

वर्ड्सवर्थ एवम् कोलडरिज़ ने फ्रांस की क्रांति से असंतुष्ट होकर प्रकृति की गोद में शरण ली। वे प्रकृति के सौन्दर्य में अपने आपको खो देना चाहते थे। वर्ड्सवर्थ का विश्वास था कि ईश्वर प्रकृति में विद्यमान है।

'It is Nature's low-a spirit and pulse of good, A life and soul, to every mode of being, inseparally linked !'

हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि जयशंकर प्रसाद भी अपनी श्रेष्ठ रचना 'श्रद्धा' में प्रकृति का सौन्दर्य किसी भी प्रकार से कम सौन्दर्यशाली रुप से प्रस्तुत नहीं करते—

नील परिधान बीच सुकुमार,
खुल रहा मृदुल अधखुला अंग।
खिला है ज्यों बिजली का फूल,
मेघ वन बीच गुलाबी रंग॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छायावाद के अन्य कवियों ने अन्य युग के कवियों की भांति राधा, उर्मिला, पद्मिनी आदि को अपनी प्रेमानुभूति का विषय न बनाकर अपनी व्यक्तिगत प्रेमानुभूति को काव्य में प्रश्रय दिया। अंग्रेजी के रोमान्टिक कवि जौन कीट्स की आकांक्षा है—

"To catch white-handed nymphs in shady Places, To woo Sweet kisses From averted Faces."

हिन्दी साहित्य के सुप्रसिद्ध छायावादी कवि सुमित्रानन्दन पंत भी जीवन की इस प्रेम दुर्बलता से मुक्त नहीं है—

उसके उस सरलपने से
मैने था हृदय लगाया
नित मधुर - मधुर गीतों से
उसका उर था उकसाया

प्रकृति का सौन्दर्य भी दोनों ही साहित्यों में सौन्दर्यशाली है। वर्ड्सवर्थ प्रकृति का एक महान् उपासक है। वह प्रकृति को शब्दों की तूलिका से चित्रित कर देता है। प्रकृति उसकी मन और आत्मा की पथ प्रदर्शक है। वह 'Tintern Abbey' मे कहता है—

"The sounding countracts haunted me like a passion, The tall rock the mountain, and the deep and gloomy wood their colours and their forms, were then to me, an appetite."

"These beautious Forms...............Passing into my pure mind with tranquil restoration Nor less I trust."

प्रसाद पंत, महादेवी वर्मा, आदि 'छाया वादी' कवियों ने भी प्रकृति में चेतनता का आरोप कर नारी रूप में उसका चित्रण किया—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'पगली हां ! संभाल ले वैसे छूट पड़ा तेरा अंचल,
देख बिखरती है मणिराजी अरी, उठा वेसुध चंचल ।
फटा हुआ था नील वसन क्या ओ, यौवन की मतवाली,
देख अकिंचन जगत् लूटता, तेरी छवि भोली-भाली ।"

रहस्यवाद भी इन कवियों की मुख्य विशेषता हैं क्योंकि यह प्रवृति इनके व्यक्तिगत प्रेम की पूर्ण अभिव्यक्ति करने में सहायक रही है । वर्डसवर्थ की उत्तरार्द्ध की कविताएं आध्यात्मिक-वाद एवं रहस्यवाद से ओत-प्रोत है । जंगलों में भी आत्मा की अभिव्यक्ति पाता है । उसका विश्वास है कि आत्मा ही ईश्वर का रुप है । वह विश्व देवता वाद (Pantheism) में विश्वास करता है—

"A spirit that impels
All thinking things,
All objects of thought
All rolls through all things."

उसने अस्त होते सूर्य, चमकते सितारे, बढ़ते हुए वृक्ष तथा सुगन्धित पुष्पों में भी ईश्वर के दर्शन किये । सम्पूर्ण विश्व उस ईश्वर के अलौकिक प्रकाश से प्रकाशित पाया । सुमित्रानन्दन पंत भी जगत् के कण-कण में उस अपार्थिव सत्ता को व्याप्त पाते हैं वे प्रश्न करते हैं—

"मैं फिर उत्कठातुर,
जगती के अखिल चराचर
यों मौन मुग्ध किसके बल ?"

श्रीमती महादेवी वर्मा ने भी उस परम सत्ता का अस्तित्व स्वीकार किया उनके अनेक गीत इसी तथ्य को प्रकट करते हैं ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अतः 'छायावाद' एवम् 'स्वच्छंदतावाद' में केवल प्रेम और सौन्दर्य की ही अतिरंजित कल्पना नहीं अपितु जीवन के यथार्थ को पहचानने की भी क्षमता है। अतः उनके काव्य में संसार की क्षण भंगुरता एवम् वेदना का स्तर अत्यन्त मुखर हो उठा है। जीवन के दुख और निराशाओं से उनका हृदय कराह उठा। आगे चलकर इन कवियों ने समन्वय का मार्ग ढूढ़ा। जीवन के इस कटु अनुभव को रोमान्टिक कवि शैले इन पक्तियों में व्यक्त करते हुए कहते हैं—

Our sincerest laughter with some pain in fraught
Our sweetest songs are those that tell of saddest thought.

विषाद को भी हर्ष का एक अभिन्न अंग मानते हुए ये कवि स्वीकार करते हैं—

बिना दुःख के सब सुख निस्सार,
बिना आँसू के जीवन भार।

तो कवि वर्ड सवर्थ भी इसी स्वर में अंगीकार करते है—

"We shall grieve not, rather find strength in what remains behind."

वास्तव में समन्वय का मार्ग ही श्रेष्ठ है इसलिए कवि शैले कहते हैं—

"O Wind,
If winter comes, can spring be for behind."

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शक्तिवाद-निरुक्ति

डा० विजयपाल शास्त्री
रीडर दर्शन विभाग, गुरुकुल कांगड़ी, विश्वविद्यालय

शक्तिरेवैकं तत्त्वमिति शाक्त दर्शनस्य मतम्। इयमेव शक्ति : श्रुतिस्मृति पुराणेषु विविधैर्नामभि विविधैः स्वरुपैश्च व्याख्याता। प्रकृति र्मायाऽविद्या मिथ्या सत्या जगदम्बा देवी चिति राद्या चेति शास्त्रेषु गीयते। विरिञ्चि रनयैवोपादान भूतया जगत्सृजते, हरिरनयैव तत्पाति गिरिशश्चैतयैव तत्संहरति। तत्त्वार्थविदां दृशि सैव विश्व जनन्याद्या प्रकृतिः। इत्थंभूताऽपि सा नास्ति कैश्चिदपि ज्ञेया, केवलं कार्यैरनुमेयैव स्वयम निर्वाच्याऽव्यक्ता च। विवेक चूडामणौ शंकरोऽभिदधाति—

अव्यक्तनाम्नी परमेश शक्ति
रनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका या।
कार्यानुमेया सुधियैव माया
यया जगत् सर्वमिद प्रसूयते ॥

परमेशशक्तिरित्यभिधानेन नदं चिन्त्यं यत् सा परमेश्वराद् भिन्ना वर्तते। शक्ति शक्तिमतो-र्भेदो न जातु सम्भवति। सैव शक्तिः सैव च शक्तिमत्यपि। वेदान्त-मते तु परमेश्वरस्येच्छारुपिण्येक विद्यते सा। इच्छारुपायामेव तस्यां सचराचर जगन्निलीनं तिष्ठति तस्या एव च वहि : स्फुरद् दृग्गोचरं भवति। इदमेव स्वरुपं वर्णित तस्याः शैवाचार्यैः राजानकैः—

इच्छा सैव स्वच्छा सतत समवायिनी सती शक्तिः।
सचराचरस्य जगतो वीजं निखिलस्य निजनिलीनस्य ॥
— षट्त्रिंशत्तत्त्वसन्दोहः—२

शांकरदृष्ट्या सदसद्भ्यां भेदाभेदाभ्यां च न निर्वक्तुं शक्यत इयम्। अस्मादेव महाद्भुताऽनिर्वचनीया चेय गीयते। ब्रह्मणि जगत्प्रपञ्चोऽध्यस्तो यया शक्त्या अनुभूयते सैव अघटन घटना पटीयसी शक्ति मयेति व्यपदिश्येत। य एनां तत्त्वतो वेत्ति स निश्चयेन मृत्युं पाप्मानं च तीर्त्वाऽमृतो भवतीति वेदेऽभिहितम्—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

य एतां मायाशक्तिं वेद स मृत्युं जयति ।
स पाप्मानं तरति सोऽमृतत्वमभि गच्छति ॥

देवीभागवतमते तु शक्तिभिन्नं नास्ति किंचित् तत्त्वान्तरम् । स्वयमेव सा निगदति—

अहमेवासं पूर्वं तु नान्यत् किंचिन्नराधिप ।
तदात्मस्वरूपं संवित् परब्रह्मैक नामकम् ॥
अप्रतर्क्यमनिर्देश्यमनौपम्यमनामयम् ।
तस्य काचित् स्वतः सिद्धा शक्तिर्मायेति विश्रुता ॥ – ७-३२

ब्रह्मज्ञाने समुत्पन्ने सति विलीनत्वान्न मायाया नित्यत्वं सम्भवति । तस्या असत्त्वमपि न क्षोदक्षमम् । व्यावहारिक सत्ताया विरोधत्वात् । आलोकान्धकारयोः सहानवस्थानमिव सदसदुभय भावात्मकत्वमपि तस्या न सम्भवति । इत्थं कोटित्रय रहितत्वान्मायाया अनिर्वचनीयत्वमंगी क्रियते ।

परमात्मन इच्छारुपिण्येषा माया न कदाचिदपि ततोऽसहभावं भजते । भगवान् स्वयमङ्गीकरोति यत् वन्हेरुष्णतेव, सूर्यस्य रश्मिरिव, चन्द्रस्य च चन्द्रिकेव मम माया सहजा मे नित्यशक्तिर्विद्यते । तया विना शिवोऽपि शव एव ।

पावकस्योष्णतेवेयमुष्णांशोरिव दीधितिः ।
चन्द्रस्य चन्द्रिकेवेयं ममेयं सहजाध्रुवा ॥
—देवी भागवत ७–५

केचित्पण्डिता तां मायां तप इति वदन्ति, केचित् तमः, अपरे प्रधानं, अन्येऽज्ञानम्, शाक्ताः प्रकृतिं शैवाश्च विमर्श इति कथयन्ति । दुर्गासप्तशतीमतेन तु दयाक्षमा क्षान्ति कान्ति बुद्धि– तृष्णा निद्रादीनि सर्वाणि रूपाणि तस्याः शक्तेरेव रूपाणि सन्ति ।

वेदेऽपि शक्तेः प्राधान्यं स्वीकृतम् ।
ऋग्वेदस्य देवी सूक्ते स्वयं देवी कथयति—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यह—
मादित्यैरुत विश्वदेवैः ।
अहं मित्रावरुणोभा विभर्म्य-
हमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा ॥—१०/१०/१२५

अहमेवैका एकादशरुद्रैरष्टभिश्च वसुभिः सह चरामि । द्वादशादित्यरूपेण निखिलविश्वेदेवरूपैश्चापि अहमेव लोकत्रये व्याप्ता । मित्रावरुणौ इन्द्राग्नी चाहमेव दधामि । अश्विनौ चाप्यहमेव धारयामि" ।

इयमेव शक्तिः कालरात्रि मोहरात्रिर्बोध रात्रिश्चापि विद्यते । राति ददाति भक्तेभ्योऽभीष्टमिति रात्रिः । इयमेव जीवरात्रिरीश्वर रात्रिश्च । जीवरात्रिः सुषुप्ति रूपा यस्यां प्रत्यहं जीवानां व्यवहारो लीनो भवति । ईश्वर रात्रिश्च ब्रह्ममयात्मिका यत्र प्राकृतलय काले ईश्वरस्य व्यवहारो लुप्तो जायते । तयोरधिष्ठात्री भुवनेशी देवी आद्याशक्तिरूपेणेयमेव प्रसिद्धा वेदे । तदुक्तं देवीपुराणे—

ब्रह्ममयात्मिका रात्रिः परमेश्वरलयात्मिका ।
तदधिष्ठात्री देवी तु भुवनेशी प्रकीर्तिता ॥

इयमेव शक्तिर्लोके श्रीनाम्ना लक्ष्मीनाम्नाऽपि च प्रसिद्धा । या लक्ष्यते जनैः सा लक्ष्मीः । या शीर्यते सा श्रीः । हिरण्यगो अश्वादयः श्री रस्मादेव कारणात् कथ्यन्ते । तदेवोक्तं ऋग्वेदे श्रीसूक्ते—

हिरण्यवर्णा हारिणी सुवर्णरजतस्रजाम् ।
चन्द्रां हिरण्मयीं लक्ष्मीं जातवेदो म आवह ॥

धनधान्यारोग्य सौन्दर्यदिविवृद्धये साधकाः श्रीदेवीरूपां शक्तिं यज्ञाद्यनुष्ठानेनाराधयन्ति—इति प्रतिपादितं प्रतिवेदम्—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीसूक्तं प्रतिवेदञ्च ज्ञेयं लक्ष्मी विवर्धनम् ।
हिरण्यवर्णा हरिणीमृच: पञ्चदश श्रिय: ।।
श्रियं धातर्मयि धेहि प्रोक्तमाथर्वणे तथा ।
श्री सूक्तं यो जपेद् भक्त्या हुत्वा श्रीस्तस्य वै भवेत् ।।

—अग्नि पुराण २६३/१–३

वैदान्तिका स्तान्त्रिकाश्चोभावेव शक्तिवादं स्वीकुरुत: किन्तु स्वल्पमतभेदेन सह। वैदान्तिका: कथयन्ति अव्यक्तात्मिका परमेशस्य चित्स्वरूपा शक्ति: माया जडा च विद्यते। सैवैका जगत उपादान कारणं ब्रह्मविवर्त कारणं चेति। सा मायाशक्ति मिथ्या जडा च। मायाया: परिणामत्वेनेदं जगदपि मिथ्यैव जडं चापि वर्तते। जडाऽपि सा शक्तिश्चिदात्म–सान्निध्यात् पङ्ग्वन्धन्यायेन चिन्मयत्वमवाप्नोति।

तान्त्रिकास्तु व्याहरन्ति यत् पर ब्रह्मणि स्थिता शक्ति र्न जडा भवितुमर्हति किन्तु पर-ब्रह्मणोऽनतिरिक्ता चिद्रूपैव। एषा शक्ति-रनन्त रूपा व्यापका चास्ति। निखिलेऽस्मिन ब्रह्माण्डे यावत्य: शक्तयस्ता: सर्वा एव चिच्छक्तेरन्तभूर्ता।" पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते इति श्रुतिरपि शक्तेरनन्ततां स्वीकरोति। जगदिदं चिच्छक्तेरेव परिणाम:। अत एव चिदात्मकमिदं विश्वं न जडम्।

चितिरूपेण या कृत्स्न
मेतद् व्याप्य स्थिता जगत्।"
"अहमेवैका जगत्यत्र
द्वितीया का ममापरा।"
पश्यैता मूर्ख मय्येव
विशन्ति मद्विभूतय:।"—दुर्गासप्तशती

इति स्मृतिरपि परमेश्वर तच्छक्त्योरनतिरेकं घोषयति।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कालिदासोऽष्टमूर्तिव्याजेन जगदिदं चिच्छक्तेरुल्लासमेव वर्णितवान् । स स्तौति यत् जलम्, अग्निः, अग्निहोत्री, सूर्यचन्द्रौ, आकाशः पृथ्वी वायुश्चेति प्रत्यक्षा एता अष्टमूर्तयः शिवस्य देहभूतास्तदभिन्नाः शक्तय एव सन्ति । यथोक्त शाकुन्तले—

या सृष्टिः स्रष्टु राद्या, वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री ।
ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषय गुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम् ।
यामाहुः सर्व बीज प्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः ।
प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः ।।

इत्थं सर्वं खल्विदं जगत् परमेश्वरस्य शक्तेरेव विकासः । तस्मात् जगदपि सत्यमेव । तस्मात् शक्तिवाद सिद्धान्तः श्रुति स्मृति पुराण सम्मतमेवेति शम् ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वक्रोक्तिविभावनायां कुन्तकस्य स्वातन्त्र्यम्

श्री राधानाथ आचार्यः एम०ए०, एम.फिल, बि. एड्.,
काव्यव्याकरणपुराणतीर्थः
अध्यापकः, कृष्णचन्द्र महाविद्यालयः, वीरभूमिः पश्चिमवङ्गः

आनन्दवर्धनादर्वाचः काव्यतत्त्वसमीक्षकाः काव्यतत्त्वसमीक्षासरणौ तमेवाचार्यप्रवरं प्रायेणानुसृत्य काव्येध्वन्यर्थस्यैव सर्वातिशायिप्राधान्यं समभ्युपगम्य तद्दृष्ट्या काव्यतत्त्वस्य विविधा दिशः स्वेषां स्वेषां कृतिषु समीक्षितवन्तः। एतेषु काव्यप्रकाशरचयिता मम्मटभट्टः साहित्यदर्पणनिर्माता विश्वनाथकविराजो रसगङ्गाधरनिबन्धकः पण्डितराजो जगन्नाथश्च विशेषतः समुल्लेखमर्हन्ति। एवं काव्यमीमाँसामार्गे ध्वनेर्निर्विवाद प्राधान्ये प्रतिष्ठापितेऽपि नवीनप्रतिभाप्रभोद्भासिताः केचन काव्यमीमाँसका-अभिनवेन पथा काव्यतत्त्वं व्याख्यातुं प्रायतन्तः तेष्वपि केचन महिमभट्टादयो ध्वनितत्त्वमेव व्याहन्तुं व्यवसितमतयोऽपरे पुनः कुन्तकादयो ध्वनितत्त्वमप्रत्यक्षविषयोररीकृत्यापि स्वोपज्ञतत्त्वान्तरेण काव्यस्वरूपं विचारयितुं प्रवृत्ताः परिलक्ष्यन्ते। एवमानन्दवर्धनादुत्तरकालिकी काव्यचिन्ता त्रिधा विभक्ता-ध्वनितत्त्वानुसारिणी ध्वनितत्त्वाविरोधिनी तत्त्वान्तरोद्भाविनी च। तत्त्वान्तरोद्भावकेषु आलङ्कारिकेषु कुन्तकोऽन्यतमः। तेन काव्यस्य लक्षणमेवं विहितम्—

"शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि॥

अस्यायमाशयः - शब्दार्थयोः साहित्यं वक्रतायुक्तायां रचनायां सन्निवेशितं काव्यज्ञानामाह्लाददायकं भवति चेत्तर्हि तत् काव्यं भवेत्। कुन्तकेन काव्यचिन्तायां वक्रोक्तेरुपरि विशेषतः गौरवं समारोपितम्। परन्तु इमां वक्रोक्तिचिन्तां भामहादारभ्य कुन्तकपूर्ववर्तिनमानन्दवर्धनं यावत् सर्वे आलङ्कारिकाः प्रत्यक्षतः परोक्षतो वा साहित्यमीमांसाशास्त्रे समालोचितवन्तः।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथाहि वक्रोक्तिविषये भामहस्य भावना सारत एवं भवति-अतिशयोक्त्यपरपर्यायो वक्रोक्ति र्यथा काव्यत्व-सम्पादनविधावपरिहार्य्यतोपेक्षितानामलंकाराणामुपजीव्यभूता तथा सर्वेषामेव कविकर्मणामेकान्तत आधारभूता। वक्रोक्तेः स्वरूपानुध्याने भामहस्यासीद् व्याप्तिमती दृष्टिरिति निश्चप्रचं विभावयितुं शक्यते। दण्डिनः काव्यादर्शग्रन्थे प्रतिपादिता वक्रोक्ति र्यद्यपि भामहनिरूपिताया वक्रोक्तेः किञ्चिदिव सकुञ्चत्स्वरूपा तथापि तत्रास्ति नितरां व्याप्तिमत्ता। एतेनाचार्य्येण स्वभावोक्तिवक्रोक्तिभेदेन कविवाङ्मयस्य द्वैरूप्यं निगदितम्। अतः स्वभावोक्ति-व्यतिरिक्तानां सर्वेषामेव कविवाचामियमुपजीव्यभूतेति तात्पर्यतोऽवगम्यते। आचार्य्येणानेन यद्यपि प्रत्यक्षविधयातिशयोक्ति-वक्रोक्त्योरभिन्नता न प्रतिपादिता तथापि भामहाभिमतं तयो रभिन्नत्वं दण्डिनोऽप्यभिमतमासीदिति प्रतीयते। यतो भामहेनेवानेनापि तावदतिशयोक्तेः सर्वालंकाराश्रयत्वं स्वकण्ठत एव समीरित तथा वक्रोक्तेः स्वभावोक्तिभिन्नानां निखिलाना कविवचसामालम्बतत्वं व्यवस्थापितम्। तदयं निर्गलितार्थः समासाद्यते यद् भामहदण्डिनौ दावेव लोकविलक्षणया वाग्भङ्ग्या समीरितामुक्तिमेव वक्रोक्तिं मन्येते। उभयोरेतयोर्मतेऽलंकारान्तराणामियमेवाश्रयभूताः परन्तु दण्डिना वक्रोक्तितः स्वभावोक्तिः पृथक्कृता भामहेन न तथा कृता। वामनस्य काव्यालंकारसूत्रवृत्तिग्रन्थे वक्रोक्तेः स्वरूपं दण्डिनो ग्रन्थादपि समधिकतया व्याप्तिविरहितं विभाति। वामनेनेयं वाच्यालंकारविशेषरूपेण परिगणिता। तथाहि सामीप्य-सादृश्य-समवाय-वैपरीत्य-क्रियायोगरूपनिमित्तप्रभेद भिन्नासु लक्षणासु सादृश्यनिबन्धना लक्षणैव वक्रोक्तिरिति वामनस्य मतम्। एवं भामहेनोद्भावितं व्याप्तियुक्तं महनीयं वक्रोक्तिस्वरूपं दण्डिनो दृष्टौ किञ्चित् नियन्त्रितं वामनस्यापेक्षायां ततोऽप्यधिकं नियन्त्रितं सदन्तिमे रुद्रटस्य समीक्षायां नियन्त्रणस्य चरमसीमानमारूढं शब्दालंकारविशेषरूपेणैव परिणतिमलभत। तथाहि श्लेषवशात् काकुवशाद् वा यदा वक्तुर्वाक्यं वोद्धान्यथावगम्यते तदा वक्रोक्तिर्जायते इति रुद्रटस्याभिमतम्। आनन्दवर्धनविरचितस्य ध्वन्यालोकग्रन्थस्य द्वितीयोद्योते वक्रोक्तेरर्थालंकारविशेषरूपेण समुल्लेखमात्रं परिप्राप्यते। परन्तु तृतीयोद्योते पुनरेकत्र वक्रोक्तेः सर्वव्यापि सामान्यस्वरूपविषये तावदानन्दवर्धनस्य भावना नयनयोरापतति।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ह्यानन्दवर्धनेन भामहनिरूपितस्य वक्रोक्त्यतिशयोक्त्योरभेदं स्वीकृत्य तस्याः सर्वालंकार-जीवितायमानत्वं सयुक्तिकं प्रतिपादितम् । तस्याश्च कविप्रतिभा–निष्पाद्यत्वमपि तेन समीरितम् ।

भामहेन समुद्भावितां व्याप्तिमतीं वक्रोक्तिभावनामवलम्ब्यैव प्रवर्तिता कुन्तकस्य वक्रोक्तिसमीक्षेति काव्यतत्त्वगवेषणपराणां विदुषामभिमतम् । भामहस्य वक्रोक्तिभावनां कुन्तकस्तथा प्रकर्षसीमानं नीतवान् यथा सैव वक्रोक्तिस्तदीये काव्यमीमंसाध्वनि काव्यजीवित–भूततां गता सर्वेषामेव काव्यसौन्दर्याणां मौलतत्त्वरूपेण परिगणिताभवत् । विविधेषु प्रसङ्गेषु प्रकारैर्नैकविधैर्व्याख्यातं कुन्तकेन वक्रोक्तेस्तात्पर्यम् । तथाहि विद्यमानेष्वपि प्राचीनेष्वलंकारनिबन्धेषु नवीनस्यालंकारनिबन्धस्य विरचन–प्रयोजनं समर्थयता कुन्तकेनोक्तम्—

"लोकोत्तरचमत्कारकारिवैचित्र्यसिद्धये ।
काव्यस्यायमलंकारः कोऽप्यपूर्वो विधीयते ॥"

विचारविश्लेषणादिभिर्वक्रोक्तेः सिद्धिरेव ग्रन्थस्यास्य परं प्रयोजनमिति सुप्रतीतमेव सैव वक्रोक्तिरत्र कारिकायां लोकोत्तरचमत्कार कारिवैचित्र्यरुपेण कथितेति प्रतिभाति अन्यत्रापि कुन्तकेन विचित्राभिधा वक्रोक्तिरित्युक्तम् । अपि च वक्रोक्तिरियं शास्त्रा–दिप्रसिद्धशब्दार्थोपनिबन्धव्यतिरेकितया सामान्यतः प्रसिद्धप्रस्थान-व्यतिरेकितया अतिक्रान्त प्रसिद्धव्यवहारसरणितया च प्रतिपादिता । तथाहि शास्त्रेषु प्रात्यहिकजीवनेषु च प्रयुक्तायां भाषायां दुर्लभँ कवीनां प्रातिभसृष्टौ चातिसुलभं वैचित्र्यमेव वक्रोक्तिरिति कुन्तकस्याभिमतमनुमातव्यम् । उत्तरकालिकेन महिमभट्टेन वक्रोक्तेरिदं स्वरूपं स्पष्टीकुर्वतोक्तम्–शास्त्रादिप्रसिद्धशब्दार्थोपनिबन्धव्यतिरेकि यद्वैचित्र्यं तन्मात्रलक्षणं वक्रत्वं नाम काव्यस्य जीवितमिति । अपिच–

"प्रसिद्धमार्गमुत्सृज्य यत्र वैचित्र्सिद्धये ।
अन्यथैवोच्यते सोऽर्थः सा वक्रोक्ति रुदाहृता ॥"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुन्तकेन पुनरेकत्र वैदग्ध्यभङ्गीभणितिर्वक्रोक्तिरित्युक्तम् । तच्च व्याख्यातमेवं वृत्तौ–वैदग्ध्यं विदग्धभावः कविकर्मकौशलं तस्य भङ्गी विच्छित्तिः तया भणितिः । एतेन व्याख्यानेन कविप्रतिभासमुदितया विच्छित्त्या कथनमेव वक्रोक्तिरिति । व्याख्यानाद–स्मात् कविप्रतिभैव कविकर्मण उत्सभूतेति परिप्राप्यते । निरुक्तेभ्यः कुन्तकस्योक्तिभ्यो वक्रोक्तेः स्वरुपमेवं पर्य्यवस्यति–कविप्रतिभातः समुत्पन्ना लोकशास्त्रादिप्रसिद्धप्रस्थानव्यतिरेकिणी लोकोत्तरचमत्कार–कारिणी काव्यजीवितभूता वक्रोक्ति : ।

कविप्रतिभाया आनन्त्यवशाद् यद्यपि वक्रताया : प्रकारभेदा वहवः सम्भवन्ति तथापि प्राधान्येन तस्य षड्विधस्य कुन्तकेन निगदितम्–वर्णविन्यासवक्रता, पदपूर्वार्धवक्रता, पदपरार्धवक्रता, वाक्यवक्रता प्रकरणवक्रता प्रवन्धवक्रता चेति ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यञ्जना

डॉ० महावीर अग्रवाल
रीडर संस्कृत विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

व्यञ्जनाया ध्वनिसिद्धान्ते तादृगेव महत्वं यादृग् वेदान्ते मायायाः सांख्यदर्शने प्रकृत्याः व्याकरणदर्शने च परावाण्याः । नैयायिक–मीमांसकादि शास्त्रकारानुमोदिताभ्याम् अभिधालक्षणाभ्यां भिन्ना विलक्षणा व्यञ्जनानाम्नी वृत्तिर्ध्वनि प्रस्थानानुगामिभिरानन्दवर्धनमम्मट प्रभृतिभिराचार्यैरभ्युपगतेति सुविदितमेव विपश्चिताम् । प्राचीनैः शाब्दिकैर्मीमांसकै स्तार्किकैश्चानुल्लिखितचरा–मिमामानन्दवर्धन प्रतिपादितां वृत्तिमवलम्ब्य महान् मतिभेद : प्रावर्तिष्ट शास्त्रज्ञेषु विद्वत्सु । तथाहि अभिधा तात्पर्यलक्षणेति वृत्तित्रय्यां जाग्रत्यां किमनयाश्रुतचरया ध्वनिवादिकपोलकल्पितया शास्त्रकारासम्मतया वृत्त्येति कठोरः प्रत्यादेशः समारब्धो व्यञ्जनाया न केवलं शाब्दिकानाँ मीमांसकानां तार्किकानामेव गोष्ठीष्वपि साहित्य शास्त्रज्ञानां मण्डलीष्वपि । तत्र शब्दाद्यावानर्थो लभ्यते तत्र अभिधालक्षणान्यतररुपैव वृत्तिः प्रगल्भत इति वृत्तिद्वय महताग्रहेणातिष्ठामाना मीमांसकास्तार्किकाश्च व्यञ्जनां सर्वथा निराकुर्वन्ति भवेद्यदि व्यञ्जना तदा अस्या अनयोर्द्वयोरेवान्तर्भावं सिद्धान्तयन्ति । इमां पद्धतिमेषपंक्तिवदनुसरन्त आलङ्कारिका अप्यानन्दवर्धन व्यवस्थापितमिमं नवं शब्द–व्यापारं प्रत्याख्यातवन्तः । मुकुलभट्ट-भट्टनायक–महिम भट्ट–प्रतिहारेन्दुराज भोजराज–धनिक–धनञ्जयप्रभृतयः साहित्य शास्त्रविचक्षणा आचार्या अपि गतानुगतिकतया अभिधया तात्पर्येणानुमानेन वा व्यञ्जनामुत्पाटयन्ति । एवमस्याः प्रतिष्ठापयितुरानन्दवर्धनस्य समयादेव प्रावर्तत व्यञ्जनायाः प्रत्यादेशः ।

परं व्यञ्जनाप्राणायाः अभिव्यक्तेर्विचारो न केवलमानन्दवर्धनेनैव प्रथमं निर्दिष्टः प्रत्युतास्य मूलं वेदेषु, यास्कप्रणीते निरुक्ते, प्राचीनेषु दर्शन ग्रन्थेष्वपि लक्षयितुं शक्यम् । तदेव समासतोऽत्र प्रस्तूयते—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऋग्वेदे— ऋचां द्रष्टा ऋषिर्व्यञ्जना प्राणायितं रहस्यमिमं जानाति यच्छब्दानां प्रचलितादर्थादतिरिक्तोऽपि कश्चन रमणीयोऽर्थो भवति यं वाग्विदोऽवगच्छन्ति। साधारणा जनास्तु गूढं तमर्थं पश्यन्तोऽपि न पश्यन्ति, श्रृण्वन्तोऽपि न श्रृण्वन्ति परं तत्त्वज्ञास्तु प्रछन्नमर्थं द्रष्टुं प्रभवन्ति।

उतत्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः श्रृण्वन्न श्रृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः॥

ऋ० १०-७१-४

अनेनेदं स्पष्टं भवति यद् वाचि कश्चनार्थः पिहितो भवति योऽसौ प्रचलितादर्थात् सुतरां रमणीयो भवति। किंच ऋग्वेदस्य—

चित्रैरञ्जिभिर्वपुषे व्यञ्जते वक्षःसु रुक्मां अधि येतिरे शुभे।
अंसेष्वेषां नि मिमृक्षुर्ऋष्टयः साकं जज्ञिरे स्वधया दिवो नरः॥

ऋ० १-६४-४

अस्मिन् मन्त्रे 'व्यञ्जते' इत्यत्र अभिव्यक्तिप्राणाया ध्वनिवादिनां व्यञ्जनाया मूलमन्वेष्टुं शक्यम्, यतो हि अत्र व्यञ्जते पदमृषिणा व्यक्तं कुर्वन्तीत्यर्थे प्रयुक्तम् क्तमेव—

व्यञ्जते दिवो अन्तेष्वक्तून् विशो न युक्ता उषसो यतन्ते।
सं ते गावस्तम आ वर्तयन्ति ज्योतिर्यच्छन्ति सवितेव बाहू॥

ऋ० ७-७९-२

इत्यत्रापि व्यञ्जते इति पदं व्यक्तं कुर्वन्तीत्यर्थे प्रयुक्तं दृश्यते।

निरुक्ते— यास्कोमुनिर्निरुक्ते उपसर्गाणामर्थद्योतकताविषये गार्ग्य शाकटायनाचार्ययोर्मतं निर्दिशति— 'न निर्बद्धा उपसर्गा अर्थान्निराहुरिति शाकटायनो नामाख्यात-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

योस्तु कर्मोपसंयोगद्योतका भवन्ति'। अत्र द्योतनपदे व्यञ्जनाया मूलं निहितम्। परतो ध्वनिवादिभिर्द्योतनशब्दो व्यञ्जनापर-पर्यायरुपेण स्वीकृत एव। यथोक्तं मम्मटेन—

तच्च व्यञ्जनध्वननद्योतनादि शब्द वाच्यमवश्यमो षितव्वम्।

अतएव उपसर्गाणाम् अर्थद्योतकतां लक्ष्यीकृत्य नागेश भट्टेन

वैयाकरणानां कृते व्यञ्जना स्वीकार आवश्यकः निगदितः।

महाभाष्य— भगवता पतञ्जलिना व्यञ्नज पदस्याभि व्यक्त्यर्थं बहुशः प्रयोग कृतः। तद्यथा—

तिङभिहितेन भावेन काल पुरुषोपग्रहा अभिव्यज्यन्ते कृदभिहितेन पुनर्न व्यज्यन्ते। अथवा नान्तरेण क्रियां भूतभविष्यद्वर्तमानाः काला व्यज्यन्ते।

वेदान्तदर्शने— वेदान्तदर्शनेऽपि सोऽहमस्मीति प्रतीतिरभिव्यक्तिरेव। मायोपहितं ब्रह्म स्थूलोऽहं विपन्नोऽहमित्याद्यनुभवति। परं मायायां निराकृतायां गूढमद्वैतं शुद्धं ब्रह्माभिव्यक्तं भवति। एवं वेदान्तिनां मोक्षो नोत्पाद्यः परं मायावरण निराकरणे नाभिव्यक्तिरेव स्वरुपस्य। माया ब्रह्मस्वरुपमावृणोति। तदा मायाया आच्छादनमपाक्रियते, तदा तत्त्वमसीति धीर्भवति। एवमाच्छादकापनयनेन स्वस्वरूपज्ञानं सोऽहमस्मत्यभिव्यक्तिरेव गूढस्य स्वस्वरुपस्य। तथा सति गूढस्याभिव्यक्तिरिति व्यञ्जनाजीवातो सूक्ष्मं बीजं वेदान्तदर्शने विभाव्यते।

सांख्यदर्शने— सांख्यदर्शनस्य सत्कार्यवादेऽप्यभि व्यक्ति—विचारो दृश्यते। तत्र कारणस्य कार्यं आविर्भावोऽभिव्यक्तिसहोदर एव। कार्यं कारणे गूढं सन्तिष्ठते। एवं कारणे गूढस्य कार्यस्याविर्भावोऽभिव्यक्तिरेव। तद्यथा मृदि घटो गूढोऽनभिव्यक्तः सन् विद्यते। परं कुम्भकारेण घटे चिकीर्षिते सति मृद्यव्यक्तो घटः कारणावस्थायां पिहितः कार्या

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वस्थायामाविर्भूय घटो भवति, जलानयनाद्यनेक कार्येषु चोपयुज्यते । एवं कारणात्मनो मृदः कार्यावस्थायां याभिव्यक्ति रसावेव घटः ।

अनेन प्रकारेण सांख्यदर्शन शास्त्रानुमते सत्कार्यवादेऽप्यभिव्यक्ति विचारावालोकनेन व्यञ्जनाया सूक्ष्मातिसूक्ष्मं रुपँ साख्यदर्शनेऽपि सम्भाव्यते ।

इत्थं प्राचीनेषु ग्रन्थेषु व्यञ्जनाया मूलं दृश्यत एव ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

96051

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri